

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणान्तर्भूता

बृहदारण्यकोपनिषत्

भाग १ - मधुकाण्डम्

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

(पारायण संस्करण)





'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

ॐ

कैलास आश्रम ऋषिकेश में संस्थापित



श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वर महादेव



भगवान् आदि शङ्कराचार्य भगवत्पाद

शाङ्करी परम्परा के उपासक श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश की संस्थापना सन् १८८० में स्वनामधन्य श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी धनराज गिरि जी महाराज (आद्य महाराज श्री) ने की थी। स्वप्न में मिले भगवदादेश के अनुसार आद्य महाराज श्री ने कनखल हरिद्वार से महादेव के सुन्दर बाण को कैलास आश्रम में माघ शु. ७ वि. सं. १९५३ (सन् १८९७) में प्रतिष्ठित किया। इनको अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव की संज्ञा आद्यमहाराजश्री ने दी और इनके ही सन्मुख बैठकर एवं इन्हीं को मुख्य श्रोता मानकर नित्य वेदान्त स्वाध्याय प्रवचन करने लगे। जो नियम आज तक वैसे ही परवर्ती आचार्य निभाते आ रहे हैं। भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर की प्रतिष्ठा के सात वर्ष बाद श्री आद्य शङ्कराचार्य भगवत्पाद की संस्थापना उनके चार शिष्यों सहित कैलास आश्रम में माघ शु. त्रयोदशी वि. सं. १९६० (सन् १९०४) में हुई। इस दिन प्रतिवर्ष कैलास आश्रम वार्षिकोत्सव के अन्तर्गत कैलास मेला लगता है।

कैलास आश्रम में प्रतिदिन प्रातःकाल की आरती पुष्पांजलि मुख्यरूप से आचार्य शंकर भगवत्पाद को समर्पित की जाती है। अतएव प्रातःकाल श्री कैलासपीठाधीश्वर एवं सन्तगण श्रीआदिशङ्कराचार्य के सन्मुख खड़े होकर आरती करते हैं। सायंकाल की आरती नीराजनादि श्री अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव को मुख्य मान कर होती है।

श्री अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव की प्रतिष्ठा शताब्दी सन् १९९७ में बड़ी धूम-धाम से मनाई गई। सन् २००४ में आद्यशङ्कराचार्य जी महाराज की प्रतिष्ठा शताब्दी **गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** के अन्तर्गत परम उल्लासपूर्वक मनाने की योजना बन रही है। इस प्रसंग पर समस्त शांकर साहित्य का सात दिनों का अखण्ड पारायण कराने का संकल्प श्री दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज का है।



।।श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टषष्ठितमः (६८) सोपानः

शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणान्तर्भूता

बृहदारण्यकोपनिषत्

(भाग १ - मधुकाण्डम्)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

(पारायण संस्करण)



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

ॐ

प्रकाशक :- दूरभाष :

श्री कैलास विद्या प्रकाशन, ०१३५–४३०५९८

कैलास गेट, हृषीकेश (उ० प्र०)

प्रसंग : गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी सङ्गम।

सौजन्य : भक्त श्रीदेसराज जी चानना एवं माता श्री वीराँवाली चानना के सुपुत्र श्रीमान् नरेन्द्र चानना, पुत्रवधू श्रीमती नीरजा चानना, पौत्र चि० मनीष एवं आशीष चानना, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली।

बृहदारण्यकोपनिषत् भाग-१ मधुकाण्डम्

प्रथमावृत्ति ३000 वि० सम्वत् २०५७ सन् २०००

मूल्यं : २०० रूप्यकाणि

ग्रन्थप्राप्तिस्थानानि —

१. श्री कैलास आश्रम, कैलास गेट, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उज्जेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
७. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
८. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
९. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
१०. नर्मदा सत्संग आश्रम, सिक्नीमालवा, होशंगाबाद

मुद्रक :— नाथ प्रिंटर्ज, जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९, ३६१९१७०

लेज़र कम्पोज़िंग : - आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स, जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ✦ दूरभाष : ५५२३००६

ॐ

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपासंव :

'सा विद्या या विमुक्तये' के अनुसार मोक्षप्रद ब्रह्मविद्या ही एकमात्र विद्या कोटि में गिणनी चाहिए। अन्य सभी विद्यायें तो पेटभरी विद्यायें हैं। इनसे जीव को शाश्वत सुख शान्ति की प्राप्ति असम्भव है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' से भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्मविद्या को अपनी दिव्य विभूतियों में घोषित किया है। ब्रह्मविद्या का मुख्य स्रोत वेद एवं तदनुकूल शास्त्र हैं। वेद के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद कहते हैं उसी में ब्रह्म के स्वरूप, उसके ज्ञान के साधनों और ब्रह्मज्ञान से होने वाले मोक्ष रूपी फल का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्राचीन काल में यह विद्या गुरु शिष्य परम्परा से जिज्ञासुओं को प्राप्त होती थी। ऋषियों के आश्रमों में ब्रह्मचर्य के पालन पूर्वक वेदाध्ययन द्वारा विद्यार्थी इस विद्या को प्राप्त करते थे। बाद में विशेषकर कलियुग के आरम्भ होने पर कुछ लोगों ने वेद के तात्पर्य (जीव, ब्रह्म एकता) को न समझकर केवल कर्मकाण्ड में अपने आपको फंसा लिया। इससे भी नीचे उतरकर कुछ लोगों ने पशु हिंसादिपूर्वक यज्ञ कर मांस भक्षण आदि दुर्व्यसनों का सेवन प्रारम्भ कर दिया और इसी को धर्म मानकर अपनी अधोगति को ही न्यौता दिया। उस काल के हिंसा रूपी अधर्म को समाप्त करने के लिये भगवान् बुद्ध ने अवतार लिया और अहिंसा की पुनः प्रतिष्ठा की। इसके लिये उन्हें वेदों के विरुद्ध भी प्रचार करना पड़ा। बुद्ध काल से १२०० वर्ष बाद वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के लिये भगवान् शङ्कर ने भगवान् शङ्कराचार्य के रूप में अवतार लिया। उन्होंने स्वल्प समय में ही अपनी ज्ञानशक्ति के बल पर अवैदिकों को भारत भूमि से खदेड़ डाला और वेदोक्त ब्रह्मविद्या के सिद्धान्तों को उपनिषदों, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्रों पर अपने भाष्यों में स्पष्ट किया। भारत की चारों दिशाओं में उन्होंने चार मठों की स्थापना की। इससे भारत की अखण्डता एवं सांस्कृतिक एकता के रक्षणार्थ एक स्वस्थ परम्परा की प्रतिष्ठा हुई।

धर्म के सभी आचरणों में भगवान् श्रीआद्यशङ्कराचार्यजी ने जो आदर्श स्थापित किये उन्हीं से शाङ्करी परम्परा का जन्म हुआ। इस परम्परा का अनुसरण कर दशनाम संन्यासी समाज और वैदिक धर्मानुयायी, अपने में गौरव का अनुभव करते थे। काल के प्रभाव से यह परम्परा कुछ क्षीण होती गई। यहाँ तक कि भगवान् शङ्कराचार्यजी द्वारा संस्थापित चार मठों में भी एक शृंगेरी को छोड़कर कुछ शिथिलता आई। इनमें उत्तराम्नाय की स्थिति सबसे चिंताजनक इस लिये हो गई क्योंकि यहाँ आचार्य पीठ काफी समय रिक्त रही। भगवत्कृपा से श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश के आचार्यों ने शांकरी परम्परा को सर्वतोभावेन अपनाया। प्रस्थान त्रयी ग्रन्थों का कैलासाश्रम के स्वाध्याय क्रम में भगवान् शंकराचार्यों के भाष्य, टीका एवं स्वरचित टिप्पणियों के सहित ही पाठ चलता है।

श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश के संस्थापक स्वनाम धन्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी धनराज गिरि जी महाराज अपने आप में एक चल ब्रह्मविद्यापीठ ही थे। सन् १८८० में कैलास आश्रम के प्रथम कक्ष की संस्थापना के साथ इस ब्रह्मविद्यापीठ का अचल स्वरूप

सामने आया और स्वामी जी महाराज ने प्रथम कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर की ख्याति प्राप्त की। आपकी छत्रछाया में हजारों जिज्ञासुओं ने ब्रह्मविद्या का पाठ पढ़ा। उनमें विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द जी, उनके गुरु भ्राता स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी रामतीर्थ जी (राम बादशाह) आदि विभूतियाँ परम उल्लेखनीय हैं।

संस्थापक आचार्यपाद के बाद कैलास ब्रह्मविद्यापीठ पर क्रमशः नौ आचार्य विराजमान हुये। ये सभी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ और शांकरी परम्परा में पूर्ण निष्ठा रखने वाले हुये। वर्तमान दशम पीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने शाङ्करी परम्परा का न केवल निष्ठापूर्वक अनुसरण किया बल्कि उसको सब प्रकार से पुष्ट करने का स्तुत्य सफल प्रयास भी किया। जिसे देखकर संतों और भक्तों ने उनको **शांकरीपरम्परासंपोषकाचार्य** उपाधि से समलंकृत किया। आपके पीठासीन हुये तीस वर्षों के कार्यकाल में कैलास आश्रम से अनेकों ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है, जिन्हें विद्वद् समाज ने बड़े आदरपूर्वक सराहा है। महाराज श्री ने शाङ्कर भाष्य के हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थों का प्रकाशन करवाकर न केवल राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया है अपितु शांकर भाष्य को जनमानस में उतारने के लिये अत्यावश्यक कार्य को संपन्न किया है। भारत या अन्यत्र किसी भी एक प्रकाशक ने इतनी सामग्री के साथ आज तक प्रस्थानत्रयी का प्रकाशन नहीं किया। ऐसे अपूर्व कार्य का सम्पादन कैलासपीठ के दशमाचार्य महाराजश्री ने करके कैलास आश्रम को चिरस्थाई गौरव प्रदान किया है।

श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश से प्रकाशित ग्रन्थावली क्रम में उपनिषदों के पारायण संस्करण प्रकाशन का कार्य आजकल चल रहा है। इसमें अभी तक **ईशादिपञ्चोपनिषदः** एवं **माण्डूक्यादित्रयोपनिषदः** का प्रकाशन तथा लोकापर्ण हो चुका है। प्रस्तुत बृहदारण्यक उपनिषद् के पारायण संस्करण को तीन भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। ये हैं **(१) मधुकाण्ड (२) मुनिकाण्ड और (३) खिलकाण्ड**। संभवतः इस प्रकार काण्ड-विभाग पूर्वक प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ था।

पारायण उपयोगी इस ग्रन्थ में मूलमन्त्र, उस की मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या एवं जगद्गुरु आदि शङ्कराचार्य द्वारा विरचित प्रासादिक शाङ्करभाष्य का समावेश किया गया है। यद्यपि पारायण तो मूलमन्त्र सहित शाङ्करभाष्य का ही आचार्यगण करते हैं। पर संस्कृत भाषा पर समुचित अधिकार न रखने वाले जिज्ञासुओं को मन्त्रार्थावबोध के लिये मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या अत्यन्त उपयोगी होने से उसे देना आवश्यक समझ कर समाविष्ट किया गया है।

नियमतः शाङ्करभाष्य पारायण के कल्पक भी श्री कैलास आश्रम के वर्तमान दशम पीठाधीश्वर जी महाराज ही हैं, जो १ जुलाई १९९८ से प्रतिदिन एक घण्टा शाङ्करभाष्य के पारायण का नियम दृढ़तापूर्वक निभा रहे हैं और आजीवन इस व्रत को निभाने का संकल्प ले चुके हैं। उनका प्रयास है कि न केवल प्रत्येक कैलास आश्रम की शाखाओं में इस प्रकार का दैनिक स्वाध्याय हो, अपितु शाङ्करी परम्परा की सभी संस्थाओं में शाङ्कर साहित्य का दैनिक पारायण हो। सनातन धर्म के जिस संस्थान में वेदपाठ एवं शाङ्कर भाष्य की पावन ध्वनि प्रतिदिन न सुनाई दे, उन संस्थानों के बनाने में जो श्रम हुआ वह सार्थक कदापि नहीं माना जायगा, ऐसा महाराज श्री मानते हैं। इस संदर्भ में

वे गुरुद्वारों की भूरिशः प्रशंसा करते हैं, जहाँ प्रतिदिन सायं प्रातः गुरुवाणी का पाठ बड़ी श्रद्धा एवं लगन से किया जाता है। भगवान् आदि शंकराचार्य जो जगद्गुरु कहलाते हैं और धर्मोद्धारक एवं युगपुरुष की संज्ञा से समलङ्कृत हैं, उनकी कृतियों का पारायण कर हम अपने जीवन में ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित करने के साथ-साथ उन गुरुजनों के असंख्य उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता भी व्यक्त कर सकेंगे। उपरोक्त ग्रन्थों के पारायण संस्करण पारायणानुरक्त साधकों के सौविध्य के लिये ही महाराज श्री प्रकाशित करवा रहे हैं। इन प्रकाशनों में हिन्दीमिताक्षरा के रचयिता महाराज श्री स्वयं ही हैं तथा आद्योपान्त उन्हीं के निर्देशानुसार सभी कार्य हो रहे हैं। एतदर्थ उनके पावन चरणारविन्दों में जितनी कृतज्ञता व्यक्त की जाये, वह थोड़ी ही है।

बृहदारण्यकोपनिषद् पारायण संस्करण के मूलमन्त्र में आये हुये पदों को शांकर भाष्य में मोटे टाईप द्वारा उद्धृत किया गया है। इस प्रकार 'प्रतीक' पदों को उजागर (हाईलाईट) करने का सुझाव कैलास आश्रम के आचार्य श्री धर्मानन्द जी महाराज ने दिया। और भाष्य ग्रन्थ में ब्र. सिद्धार्थ ने 'प्रतीकों' को "हाईलाईट" किया। एतदर्थ हम उन दोनों के बहुत आभारी हैं।

ग्रन्थ बृहत्काय होने से इसके संपादन एवं प्रूफ संशोधन में हमें स्वामी निश्चलानन्द गिरि जी महाराज का अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ। साथ ही स्वामी अभयारण्यजी, ब्र० उत्तमानन्द जी एवं ब्रह्मचारी सिद्धार्थ जी ने भी सराहनीय योगदान किया। हम इन सभी महानुभावों के हृदय से आभारी हैं।

ग्रन्थ प्रकाशन में भक्त श्रीदेशराज जी चानना एवं माता वीराँ वाली चानना दिल्ली के सुपुत्र श्री नरेन्द्र चानना, पुत्रवधु नीरजा चानना, पौत्र चि० मनीष एवं चि० आशीष चानना ने स्वेच्छा से अपनी आर्थिक सेवाएँ समर्पित कीं। उनकी इस निष्काम सेवा में महाराजश्री एवं पूर्वाचार्यों के प्रति उनकी अटूट निष्ठा झलकती है। उनकी जैसी ही भक्ति एवं निष्ठा उनके परिवार में आगे भी बनी रहे, ऐसी भगवान् आशुतोष के चरण कमलों में प्रार्थना है।

इस ग्रन्थ के कम्पोजिंग को कम्प्यूटर द्वारा श्री अरुण कटारिया ने संपन्न किया है और मुद्रण श्रीमान् प्रवेश शर्मा, गिरीश शर्मा जी ने अपनी प्रैस नाथ प्रिंटर्ज में करवाया है। ये सभी महानुभाव महाराज श्री और कैलास आश्रम के भक्त हैं। इन्हें भूरिशः धन्यवाद है।

कैलास आश्रम तथा शाख्याश्रमो में सन् २००४ में <u>गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम महोत्सव</u> होने वाला है जिस की तैयारी अभी से प्रारम्भ हो गयी है। इस त्रिवेणी में प्रथम स्थानीय, कैलास आश्रम ऋषिकेश में भगवान् आदि शंकराचार्य के सुन्दर विग्रह की संस्थाना को १०० वर्ष पूर्ण होंगे। दूसरे, कैलास के अष्टम पीठाचार्य परमपूज्य शास्त्री जी महाराज के जन्म के १०० वर्ष पूर्ण होंगे और तीसरे महाराजश्री के गुरुदेव परमहंस परमपूज्य स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज की भी जन्म शताब्दी उसी समय होगी। इस पावन प्रसंग के उपलक्ष्य में इस ग्रंथ का प्रकाशन उन गुरुजनों के पवित्र पादपद्मों में अत्यन्त शोभनीय श्रद्धाञ्जलि होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

महाशिवरात्रि
वि. सं. २०५६

गुरुपादानुरागी
स्वर्ण लाल तुली

बृ.उ. ~~सर्वाम्नाय परिशोधिनी~~. / वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्.
{साधु विष खाय कर जाय. साधु न बान्धे डेरा.
कहे गिरधर कविराय कहा एक बात मानो हमारा॥

बृहदारण्यकोपनिषत् – मधुकाण्डम्

आयुर्विद्या कर्म वित्तं च निधनम् गर्भस्थस्य देहिनः निश्चितम्

आह्निक-प्रदीपिका

एकनाथ गंगोत्रीसे जल लाकर पण्डपम् में गधा को पिलाया
रामेश्वर भगवान वहीं प्रकट होगये॥

उपक्रम उपसंहार: आत्मेत्येवोपासीत 1-4-7 आत्मानमेव लोकं उपासीत 1-4-15.
अभ्यास: तदेतद् पदनीयं अस्य सर्वस्य यदयं आत्मा 1-4-7; 1-4-8. अहं ब्रह्मास्मि 1-4-10
अपूर्वता: तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते 1-4-9

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

बृहदारण्यकोपनिषत्

शुक्लयजुर्वेदीय काण्वशाखा. शतपथ ब्राह्मण

फल: य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मि इति स इदं सर्वं भवति 1-4-10.
अर्थवाद: तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते 1-4-10.
उपपत्ति स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः 1-4-7.

अथ मधुकाण्डम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

*** मधुकाण्डे

अश्वमेधनामप्रथमं ब्राह्मणम्।

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलिततशाङ्करभाष्यसमेता।

*****

।अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्।

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः।

"उषा वा अश्वस्य" इत्येवमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये।

सेयं ब्रह्मविद्योपनिषच्छब्दवाच्या, तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। तादर्थ्याद्ग्रन्थोऽप्युपनिषदुच्यते।

सेयं षडध्याय्यरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम्। बृहत्त्वात्परिमाणतो बृहदारण्यकम्। तस्यास्य कर्मकाण्डेन संबन्धोऽभिधीयते।

सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्।

दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वान्नाऽऽगमान्वेषणा। न चासति जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात्। स्वभाववादिदर्शनात्।

तस्माज्जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते। "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्युपक्रम्यास्तीत्येवोपलब्धव्य इत्येवमादिनिर्णयदर्शनात् "यथा च मरणं प्राप्य" इत्युपक्रम्य —

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

अंग वंग कलिंगेषु मगध सौराष्ट्रे च।
विनायात्रां यदि गच्छेत पुनःसंस्कारमर्हति॥

अनधिगत अबाधित अर्थबोधकत्वं प्रमाणम्

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥" कठ 5-7.

इति च "स्वयं ज्योतिः" इत्युपक्रम्य "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इति च "ज्ञपयिष्यामि" इत्युपक्रम्य "विज्ञानमयः" इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम्।

तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेत्। न, वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात्। न हि देहान्तरसंबन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धाश्च नः प्रतिकूलाः स्युर्नास्त्यात्मेति वदन्तः। न हि घटादौ प्रत्यक्षविषये कश्चिद्विप्रतिपद्यते, नास्ति घट इति।

स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शनान्नेति चेत्। न, निरूपितेऽभावात्। न हि प्रत्यक्षेण निरूपिते स्थाण्वादौ विप्रतिपत्तिर्भवति। वैनाशिकास्त्वहमितिप्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्वमेव प्रतिजानते।

तस्मात्प्रत्यक्षविषयवैलक्षण्यात्प्रत्यक्षान्नाऽऽत्मास्तित्वसिद्धिः। तथाऽनुमानादपि। श्रुत्याऽऽत्मास्तित्वे लिङ्गस्य दर्शितत्वाल्लिङ्गस्य च प्रत्यक्षविषयत्वान्नेति चेत्। न। जन्मान्तरसंबन्धस्याग्रहणात्। आगमेन त्वात्मास्तित्वेऽवगते वेदप्रदर्शितलौकिकलिङ्ग-विशेषैश्च तदनुसारिणो मीमांसकास्तार्किकाश्चाहंप्रत्ययं लिङ्गानि च वैदिकान्येव स्वमतिप्रभवानीति कल्पयन्तो वदन्ति प्रत्यक्षश्चानुमेयश्चाऽऽत्मेति।

सर्वथाऽप्यस्त्यात्मा देहान्तरसंबन्धीत्येवं प्रतिपत्तुर्देहान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरि-हारोपायविशेषार्थिनस्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम्। न त्वात्मन इष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारेच्छाकारणमात्मविषयमज्ञानं कर्तृभोक्तृस्वरूपाभिमानलक्षणं तद्विपरीतब्रह्मात्म-स्वरूपविज्ञानेनापनीतम्। यावद्धि तन्नापनीयते तावदयं कर्मफलरागद्वेषादिस्वाभाविक-दोषप्रयुक्तः शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेणापि प्रवर्तमानो मनोवाक्कायैर्दृष्टादृष्टानिष्ट-साधनान्यधर्मसंज्ञकानि कर्माण्युपचिनोति बाहुल्येन, स्वाभाविकदोषबलीयस्त्वात्। ततः स्थावरान्ताधोगतिः।

कदाचिच्छास्त्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम्। ततो मनआदिभिरिष्टसाधनं बाहुल्येनो-

पचिनोति धर्माख्यम्। तद्द्विविधम्-ज्ञानपूर्वकं केवलं च। तत्र केवलं पितृलोकादि-प्राप्तिफलम्। ज्ञानपूर्वकं देवलोकादिब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम्। तथाच शास्त्रम् ''आत्मयाजी श्रेयान्देवयाजिनः'' इत्यादि। स्मृतिश्च ''द्विविधं कर्म वैदिकम्'' इत्याद्या। साम्ये च धर्माधर्मयोर्मनुष्यत्वप्राप्तिः। एवं ब्रह्माद्या स्थावरान्ता स्वाभाविकाविद्यादि-दोषवतो धर्माधर्मसाधनकृता संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रया।

तदेवेदं व्याकृतं साध्यसाधनरूपं जगत्प्रागुत्पत्तेरव्याकृतमासीत्। स एष बीजाङ्कुरादिवदविद्याकृतः संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणोऽनादिरनन्तोऽनर्थ इत्येतस्माद्विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये तद्विपरीतब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदारभ्यते।

अस्य त्वश्वमेधकर्मसंबन्धिनो विज्ञानस्य प्रयोजनं, येषामश्वमेधे नाधिकारस्तेषामस्मादेव विज्ञानात्तत्फलप्राप्तिः। ''विद्यया वा कर्मणा वा'' ''तद्धैतल्लोकजिदेव'' इत्येवमादिश्रुतिभ्यः।

कर्मविषयत्वमेव विज्ञानस्येति चेत्। न। ''योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद'' इति विकल्पश्रुतेः। विद्याप्रकरणे चाऽऽम्नानात्। कर्मान्तरे च संपादनदर्शनाद्विज्ञानात्तत्फलप्राप्तिरस्तीत्यवगम्यते। सर्वेषां च कर्मणां परं कर्माश्वमेधः। समष्टि-व्यष्टिप्राप्तिफलत्वात्।

तस्य चेह ब्रह्मविद्याप्रारम्भे आम्नानं सर्वकर्मणां संसारविषयत्वप्रदर्शनार्थम्। तथाच दर्शयिष्यति फलमशनायामृत्युभावम्।

न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेत्। न। सर्वकर्मफलोपसंहारश्रुतेः। सर्वं हि पत्नीसंबद्धं कर्म। ''जाया मे स्यादेतावान्वै कामः'' इति निसर्गत एव सर्वकर्मणां काम्यत्वं दर्शयित्वा पुत्रकर्मापरविद्यानां च ''अयं लोकः पितृलोको देवलोकः'' इति फलं दर्शयित्वा त्र्यन्नात्मकतां चान्त उपसंहरिष्यति ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'' इति। सर्वकर्मणां फलं व्याकृतं संसार एवेति।

इदमेव त्रयं प्रागुत्पत्तेस्तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तदेव पुनः सर्वप्राणिकर्मवशाद्व्या-

ॐ। उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि, मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि, नभो माꣳसानि। ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च

ॐ यज्ञ सम्बन्धी अश्व का शिरोभाग ब्रह्ममुहूर्त है (नेत्रों का अभिमानी देव) सूर्य उनका नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है (क्योंकि मुख का अधिष्ठातृदेव अग्नि ही है) और यज्ञीय अश्व का आत्मा संवत्सर है, (अश्वस्य मेधस्य, इसकी पुनरुक्ति सबके साथ सम्बन्ध बतलाने के लिये है) ऊँचाई में समानता होने के कारण द्युलोक उसका पृष्ठ है। छिद्ररूपता में समानता होने के कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, चारों दिशाएँ पार्श्व भाग हैं, आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएँ पार्श्वभाग की अस्थियाँ हैं, संवत्सर के अवयव होने से ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्धमास

क्रियते बीजादिव वृक्षः। सोऽयं व्याकृताव्याकृतरूपः संसारोऽविद्याविषयः क्रियाकारकफलात्मकतयाऽऽत्मरूपत्वेनाध्यारोपितोऽविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मकोऽतो विलक्षणोऽनामरूपकर्मात्मकोऽद्वयो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि क्रियाकारकफलभेदादिविपर्ययेणावभासते। अतोऽस्मात्क्रियाकारकफलभेदस्वरूपादेतावदिदमितिसाध्यसाधनरूपाद्विरक्तस्य कामादिदोषकर्मबीजभूताविद्यानिवृत्तये रज्ज्वामिव सर्पविज्ञानापनयाय ब्रह्मविद्याऽऽरभ्यते।

तत्र तावदश्वमेधविज्ञानाय "उषा वा अश्वस्य" इत्यादि। तत्राश्वविषयमेव दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य। प्राधान्यं च तन्नामाङ्कितत्वात्क्रतोः प्राजापत्यत्वाच्च।

वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो, यद्विजृम्भते तद्विद्योतते, यद्विधूनुते तत्स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक् ॥१॥

संधियाँ हैं, दिन और रात्रि पाद हैं, शुक्लत्व में समानता होने के कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाश में स्थित मेघ माँस है, सिकता उदरस्थ अर्धपक्व अन्न है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, पर्वत जिगर और हृदयगत माँसखण्ड है, औषधि और वनस्पतियाँ लोम तथा केश हैं, मध्याह्नकाल पर्यन्त ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य नाभि से ऊपर का भाग और मध्याह्नकाल से नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य कमर से नीचे का भाग है, उसकी जमुहाई लेना बिजली चमकना है और जो शरीर का विधूनन है वह मेघ का गर्जन है, वह अश्व जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उस अश्व की वाणी है॥१॥

उषा इति ब्राह्मो मुहूर्त उषाः। **वै**शब्दः स्मारणार्थः प्रसिद्धं कालं स्मारयति। **शिरः** प्राधान्यात्। शिरश्च प्रधानं शरीरावयवानाम्। **अश्वस्य मेध्यस्य** मेधार्हस्य यज्ञियस्योषाः शिर इति संबन्धः।

कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात्कालादिदृष्टयः शिरआदिषु क्षिप्यन्ते। प्राजापत्यत्वं च प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणात्। काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च प्रजापतित्वकरणं पशोः। एवंरूपो हि प्रजापतिः। विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ।

सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात्सूर्याधिदैवतत्वाच्च। **वातः प्राणो** वायुस्वाभाव्यात्। **व्यात्तं** विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः। वैश्वानर इत्यग्नेर्विशेषणम्। वैश्वानरो नामाग्निर्विवृतं मुखमित्यर्थो मुखस्याग्निदैवतत्वात्। **संवत्सर** आत्मा संवत्सरः द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वा। **आत्मा** शरीरम्। कालावयवानां च संवत्सरः शरीरम्। शरीरं चाऽऽत्मा ''मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा'' इति श्रुतेः। **अश्वस्य** मेध्यस्येति सर्वत्रानुषङ्गार्थं पुनर्वचनम्।

द्यौः पृष्ठम्। ऊर्ध्वत्वसामान्यात्। **अन्तरिक्षमुदरं** सुषिरत्वसामान्यात्। **पृथिवी पाजस्यं** पादस्यमिति वर्णव्यत्ययेन पादासनस्थानमित्यर्थः। **दिशश्चतस्रोऽपि**

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत, तस्य पूर्वे समुद्रे योनी, रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत, तस्यापरे

इस अश्व के सामने महिमा रूप से दिन प्रकट हुआ। उस ग्रह की योनि पूर्व समुद्र है, तत्पश्चात् महिमा रूप से रात्रि प्रकट हुई, उसकी योनि पश्चिम समुद्र है, ये

पार्श्वे पार्श्वेन दिशां संबन्धात्। पार्श्वयोर्दिशां च संख्यावैषम्यादयुक्तमिति चेत्? न। सर्वमुखत्वोपपत्तेरश्वस्य पार्श्वाभ्यामेव सर्वदिशां संबन्धाददोषः। अवान्तरदिश आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि।

ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात्। **मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि** संधयः संधिसामान्यात्। **अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः**। बहुवचनात्प्राजापत्यदैवपित्र्यमानुषाणि प्रतिष्ठाः पादाः प्रतितिष्ठत्येतैरिति। अहोरात्रैर्हि कालात्मा प्रतितिष्ठत्यश्वश्च पादैः। **नक्षत्राण्यस्थीनि** शुक्लत्वसामान्यात्। **नभो** नभस्था मेघा अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेर्**मांसान्युदकरुधिरसेचनसामान्यात्**।

ऊवध्यमुदरस्थमर्धजीर्णमशनं **सिकता,** विश्लिष्टावयवत्वसामान्यात्। **सिन्धवः** स्यन्दनसामान्यान्नद्यो **गुदा** नाड्यो बहुवचनाच्च। **यकृच्च क्लोमानश्च** हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ। क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव। **पर्वताः** काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च। **ओषधयश्च** क्षुद्राः स्थावरा **वनस्पतयो** महान्तो लोमानि केशाश्च यथासंभवम्। **उद्यन्नुद्गच्छन्भवति** सविताऽऽमध्याह्नादश्वस्य **पूर्वार्धो** नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः। **निम्लोचन्नस्तं** यन्नाऽऽमध्याह्नात्**जघनार्धोऽ**परार्धः पूर्वापरत्वसाधर्म्यात्। **यद्विजृम्भते** गात्राणि विनामयति विक्षिपति **तद्विद्योतते** विद्योतनं मुखघनयोर्विदारणसामान्यात्। **यद्विधूनुते** गात्राणि कम्पयति **तत्स्तनयति** गर्जनशब्दसामान्यात्। **यन्मेहति** मूत्रं करोत्यश्वस्**तद्वर्षति** वर्षणं तत्सेचनसामान्यात्। **वागेव** शब्द एवास्याश्वस्य **वागिति** नात्र कल्पनेत्यर्थः॥१॥

अहर्वा इति सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते, तद्विषयमिदं दर्शनम्। अहः सौवर्णो ग्रहो दीप्तिसामान्याद्वै। **अहरश्वं पुरस्ता-**

समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्समुद्र एवास्य बन्धुः, समुद्रो योनिः॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम्॥१॥

दोनों ही इस अश्व के पीछे दोनों ओर महिमा संज्ञक ग्रह हुए, (जो कि इस अश्व के आगे पीछे स्वर्ण और रजत के पात्र विशेष रखे जाते हैं) इसने हय होकर देवताओं को वहन किया, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया। समुद्र (परमात्मा ही) इसका बन्धन है और परमात्मा ही उसकी उत्पत्ति का कारण है॥२॥

न्महिमाऽन्वजायतेति कथम्? अश्वस्य प्रजापतित्वात्। प्रजापतिर्ह्यादित्यादिलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते। अश्वं लक्षयित्वाऽजायत सौवर्णो महिमा ग्रहो, वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति यद्वत्। **तस्य** ग्रहस्य **पूर्वे** पूर्वः **समुद्रे** समुद्रो **योनिर्**विभक्तिव्यत्ययेन। योनिरित्यासादनस्थानम्। तथा **रात्री** राजतो ग्रहो वर्णसामान्याज्जघन्यत्वसामान्याद्वा। एनमश्वं पश्चात्पृष्ठतो महिमाऽन्वजायत **तस्यापरे समुद्रे योनिः**। महिमा महत्त्वात्। अश्वस्य हि विभूतिरेषा यत्सौवर्णो राजतश्च ग्रहावुभवतः स्थाप्येते। ता**वेतौ वै महिमानौ** महिमाख्यौ ग्रहा**वश्वमभितः** पुरतः पृष्ठतः **संबभूवतुरुक्त**लक्षणावेव संभूतौ। इत्थमसावश्वो महत्त्वयुक्त इति पुनर्वचनं स्तुत्यर्थम्। तथा च **हयो भूत्वेत्यादि** स्तुत्यर्थमेव। हयो हिनोतेर्गतिकर्मणो विशिष्टगतिरित्यर्थः। जातिविशेषो वा। **देवानवहद्देवत्वमगमयत्प्रजापतित्वाद्देवानां वा** वोढाऽभवत्। ननु निन्दैव वाहनत्वम्। नैष दोषः। वाहनत्वं स्वाभाविकमश्वस्य स्वाभाविकत्वादुच्छ्रायन्प्राप्तिर्देवादिसंबन्धोऽश्वस्येति स्तुतिरेवैषा। तथा वाज्यादयो जातिविशेषाः। **वाजी** भूत्वा **गन्धर्वानवहदि**त्यनुषङ्गः। तथा**ऽर्वा** भूत्वा**ऽसुरान्**। **अश्वो** भूत्वा **मनुष्यान्**। **समुद्र एवे**ति परमात्मा **बन्धुर्**बन्धनं बध्यतेऽस्मि-

।अथ प्रथमाध्यायस्याग्निनामद्वितीयं ब्राह्मणम्।

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कथं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥१॥

(इस संसारमण्डल में मन आदि की उत्पत्ति से) पहले यहाँ नामरूप में विभक्त कुछ भी नहीं था, यह सब क्षुधारूप मृत्यु से आवृत था, क्योंकि क्षुधा ही मृत्यु है। उसने मन को इसलिये बनाया कि मैं मन से युक्त होऊँ। उसने अर्चन करते हुए आचरण किया। अतः उसके अर्चन करने से पूजा का अङ्गभूत रसात्मक जल उत्पन्न हुआ। पूजा करते हुए मुझे जल प्राप्त हुआ है। अतः यही अर्क का अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है, निश्चय ही उसे सुख प्राप्त होता है। (सुख की हेतुभूता पूजा करने से तथा जल का सम्बन्ध होने से अग्नि को ही गौण दृष्टि से अर्क कह दिया गया है, यही अश्वमेध याग में उपयोगी अग्नि के अर्कत्व में कारण बतलाया गया है)॥१॥

त्रिति। समुद्रो योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति। एवमसौ शुद्धयोनिः शुद्धस्थितिरिति स्तूयते "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः। प्रसिद्ध एव वा समुद्रो योनिः॥२॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

अथाग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्योत्पत्तिरुच्यते। तद्विषयदर्शनविवक्षयैवोत्पत्तिः स्तुत्यर्था। **नैवेह किंचनाग्र आसीत्**। इह संसारमण्डले किंचन किंचिदपि नामरूपप्रविभक्तविशेषं नैवाऽऽसीन्न बभूव। अग्रे प्रागुत्पत्तेर्मनआदेः। किं शून्यमेव बभूव? शून्यमेव स्यात् "नैवेह किंचन" इति श्रुतेः। न कार्यं कारणं वाऽऽसीदुत्पत्तेश्च। उत्पद्यते हि घटः। अतः प्रागुत्पत्तेर्घटस्य नास्तित्वम्।

ननु कारणस्य न नास्तित्वं, मृत्पिण्डादिदर्शनात्। यन्नोपलभ्यते तस्यैव

सत् कार्यवाद : वेदान्ती; सांख्य | सत् कारण वाद = वेदान्ती.
असत् कार्यवाद : वैशेषिक; बौद्ध | असत् कारण वाद = बौद्ध; चार्वाक.

विमतं सत्पूर्वं कारणत्वात् घटमृत्तिकादिवत्

नास्तिताऽस्तु कार्यस्य, न तु कारणस्योपलभ्यमानत्वात्। न। प्रागुत्पत्तेः सर्वानुपलम्भात्। अनुपलब्धिश्चेदभावहेतुः सर्वस्य जगतः प्रागुत्पत्तेर्न कारणं कार्यं वोपलभ्यते। तस्मात्सर्वस्यैवाभावोऽस्तु? न, "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" इति श्रुतेः। यदि हि किंचिदपि नाऽऽसीद्येनाऽऽव्रियते यच्चाऽऽव्रियते तदा नावक्ष्यन्मृत्युनैवेदमावृतमिति। न हि भवति गगनकुसुमच्छन्नो वन्ध्यापुत्र इति। ब्रवीति च **मृत्युनैवेदमावृतमासीदि**ति।

तस्माद्येनाऽऽवृतं कारणेन यच्चाऽऽवृतं कार्यं, प्रागुत्पत्तेस्तदुभयमासीच्छ्रुतेः प्रामाण्यादनुमेयत्वाच्च। अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोरस्तित्वम्। कार्यस्य हि सतो जायमानस्य कारणे सत्युत्पत्तिदर्शनात्, असति चादर्शनात्। जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वमनुमीयते, घटादिकारणास्तित्ववत्।

घटादिकारणस्याप्यसत्त्वमेवानुपमृद्य मृत्पिण्डादिकं घटाद्यनुत्पत्तेरिति चेन्न। मृदादेः कारणत्वात्। मृत्सुवर्णादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेर्न पिण्डाद्याकारविशेषः। तदभावे भावात्। असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुवर्णादिकारणद्रव्यमात्रादेव घटरुचकादिकार्योत्पत्तिर्दृश्यते। तस्मान्न पिण्डाकारविशेषो घटरुचकादिकारणम्। असति तु मृत्सुवर्णादिद्रव्ये घटरुचकादिर्न जायते इति मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणं नतु पिण्डाकारविशेषः। सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्याऽऽत्मकार्यस्य तिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति। एकस्मिन्कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्। न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति। तस्मात्पिण्डाद्युपमर्दे कार्योत्पत्तिदर्शनमहेतुः प्रागुत्पत्तेः कारणासत्त्वे।

पिण्डादिव्यतिरेकेण मृदादेरसत्त्वादयुक्तमिति चेत्। पिण्डादिपूर्वकार्योपमर्दे मृदादिकारणं नोपमृद्यते घटादिकार्यान्तरेऽप्यनुवर्तत इत्येतदयुक्तम्। पिण्डघटादिव्यतिरेकेण मृदादिकारणस्यानुपलम्भादिति चेन्न। मृदादिकारणानां घटाद्युत्पत्तौ पिण्डादिनिवृत्तौ चानुवृत्तिदर्शनात्। सादृश्यादन्वयदर्शनं न कारणानुवृत्तेरिति चेन्न। पिण्डादिगतानां मृदाद्यवयवानामेव घटादौ प्रत्यक्षत्वेऽनुमानाभासात्सादृश्यादिकल्पनानुपपत्तेः।

न च प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धाऽव्यभिचारिता। प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य, सर्वत्रैवानाश्वासप्रसङ्गात्। यदि च क्षणिकं सर्वं तदेवेदमिति गम्यमानं तद्बुद्धेरप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वे तस्या अप्यन्यद्बुद्ध्यपेक्षत्वमित्यनवस्थायां तत्सदृशमिदमित्यस्या अपि बुद्धेर्मृषात्वात्सर्वत्रानाश्वासतैव। तदिदंबुद्ध्योरपि कर्त्रभावे संबन्धानुपपत्तिः। सादृश्यात्तत्संबन्ध इति चेन्न। तदिदंबुद्ध्योरितरेतरविषयत्वानुपपत्तेः। असति चेतरेतरविषयत्वे सादृश्यग्रहणानुपपत्तिः।

असत्येव सादृश्ये, तद्बुद्धिरिति चेन्न। तदिदंबुद्ध्योरपि सादृश्यबुद्धिवदसद्विषयत्वप्रसङ्गात्। असद्विषयत्वमेव सर्वबुद्धीनामस्त्विति चेन्न। बुद्धिबुद्धेरप्यसद्विषयत्वप्रसङ्गात्। तदप्यस्त्विति चेन्न। सर्वबुद्धीनां मृषात्वेऽसत्यबुद्ध्यनुपपत्तेः। तस्मादसदेतत्सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति। अतः सिद्धः प्राक्कार्योत्पत्तेः कारणसद्भावः। कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिङ्गत्वात् कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तेः सिद्धः।

कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादभिव्यक्तिर्लिङ्गमस्येति। अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः। यद्धि लोके प्रावृतं तमआदिना घटादि वस्तु, तदालोकादिना प्रावरणतिरस्कारेण विज्ञानविषयत्वं प्राप्नुवत्प्राक्सद्भावं न व्यभिचरति। तथेदमपि जगत्प्रागुत्पत्तेरित्यवगच्छामः। न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते।

न। तेऽविद्यमानत्वाभावादुपलभ्येतैवेति चेत्। न हि तव घटादिकार्यं कदाचिदप्यविद्यमानमित्युदित आदित्य उपलभ्येतैव। मृत्पिण्डेऽसंनिहिते तमआद्यावरणे चासति विद्यमानत्वादिति चेत्। न। द्विविधत्वादावरणस्य। घटादिकार्यस्य द्विविधं ह्यावरणं मृदादेरभिव्यक्तस्य तमः कुड्यादि, प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेण संस्थानम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्याऽऽवृतत्वादनुपलब्धिः। नष्टोत्पन्नभावाभावशब्दप्रत्ययभेदस्त्वभिव्यक्तितिरोभावयोर्द्विविधत्वापेक्षः।

पिण्डकपालादेरावरणवैलक्षण्यादयुक्तमिति चेत्। तमः कुड्यादि हि घटा-

द्यावरणं घटादिभिन्नदेशं दृष्टं, न तथा घटादिभिन्नदेशे दृष्टे पिण्डकपाले। तस्मात्पिण्डकपालसंस्थानयोर्विद्यमानस्यैव घटस्याऽऽवृतत्वादनुपलब्धिरित्ययुक्तमावरणधर्मवैलक्षण्यादिति चेत्। न। क्षीरोदकादेः क्षीराद्यावरणेनैकदेशत्वदर्शनात्। घटादिकार्ये कपालचूर्णाद्यवयवानामन्तर्भावादनावरणत्वमिति चेत्। न। विभक्तानां कार्यान्तरत्वादावरणत्वोपपत्तेः।

आवरणाभाव एव यत्नः कर्तव्य इति चेत्पिण्डकपालावस्थयोर्विद्यमानमेव घटादिकार्यमावृतत्वान्नोपलभ्यत इति चेत्। घटादिकार्यार्थिना तदावरणविनाशे एव यत्नः कर्त्तव्यो न घटाद्युत्पत्तौ। न चैतदस्ति। तस्मादयुक्तं, विद्यमानस्यैवाऽऽवृतत्वादनुपलब्धिरिति चेत्। न। अनियमात्। न हि विनाशमात्रप्रयत्नादेव घटाद्यभिव्यक्तिर्नियता। तमआद्यावृते घटादौ प्रदीपाद्युत्पत्तौ प्रयत्नदर्शनात्। सोऽपि तमोनाशायैवेति चेत्। दीपाद्युत्पत्तावपि यः प्रयत्नः, सोऽपि तमस्तिरस्करणाय, तस्मिन्नष्टे घटः स्वयमेवोपलभ्यते। न हि घटे किंचिदाधीयत इति चेत्। न, प्रकाशवतो घटस्योपलभ्यमानत्वात्। यथा प्रकाशविशिष्टो घट उपलभ्यते प्रदीपकरणेन, न तथा प्राक्प्रदीपकरणात्। तस्मान्न तमस्तिरस्कारायैव प्रदीपकरणं किं तर्हि प्रकाशवत्त्वाय। प्रकाशवत्त्वेनैवोपलभ्यमानत्वात् क्वचिदावरणविनाशेऽपि यत्नः स्यात्। यथा कुड्यादिविनाशे। तस्मान्न नियमोऽस्त्यभिव्यक्त्यर्थिनाऽऽवरणविनाश एव यत्नः कार्य इति।

नियमार्थवत्त्वाच्च। कारणे वर्तमानं कार्यं कार्यान्तराणामावरणमित्यवोचाम। तत्र यदि पूर्वाभिव्यक्तस्य कार्यस्य पिण्डस्य व्यवहितस्य वा कपालस्य विनाश एव यत्नः क्रियेत। तदा विदलचूर्णाद्यपि कार्यं जायेत। तेनाप्यावृतो घटो नोपलभ्यत इति पुनः प्रयत्नान्तरापेक्षैव। तस्माद्घटाद्यभिव्यक्त्यर्थिनो नियत एव कारकव्यापारोऽर्थवान्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरपि सदेव कार्यम्।

अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च। अतीतो घटोऽनागतो घट इत्येतयोश्च प्रत्यययोर्वर्तमानघटप्रत्ययवन्न निर्विषयत्वं युक्तम्। अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च। न ह्यसत्यर्थितया

प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा। योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात्। असंश्चेद्भविष्यद्घट ऐश्वरं भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात्। न च प्रत्यक्षमुपचर्यते। घट-सद्भावे ह्यनुमानमवोचाम। विप्रतिषेधाच्च। यदि घटो भविष्यतीति कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु घटार्थं प्रमाणेन निश्चितम्। येन च कालेन घटस्य संबन्धो भविष्यतीत्युच्यते तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति विप्रतिषिद्धमभिधीयते। भविष्य-न्घटोऽसन्निति न भविष्यतीत्यर्थः। अयं घटो न वर्तत इति यद्वत्।

अथ प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्नित्युच्येत घटार्थं प्रवृत्तेषु कुलालादिषु तत्र यथा व्यापाररूपेण वर्तमानास्तावत्कुलालादयस्तथा घटो न वर्तत इत्यसच्छब्दस्यार्थश्चेन्न विरुध्यते। कस्मात्? स्वेन हि भविष्यद्रूपेण घटो वर्तते। न हि पिण्डस्य वर्तमानता कपालस्य वा घटस्य भवति। न च तयोर्भविष्यत्ता घटस्य। तस्मात्कुलालादिव्यापार-वर्तमानतायां प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्निति न विरुध्यते। यदि घटस्य यत्स्वं भविष्यत्ता-कार्यरूपं तत्प्रतिषिध्येत। तत्प्रतिषेधे विरोधः स्यात् नतु तद्भवान्प्रतिषेधति। न च सर्वेषां क्रियावतामेकैव वर्तमानता भविष्यत्त्वं वा।

अपि च चतुर्विधानामभावानां घटस्येतरेतराभावो घटादन्यो दृष्टो यथा घटाभावः पटादिरेव न घटस्वरूपमेव। न च घटाभावः सन्पटोऽभावात्मकः किं तर्हि भावरूप एव। एवं घटस्य प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात्। घटेन व्यपदिश्यमानत्वाद्घटस्येतरेतराभाववत्। तथैव भावात्मकताऽभावानाम्। एवं च सति घटस्य प्रागभाव इति। न घटस्वरूपमेव प्रागुत्पत्तेर्नास्ति।

अथ घटस्य प्रागभाव इति घटस्य यत्स्वरूपं तदेवोच्येत। घटस्येतिव्यपदेशा-नुपपत्तिः। अथ कल्पयित्वा व्यपदिश्येत, शिलापुत्रकस्य शरीरमिति यद्वत्। तथाऽपि घटस्य प्रागभाव इति कल्पितस्यैवाभावस्य घटेन व्यपदेशो न घटस्वरूपस्यैव। अथार्थान्तरं घटाद्घटस्याभाव इत्युक्तोत्तरमेतत्। किंचान्यत्प्रागुत्पत्तेः शशविषाणवद-

भावभूतस्य घटस्य स्वकारणसत्तासंबन्धानुपपत्तिः। द्विनिष्ठत्वात्संबन्धस्य। अयुतसिद्धानामदोष इति चेत्। न। भावाभावयोरयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। भावभूतयोर्हि युतसिद्धताऽयुतसिद्धता वा स्यान्न तु भावाभावयोरभावयोर्वा। तस्मात्सदेव कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति सिद्धम्।

किंलक्षणेन मृत्युनाऽऽवृतमित्यत आह— **अशनायया**ऽशितुमिच्छाऽश**नाया** सैव मृत्योर्लक्षणं तया लक्षितेन मृत्युनाऽशनायया। कथमशनाया मृत्युरिति। उच्यते — अशनाया **हि मृत्युः**। हिशब्देन प्रसिद्धं हेतुमवद्योतयति। यो ह्यशितुमिच्छति सोऽशनायानन्तरमेव हन्ति जन्तून्। तेनासावशनायया लक्ष्यते मृत्युरित्यशनाया हीत्याह। बुद्ध्यात्मनोऽशनाया धर्म इति स एष बुद्ध्यवस्थो हिरण्यगर्भो मृत्युरित्युच्यते। तेन **मृत्युनेदं** कार्य**मावृतमासीत्**। यथा पिण्डावस्थया मृदा घटादय आवृताः स्युरिति तद्वत्। **तन्मनोऽकुरुत**। तदिति मनसो निर्देशः। स प्रकृतो मृत्युर्वक्ष्यमाणकार्यसिसृक्षया तत्कार्यालोचनक्षमं मनःशब्दवाच्यं संकल्पादिलक्षणमन्तःकरण**मकुरुत** कृतवान्। केनाभिप्रायेण मनोऽकरोदिति। उच्यते— **आत्मन्व्यात्मवान्स्यां** भवेयम्। अहमनेनाऽऽत्मना मनसा मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः।

स प्रजापतिरभिव्यक्तेन मनसा समनस्कः स**न्नर्चन्न**र्चयन्पूजयन्नात्मानमेव कृतार्थोऽस्मीत्य**चरच्च**रणमकरोत्। **तस्य** प्रजापते**रर्चतः** पूजयत **आपो** रसात्मिकाः पूजाङ्गभूता **अजायन्तो**त्पन्नाः। अत्राऽऽकाशप्रभृतीनां त्रयाणामुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्यं श्रुत्यन्तरसामर्थ्याद्विकल्पासंभवाच्च सृष्टिक्रमस्य। **अर्चते** पूजां कुर्वते **वै मे** मह्यं **कमु**दकम**भूदित्येव**ममन्यत, यस्मान्मृत्युस्त**देव**हेतोर**र्कस्या**ग्नेरश्वमेधक्रतूपयोगिकस्या**र्क**त्वमर्कत्वे हेतुरित्यर्थः। अग्नेरर्कनामनिर्वचनमेतत्। अर्चनात्सुखहेतुपूजाकरणादप्संबन्धाच्चाग्नेरेतद्गौणं नामार्क इति। **य एवं** यथोक्तम**र्कस्यार्कत्वं वेद** जानाति। **कमु**दकं सुखं वा नामसामान्यात्। **ह वा** इत्यवधारणार्थौ भवत्येवेति। **अस्मा** एवंविद एवंविदर्थं **भवति**॥१॥

आपो वा अर्कस्तद्यदपाᳬ शर आसीत्तत्समहन्यत।
सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य
तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥२॥

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं
तृतीयᳬ स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची

जल ही अर्क है, (क्योंकि अर्क नामक अग्नि का वह हेतु है) उन जलों का जो (घृतपिण्ड के समान) स्थूलभाग था, वह एकत्रित हो गया और वही पृथिवी हो गया, अर्थात् जल से ब्रह्माण्ड निष्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होने पर वह प्रजापति रूप मृत्यु थक गया, उस थके हुए प्रजापति के शरीर से उसका सारभूत तेजोरस अग्नि निकल आया ॥२॥

उस प्रजापति ने अपने को तीन प्रकार से विभक्त किया, उसने (अग्नि और वायु

आपो वा अर्कः। कः पुनरसावर्क इति। उच्यते— **आपो वै या** अर्चनाङ्गभूतास्ता **एवार्को**ऽग्नेरर्कस्य हेतुत्वात्। अप्सु चाग्निः प्रतिष्ठित इति। न पुनः साक्षादेवार्कस्ताः। तासामप्रकरणात्। अग्नेश्च प्रकरणम्। वक्ष्यति चायमग्निरर्क इति। **तत्त्त्र यदपां शर** इव शरो दध्न इव मण्डभूत**मासीत्तत्समहन्यत** संघातमापद्यत तेजसा बाह्यान्तःपच्यमानं, लिङ्गव्यत्ययेन वा योऽपां शरः स समहन्यतेति। **सा पृथिव्यभवत्स** संघातो येयं पृथिवी साऽभवत्। ताभ्योऽद्भ्योऽण्डमभिनिर्वृत्तमित्यर्थः। **तस्यां** पृथिव्यामुत्पादितायां स मृत्युः प्रजापति**रश्राम्यच्छ्र**मयुक्तो बभूव। सर्वो हि लोकः कार्यं कृत्वा श्राम्यति। प्रजापतेश्च तन्महत्कार्यं यत्पृथिवीसर्गः। किं तस्य श्रान्तस्येत्युच्यते— **तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य** खिन्नस्य **तेजोरसस्तेज** एव रसस्तेजोरसो रसः सारो **निरवर्तत** प्रजापतिशरीरान्निष्क्रान्त इत्यर्थः। कोऽसौ निष्क्रान्तो**ऽग्निः** सोऽण्डस्यान्तर्विराट्प्रजापतिः प्रथमजः कार्यकरणसंघातवाञ्जातः। "स वै शरीरी प्रथमः" इति स्मरणात् ॥२॥

स च जातः प्रजापति**स्त्रेधा** त्रिप्रकार**मात्मानं** स्वयमेव कार्यकरणसंघातं

दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो, यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान्॥३॥

की अपेक्षा) आदित्य को तीन संख्याओं का पूरक बनाया। ऐसे ही वायु को तीसरा बनाया (और अग्नि को भी तीसरा बनाया) इस प्रकार यह प्राण (अग्नि वायु और आदित्य इन) तीन भागों में विभक्त हो गया। उसकी पूर्वदिशा शिर है तथा ईशान्य और आग्नेयी विदिशाएँ भुजाएँ हैं। वैसे ही पश्चिम दिशा इसकी पुच्छ है और वायव्य तथा नैर्ऋत्य विदिशाएँ जंघाएँ हैं। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व भाग हैं, द्युलोक पृष्ठ भाग है, अन्तरिक्ष उदर है और (अधोभाग में समानता होने के कारण) यह पृथिवी हृदय है। यह लोकादि स्वरूप प्रजापति अग्नि जल में स्थित है, इसे इस प्रकार अग्नि का जल में स्थित होना जानने वाला पुरुष जहाँ कहीं जाता है, वहाँ ही प्रतिष्ठित होता है॥३॥

व्यकुरुत व्यभजदित्येतत्। कथं त्रेधेत्याह— **आदित्यं तृतीय**मग्निवाय्वपेक्षया त्रयाणां पूरणमकुरुतेत्यनुवर्तते। तथाऽग्न्यादित्यापेक्षया **वायुं तृतीयम्**। तथा वाय्वादित्यापेक्षयाऽग्निं तृतीयमिति द्रष्टव्यम्। सामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्त्रयाणां संख्यापूरणत्वे। **स एष प्राणः** सर्वभूतानामात्माऽप्यग्निवाय्वादित्यरूपेण विशेषतः स्वेनैव मूर्त्यात्मना **त्रेधा विहितो** विभक्तो न विराट्स्वरूपोपमर्दनेन। तस्यास्य प्रथमजस्याग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्यार्कस्य विराजश्चित्यात्मकस्याश्वस्येव दर्शनमुच्यते। सर्वा हि पूर्वोक्तोत्पत्तिरस्य स्तुत्यर्थेत्यवोचाम— इत्थमसौ शुद्धजन्मेति। **तस्य प्राची दिक्शिरो** विशिष्टत्वसामान्यात्। **असौ चासौ** चैशान्याग्नेय्यावी**र्मौ** बाहू। ईरयतेर्गतिकर्मणः। **अथास्याग्नेः प्रतीची दिक्पुच्छं** जघन्यो भागः। प्राङ्मुखस्य प्रत्यग्दिक्संबन्धात्। **असौ चासौ च** वायव्यनैर्ऋत्यौ **सक्थ्यौ** सक्थिनी पृष्ठकोणत्वसामान्यात्। **दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे** उभयदिक्संबन्धसामान्यात्।

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस, तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत्॥४॥

उस मृत्यु ने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो (जिसमें मैं शरीर धारी हो जाऊँ), इसीलिये उस क्षुधा में उपलक्षित मृत्यु ने मन के द्वारा वेदत्रयी की आलोचना की अर्थात् वेदविहित सृष्टिक्रम का मन से विचार किया। उससे जो वीर्य हुआ, वह सम्वत्सर बन गया, इससे पूर्व संवत्सर नहीं था। उस संवत्सर काल निर्माता गर्भस्थ प्रजापति को मृत्युरूप प्रजापति उतने समय तक गर्भ में धारण किये रहा जितना संवत्सर का परिमाण होता है। इतने समय के बाद उससे उसकी सृष्टि की अर्थात् उस अण्डे को फोड़ दिया। उस उत्पन्न हुए प्रथम शरीरी कुमार अग्नि के प्रति भक्षण के लिये मुख फाड़ा, स्वाभाविक अविद्या से युक्त होने के कारण उसने डरकर 'भाण' ऐसा शब्द किया, वही वाक् (शब्द) हुआ॥४॥

द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमिति पूर्ववत्। **इयमुरः**। अधोभागत्वसामान्यात्। **स एषोऽग्निः** प्रजापतिरूपो लोकाद्यात्मकोऽग्निर**प्सु प्रतिष्ठितः**। "एवमिमे लोका अप्स्वन्तः" इति श्रुतेः। **यत्र क्व च** यस्मिन्कस्मिंश्चि**देति** गच्छति **तदेव** तत्रैव **प्रतितिष्ठति** स्थितिं लभते। कोऽसौ? **एवं** यथोक्तमप्सु प्रतिष्ठितत्वमग्ने**र्विद्वा**न्विजानन्गुणफलमेतत्॥३॥

सोऽकामयत— योऽसौ मृत्युः सोऽबादिक्रमेणाऽऽत्मनाऽऽत्मानमण्डस्यान्तः कार्यकरणसंघातवन्तं विराजमग्निमसृजत त्रेधा चाऽऽत्मानमकुरुतेत्युक्तम्। स किंव्यापारः सन्नसृजतेति। उच्यते— **स** मृत्यु**रकामयत** कामितवान्। किम्। **द्वितीयो**

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्ये इति स तया वाचा तेनाऽऽत्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं

उस मृत्यु ने विचार किया, यदि मैं इस कुमार को मार डालूंगा तो मैं यह बहुत ही थोड़ा भोजन करूँगा। अतः उसने उस वाणी और उस मन के द्वारा इन सबकी सृष्टि

मे ममाऽऽत्मा शरीरं येनाहं शरीरी स्यां स **जायेतो**त्पद्येतेत्येवमेतदकामयत। **स** एवं कामयित्वा **मनसा** पूर्वोत्पन्नेन **वाचं** त्रयीलक्षणां **मिथुनं** द्वंद्वभावं **समभवत्**संभवनं कृतवान्मनसा त्रयीमालोचितवांस्त्रयीविहितं सृष्टिक्रमं मनसाऽन्वालोचयदित्यर्थः। कोऽसावशनायया लक्षितो **मृत्युः। अशनाया** मृत्युरित्युक्तम्। तमेव परामृशत्यन्यत्र प्रसङ्गो मा भूदिति। तद्यद्रेत आसीत्। तत्तत्र मिथुने **यद्रेत आसीत्**प्रथमशरीरिणः प्रजापतेरुत्पत्तौ कारणं रेतो बीजं ज्ञानकर्मरूपं त्रय्यालोचनायां यद्दृष्टवानासीज्जन्मान्तरकृतम्। तद्भावभावितोऽपः सृष्ट्वा तेन रेतसा बीजेनाप्स्वनुप्रविश्याण्डरूपेण गर्भीभूतः **स संवत्सरोऽभवत्**संवत्सरकालनिर्माता संवत्सरः प्रजापतिरभवत्।

न ह पुरा पूर्वं ततस्तस्मात्संवत्सरकालनिर्मातुः प्रजापतेः **संवत्सरः** कालो नाम **नाऽऽस** न बभूव ह। तं संवत्सरकालनिर्मातारमन्तर्गर्भं प्रजापतिं यावानिह प्रसिद्धः काल **एतावन्त**मेतावत्संवत्सरपरिमाणं **कालमबिभ**र्भृतवान्मृत्युः। **यावान्संवत्सर** इह प्रसिद्धस्ततः परस्तात्किं कृतवान्। **तमेतावतः कालस्य** संवत्सरमात्रस्य **परस्तादूर्ध्वमसृजत** सृष्टवानण्डमभिनदित्यर्थः। **तमेवं** कुमारं **जातमग्निं** प्रथमशरीरिणमशनायावत्त्वान्मृत्यु**रभिव्याददा**न्मुखविदारणं कृतवानत्तुम्। **स** च कुमारो भीतः स्वाभाविक्याऽविद्यया युक्तो **भाणित्येवं** शब्द**मकरोत्। सैव वागभवद्वा**क्शब्दोऽभवत्॥४॥

स ऐक्षत स एवं भीतं कृतरवं कुमारं दृष्ट्वा मृत्यु**रैक्षत**ेक्षितवान्। अशनायावानपि **यदि** कदाचिद्**वा इमं** कुमार**मभिमंस्ये**। अभिपूर्वो मन्यति–

विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तीभावः

किंचर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ, सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति, य एवमेतददितेरदितित्वं वेद॥५॥

की जो कुछ भी ये ऋक्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा तथा पशु हैं— (इन सभी को बनाया)। उसने जिस-जिस वस्तु की रचना की, उन सभी को खाने का विचार किया, वह सबको खाता है, यही उस अदिति का अदितित्व है। जो इस प्रकार इसके अदितिपन को जानता है, वह इस सभी का भोक्ता हो जाता है और ये सब उसके अन्न हो जाते हैं॥५॥

हिंसार्थः। हिंसिष्य इत्यर्थः। **कनीयोऽन्नं करिष्ये** कनीयोऽल्पमन्नं करिष्य **इत्येवमीक्षित्वा** तद्भक्षणादुपरराम। बहु ह्यन्नं कर्तव्यं दीर्घकालभक्षणाय न कनीयः। तद्भक्षणे हि कनीयोऽन्नं स्याद्बीजभक्षण इव सस्याभावः। **स** एवं प्रयोजनमन्न-बाहुल्यमालोच्य **तयैव वाचा** पूर्वोक्तया **तेनैव चाऽऽत्मना** मनसा मिथुनी-भावमालोचनमुपगम्ये**दं सर्वं** स्थावरं जङ्गमं **चासृजत यदिदं किंच** यत्किंचेदम्। किं तत्? **ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि** च सप्त गायत्र्यादीत्रि स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतांस्त्रिविधान्मन्त्रानायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान्**यज्ञांश्च** तत्साध्या-**न्प्रजास्तत्कर्त्रीः पशूंश्च** ग्राम्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान्। ननु त्रय्या मिथुनी-भूतयाऽसृजतेत्युक्तमृगादीनीह कथमसृजतेति। नैष दोषः। मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्त्रय्या बाह्यस्तु ऋगादीनां विद्यमानानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तीभावः सर्ग इति॥

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा **यद्यदेव** क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किंचि**दसृजत तत्तदत्तुं** भक्षयितु**मध्रियत** धृतवान्मनः **सर्वं** कृत्स्नं **वै** यस्मा-**दत्तीति तत्**तस्मा**ददितेरदिति**नाम्नो मृत्यो**रदितित्वं** प्रसिद्धम्। तथाच मन्त्रः

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत्॥६॥

उस प्रजापति ने ऐसी कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी अश्वमेधादि यज्ञ के द्वारा यजन करूँ, इसी से वह थक गया। उसने तप किया, उस श्रान्त तथा खिन्न हुए का यश और वीर्य निकल गया। चक्षुरादि प्राण ही यश और वीर्य है। तत्पश्चात् प्राणों के निकल जाने पर शरीर फूलने लग गया, इतने पर भी उसका मन शरीर में ही रहा॥६॥

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता" इत्यादिः। **सर्वस्यैतस्य** जगतोऽन्नभूतस्या**त्ता** सर्वात्मनैव **भवत्**यन्यथा विरोधात्। न हि कश्चित्सर्वस्यैकोऽत्ता दृश्यते तस्मात्सर्वात्मा भवतीत्यर्थः। **सर्वमस्यान्नं भवत्**यत एव सर्वात्मनो ह्यत्तुः सर्वमन्नं भवतीत्युपपद्यते। **य एवमेतद्**यथोक्त**मदितेर्**मृत्योः प्रजापतेः सर्वस्यादनाददितित्वं **वेद** तस्यैतत्फलम्॥५॥

सोऽकामयतेत्यश्वाश्वमेधयोर्निर्वचनार्थमिदमाह। **भूयसा** महता **यज्ञेन भूयः** पुनरपि **यजेयेति**। जन्मान्तरकरणापेक्षया भूयःशब्दः। **स** प्रजापतिर्जन्मान्तरेऽश्वमेधेनायजत। स तद्भावभावित एव कल्पादौ व्यावर्तत। सोऽश्वमेधक्रियाकारकफलात्मत्वेन निर्वृत्तः सन्नकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेत्येवं महत्कार्यं कामयित्वा लोकवद**श्राम्यत्**। स **तपोऽतप्यत। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्येति** पूर्ववत्। **यशो वीर्यमुदक्रामदि**ति स्वयमेव पदार्थमाह। **प्राणाश्**चक्षुरादयो **वै यशो** यशोहेतुत्वात्तेषु हि सत्सु ख्यातिर्भवति। तथा वीर्यं बलमस्मिञ्शरीरे। न ह्युत्क्रान्तप्राणो यशस्वी बलवान्वा भवति। तस्मात्प्राणा एव यशो वीर्यं चास्मिञ्शरीरे। तदेवं प्राणलक्षणं यशो वीर्यमुदक्रामदुत्क्रान्तवत्। तदेवं यशो-

अश्वमेध उपासना का फल

सोऽकामयत मेध्यं म इदᳫं स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्यैवामन्यत। तᳫं संवत्सरस्य परस्तादात्मने आलभत। पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्त एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य

मुक्तप्रग्रहम् चिन्तयत

सूर्यः

अर्थवाद तच्च श्मशाने

उसने कामना की कि यह मेरा शरीर यज्ञ के योग्य हो जावे, मैं इस शरीर से शरीर वाला होऊँ, क्योंकि वह शरीर (यश और वीर्य से हीन होकर) फूल गया था। अतः उससे वह अश्व हो गया और वह यज्ञीय हुआ। इसीलिये यही अश्वमेधत्व है— अर्थात् उसे अश्वमेध नाम प्राप्त हुआ। जो इसे इस प्रकार जानता है, वही अश्वमेध को जानता है। उसने उसे बन्धनशून्य ही चिन्तन किया, फिर पूरे एक संवत्सर के बाद अपने लिए ही आलभन किया अर्थात् प्रजापति देवता सम्बन्धी पशुरूप उसका आलभन किया और अन्य पशुओं को भी अन्यान्य देवताओं के प्रति पहुँचाया। इसलिये आज भी याज्ञिक लोग सभी

वीर्यभूतेषु **प्राणेषूत्क्रान्तेषु** शरीरान्निष्क्रान्तेषु तच्छ**रीरं** प्रजापतेः **श्वयितुमु**च्छूनभावं गन्तुम**श्रियतामेध्यं** चाभवत्। **तस्य** प्रजापतेः शरीरान्निर्गतस्यापि तस्मि**न्नेव शरीरे मन आसीत्**। यथा कस्यचित्प्रिये विषये दूरं गतस्यापि मनो भवति तद्वत्॥६॥

स तस्मिन्नेव शरीरे गतमनाः सन्किमकरोदिति? उच्यते— **सोऽकामयत,** कथं? **मेध्यं** मेधार्हं यज्ञियं **मे** ममेदं शरीरं **स्यात्**। किंचा**ऽऽत्मन्व्या**त्मवांश्च**ानेन** शरीरेण शरीरवा**न्स्यामिति** प्रविवेश। यस्मात्तच्छरीरं मद्वियोगाद्गतयशोवीर्यं **सदश्वदश्वयत्तत**स्तस्मादश्वः **समभवत्**। ततोऽश्वनामा प्रजापतिरेव साक्षादिति स्तूयते। यस्माच्च पुनस्तत्प्रवेशाद्गतयशोवीर्यत्वादमेध्यं स**न्मेध्यमभूत्तदेव**

संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

देवताओं के लिये मन्त्रों द्वारा संस्कृत प्रजापति सम्बन्धी पशु का आलभन करते हैं। यह जो सूर्य तपता है, यही अश्वमेध है; उस सूर्य का संवत्सर शरीर है, यह पार्थिव अग्नि अर्क है, तथा उसके ये आदित्यादि लोक आत्मा हैं, ये अग्नि और आदित्य अर्क एवं अश्वमेध हैं, किन्तु वे मृत्युरूप देवता एक ही है। जो इस प्रकार (इस अश्वमेध को मृत्युरूप एक देवता) जानता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। इसे मृत्यु प्राप्त नहीं करता, मृत्यु तो उसकी आत्मा हो जाता है, तथा वह इन देवताओं में से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता है)॥७॥

॥इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

तस्मादेवा**श्वमेधस्या**श्वमेधनाम्नः क्रतोरश्वमेधत्वमश्वमेधनामलाभः। क्रियाकारकफलात्मको हि क्रतुः। स च प्रजापतिरेवेति स्तूयते।

क्रतुनिर्वर्तकस्याश्वस्य प्रजापतित्वमुक्तमुषा वा अश्वस्य मेध्यस्येत्यादिना। तस्यैवाश्वस्य मेध्यस्य प्रजापतिस्वरूपस्याग्नेश्च यथोक्तस्य क्रतुफलात्मरूपतया समस्योपासनं विधातव्यमित्यारभ्यते। पूर्वत्र क्रियापदस्य विधायकस्याश्रुतत्वात्क्रियापदापेक्षत्वाच्च प्रकरणस्यायमर्थोऽवगम्यते। **एष ह वा अश्वमेधं क्रतुं वेद यः** कश्चिदेनमश्वमग्निरूपमर्कं च यथोक्तमेवं वक्ष्यमाणेन समासेन प्रदर्श्यमानेन विशेषणेन विशिष्टं **वेद** स एषोऽश्वमेधं वेद नान्यः। तस्मादेवं वेदितव्य इत्यर्थः।

कथं, तत्र पशुविषयमेव तावद्दर्शनमाह। तत्र प्रजापतिर्भूयसा यज्ञेन भूयो

यजेयेति कामयित्वाऽऽत्मानमेव पशुं मेध्यं कल्पयित्वा **तं** पशुमनवरुध्यैवोत्सृष्टं पशुमवरोधमकृत्वैव मुक्तप्रग्रहम**मन्यत**ाचिन्तयत्। **तं संवत्सरस्य** पूर्णस्य **परस्तादूर्ध्वमात्मने** आत्मार्थमालभत। प्रजापतिदेवताकत्वेनेत्येतदालभताऽऽलम्भनं कृतवान्। **पशून्न्यान्ग्राम्यानारण्यांश्च देवताभ्यो** यथादैवतं **प्रत्यौह**त्प्रतिगमितवान्। यस्माच्चैवं प्रजापतिरमन्यत **तस्मादे**वमन्योऽप्युक्तेन विधिनाऽऽत्मानं पशुमश्वं मेध्यं कल्पयित्वा **सर्वदेवत्यो**ऽहं प्रोक्ष्यमाण आलभ्यमानस्त्वहं मद्देवत्य एव स्याम्। अन्ये इतरे पशवो ग्राम्यारण्या यथादैवतमन्याभ्यो देवताभ्य आलभ्यन्ते मदवयवभूताभ्य एवेति विद्यात्। अत एवेदानीं **सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते** याज्ञिकाः।

एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति यस्त्वेवं पशुसाधनकः क्रतुः स एष साक्षात्फलभूतो निर्दिश्यत एष ह वा अश्वमेधः। कोऽसौ? य एष सविता तपति जगदवभासयति तेजसा। तस्यास्य क्रतुफलात्मनः **संवत्सरः** कालविशेष **आत्मा** शरीरं तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। तस्यैव क्रत्वात्मनोऽग्निसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव निर्देशः। **अयं** पार्थिवो**ऽग्निरर्कः** साधनभूतः। **तस्य** चार्कस्य क्रतौ चित्य**स्येमे लोकास्त्रयो**ऽप्या**त्मानः** शरीरावयवाः। तथाच व्याख्यातं तस्य प्राची दिगित्यादिना। **तावग्न्यादित्यावेतौ** यथाविशेषिताव**र्काश्वमेधौ** क्रतुफले। अर्को यः पार्थिवोऽग्निः स साक्षात्क्रतुरूपः क्रियात्मकः क्रतोरग्निसाध्यत्वात्तद्रूपेणैव निर्देशः। क्रतुसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव निर्देश आदित्योऽश्वमेध इति।

तौ साध्यसाधनौ क्रतुफलभूतावग्न्यादित्यौ **सा उ पुनर्भूय एकैव देवता भवति।** का सा? **मृत्युरेव।** पूर्वमप्येकैवाऽऽसीत्क्रियासाधनफलभेदाय विभक्ता। तथा चोक्तम् "स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत" इति। सा पुनरपि क्रियानिर्वृत्त्युत्तरकालमेकैव देवता भवति मृत्युरेव फलरूपः। यः पुनरेवमेनमश्वमेधं मृत्युमेकां देवतां वेदाहमेव मृत्युरस्म्यश्वमेध एका देवता मद्रूपाश्वाग्निसाधनसाध्येति।

। अथ प्रथमाध्यायस्य उद्गीथनामतृतीयं ब्राह्मणम्।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा, ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥१॥

प्रजापति के देव और असुर — ऐसे दो प्रकार के पुत्र थे। उनमें देवगण थोड़े ही थे और असुरगण अधिक थे (क्योंकि स्वाभाविक कर्म-जन्म प्रवृत्ति अधिक होती है और शास्त्र जन्य प्रवृत्ति अल्प होती है), इन लोकों में वे दोनों ज्ञानसाध्य लोक के निमित्त परस्पर ईर्ष्या करने लगे, उनमें से देवों ने कहा — कि यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा हम असुरों को जीतेंगे॥१॥

सोऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा पुनर्मरणाय न जायते इत्यर्थः। अपजितोऽपि मृत्युरेनं पुनराप्नुयादित्याशङ्क्याऽऽह — **नैनं मृत्युराप्नोति।** कस्मात्? **मृत्युरस्यैवंविद आत्मा भवति।** किंच मृत्युरेव फलरूपः सन्**नेतासां देवतानामेको भवति** तस्यैतत्फलम्॥७॥

इति प्रथमाध्यायस्याग्निनामद्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

इति प्रथमाह्निकम्॥१॥

❀❀❀

द्वया हेत्याद्यस्य कः संबन्धः। कर्मणां ज्ञानसहितानां परा गतिरुक्ता मृत्व्वात्मभावोऽश्वमेधगत्युक्त्या। अथेदानीं मृत्व्वात्मभावसाधनभूतयोः कर्मज्ञानयोर्यत उद्भवस्तत्प्रकाशनार्थमुद्गीथब्राह्मणमारभ्यते। ननु मृत्व्वात्मभावः पूर्वत्र ज्ञानकर्मणोः फलमुक्तम्। उद्गीथज्ञानकर्मणोस्तु मृत्व्वात्मभावातिक्रमणं फलं वक्ष्यति। अतो भिन्नविषयत्वात्फलस्य न पूर्वकर्मज्ञानोद्भवप्रकाशनार्थमिति चेत्। नायं दोषः। अग्न्यादित्यात्मभावत्वादुद्गीथफलस्य पूर्वत्राप्येतदेव फलमुक्तमेतासां देवतानामेको भवतीति। ननु मृत्युमतिक्रान्त इत्यादि विरुद्धम्। न। स्वाभाविकपाप्मासङ्गविषयत्वादतिक्रमणस्य।

कोऽसौ स्वाभाविकः पाप्मासङ्गो मृत्युः? कुतो वा तस्योद्भवः? केन वा तस्यातिक्रमणम्? कथं वेत्येतस्यार्थस्य प्रकाशनायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते। कथम् —

द्वया द्विप्रकाराः। **हे**ति पूर्ववृत्तावद्योतको निपातः। वर्तमानप्रजापतेः पूर्वजन्मनि यद्वृत्तं तदवद्योतयति हशब्देन। **प्राजापत्याः** प्रजापतेर्वृत्तजन्मावस्थस्यापत्यानि प्राजापत्याः। के ते? **देवाश्चासुराश्च**। तस्यैव प्रजापतेः प्राणा वागादयः। कथं पुनस्तेषां देवासुरत्वम्। उच्यते — शास्त्रजनितज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद्देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकर्मज्ञानभाविता असुराः। स्वेष्वेवासुषु रमणात्सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।

यस्माच्च दृष्टप्रयोजनज्ञानकर्मभाविता असुराः, **ततस्तस्मात्कानीयसाः** कनीयांस **एव** कानीयसाः स्वार्थेऽणि वृद्धिः कनीयांसोऽल्पा एव **देवाः**। **ज्यायसा असुरा** ज्यायांसोऽसुराः। स्वाभाविकी हि कर्मज्ञानप्रवृत्तिर्महत्तरा प्राणानां शास्त्रजनितायाः कर्मज्ञानप्रवृत्तेः। दृष्टप्रयोजनत्वात्। अत एव कनीयस्त्वं देवानां, शास्त्रजनितप्रवृत्तेरल्पत्वात्। अत्यन्तयत्नसाध्या हि सा।

ते देवाश्चासुराश्च प्रजापतिशरीरस्था **एषु लोकेषु** निमित्तभूतेषु स्वाभाविकेतरकर्मज्ञानसाध्येष्व**स्पर्धन्त** स्पर्धां कृतवन्तः। देवानां चासुराणां च वृत्त्युद्भवाभिभवौ स्पर्धा, कदाचिच्छास्त्रजनितकर्मज्ञानभावनारूपा वृत्तिः प्राणानामुद्भवति। यदा चोद्भवति तदा दृष्टप्रयोजना प्रत्यक्षानुमानजनितकर्मज्ञानभावनारूपा तेषामेव प्राणानां वृत्तिरासुर्यभिभूयते। स देवानां जयोऽसुराणां पराजयः। कदाचित्तद्विपर्ययेण देवानां वृत्तिरभिभूयत आसुर्या उद्भवः। सोऽसुराणां जयो देवानां पराजयः। एवं देवानां जये धर्मभूयस्त्वादुत्कर्ष आ प्रजापतित्वप्राप्तेः। असुरजयेऽधर्मभूयस्त्वादपकर्ष आ स्थावरत्वप्राप्तेः। उभयसाम्ये मनुष्यत्वप्राप्तिः। त एवं कनीयस्त्वादभिभूयमाना असुरैर्देवा बाहुल्यादसुराणां किं कृतवन्त इत्युच्यते — **ते देवा** असुरैरभिभूयमाना **ह** किलोचु**रु**क्तवन्तः। कथम्? **हन्तेदानीमस्मिन्यज्ञे** ज्योतिष्टोम **उद्गीथेनो-**

द्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणेनात्ययामातिगच्छामः। **असुरानभिभूय** स्वं देवभावं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपद्यामह इत्युक्तवन्तोऽन्योन्यम्। उद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणं च ज्ञानकर्मभ्याम्। कर्म वक्ष्यमाणं मन्त्रजपलक्षणं विधित्स्यमानं तदेतानि जपेदिति। ज्ञानं त्विदमेव निरूप्यमाणम्।

नन्विदमभ्यारोहजपविधिशेषोऽर्थवादो न ज्ञाननिरूपणपरम्। न। य एवं वेदेतिवचनात्। उद्गीथप्रस्तावे पुराकल्पश्रवणादुद्गीथविधिपरमिति चेत्। न। अप्रकरणात्। उद्गीथस्य चान्यत्र विहितत्वात्। विद्याप्रकरणत्वाच्चास्य।

अभ्यारोहजपस्य चानित्यत्वात्। एवंवित्प्रयोज्यत्वात्। विज्ञानस्य च नित्यवच्छ्रवणात्। "तद्धैतल्लोकजिदेव" इति च श्रुतेः। प्राणस्य वागादीनां च शुद्ध्यशुद्धिवचनात्। न ह्यनुपास्यत्वे प्राणस्य शुद्धिवचनं वागादीनां च सहोपन्यस्तानामशुद्धिवचनं वागादिनिन्दया मुख्यप्राणस्तुतिश्चाभिप्रेतोपपद्यते। मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत इत्यादि फलवचनं च। प्राणस्वरूपापत्तेर्हि फलं तद्यद्वागादीनामग्न्यादिभावः।

भवतु नाम प्राणस्योपासनं, न तु विशुद्ध्यादिगुणवत्तेति। ननु स्याच्छ्रुतत्वात्। न स्यादुपास्यत्वे स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः। न। अविपरीतार्थप्रतिपत्तेः श्रेयःप्राप्त्युपपत्तेर्लोकवत्। यो ह्यविपरीतमर्थं प्रतिपद्यते लोके, स इष्टं प्राप्नोत्यनिष्टाद्वा निवर्तते, न विपरीतार्थप्रतिपत्त्या। तथेहापि श्रौतशब्दजनितार्थप्रतिपत्तौ श्रेयःप्राप्तिरुपपन्ना, न विपर्यये।

न चोपासनार्थश्रुतशब्दोत्थविज्ञानविषयस्यायथार्थत्वे प्रमाणमस्ति। न च तद्विज्ञानस्यापवादः श्रूयते। ततः श्रेयःप्राप्तिदर्शनाद्यथार्थतां प्रतिपद्यामहे। विपर्यये चानर्थप्राप्तिदर्शनात्। यो हि विपर्ययेणार्थं प्रतिपद्यते लोके पुरुषं स्थाणुरित्यमित्रं मित्रमिति वा सोऽनर्थं प्राप्नुवन्दृश्यते।

आत्मेश्वरदेवतादीनामप्ययथार्थानामेव चेद्ग्रहणं श्रुतितोऽनर्थप्राप्त्यर्थं शास्त्रमिति ध्रुवं प्राप्नुयाल्लोकवदेव, न चैतदिष्टम्। तस्माद्यथाभूतानेवाऽऽत्मेश्वरदेव-

तादीन्ग्राहयत्युपासनार्थं शास्त्रम्। नामादौ ब्रह्मदृष्टिदर्शनादयुक्तमिति चेत्स्फुटं नामादेरब्रह्मत्वं तत्र ब्रह्मदृष्टिं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिं विपरीतां ग्राहयच्छास्त्रं दृश्यते। तस्माद्यथार्थमेव शास्त्रतः प्रतिपत्तेः श्रेय इत्ययुक्तमिति चेत्। न। प्रतिमावद्भेदप्रतिपत्तेः। नामादावब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टिं विपरीतां ग्राहयति शास्त्रं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिमिति नैतत्साध्ववोचः। कस्मात्? भेदेन हि ब्रह्मणो नामादिवस्तुप्रतिपन्नस्य नामादौ विधीयते ब्रह्मदृष्टिः, प्रतिमादाविव विष्णुदृष्टिः। विवेकी, ज्ञातस्य.

आलम्बनत्वेन हि नामादिप्रतिपत्तिः प्रतिमादिवदेव, न तु नामाद्येव ब्रह्मेति। यथा स्थाणावनिर्ज्ञाते न स्थाणुरिति पुरुष एवायमिति प्रतिपद्यते विपरीतम्, न तु तथा नामादौ ब्रह्मदृष्टिर्विपरीता। ब्रह्मदृष्टिरेव केवला नास्ति ब्रह्मेति चेत्। एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिदृष्टीनां तुल्यता। न। ऋगादिषु पृथिव्यादिदृष्टिदर्शनात्। विद्यमानपृथिव्यादिवस्तुदृष्टीनामेवर्गादिविषये प्रक्षेपदर्शनात्। तस्मात्तत्सामान्यान्नामादिषु ब्रह्मादिदृष्टीनां विद्यमानब्रह्मादिविषयत्वसिद्धिः।

एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिबुद्धीनां च सत्यवस्तुविषयत्वसिद्धिः। मुख्यापेक्षत्वाच्च गौणत्वस्य। पञ्चाग्न्यादिषु चाग्नित्वादेर्गौणत्वान्मुख्याग्न्यादिसद्भाववन्नामादिषु ब्रह्मत्वस्य गौणत्वान्मुख्यब्रह्मसद्भावोपपत्तिः। क्रियार्थैश्चाविशेषाद्विद्यार्थानाम्। यथा च दर्शपौर्णमासादिक्रियैवंफला विशिष्टेतिकर्तव्यताकैवंक्रमप्रयुक्ताङ्गा चेत्येतदलौकिकं वस्तु प्रत्यक्षाद्यविषयं तथाभूतं च वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते। तथा परमात्मेश्वरदेवतादिवस्त्वस्थूलादिधर्मकमशनायाद्यतीतं चेत्येवमादिविशिष्टमिति वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यत इत्यलौकिकत्वात्तथाभूतमेव भवितुमर्हतीति। न च क्रियार्थैर्वाक्यैर्ज्ञानवाक्यानां बुद्ध्युत्पादकत्वे विशेषोऽस्ति। न चानिश्चिता विपर्यस्ता वा परमात्मादिवस्तुविषया बुद्धिरुत्पद्यते।

अनुष्ठेयाभावादयुक्तमिति चेत्। क्रियार्थैर्वाक्यैस्त्र्यंशा भावनाऽनुष्ठेया ज्ञाप्यतेऽलौकिक्यपि। न तथा परमात्मेश्वरादिविज्ञानेऽनुष्ठेयं किंचिदस्ति। अतः क्रियार्थैः साधर्म्यमित्ययुक्तमिति चेत्। न। ज्ञानस्य तथाभूतार्थविषयत्वात्। न ह्यनुष्ठेयस्य त्र्यंशस्य भावनाख्यस्यानुष्ठेयत्वात्तथात्वं, किं तर्हि प्रमाणसमधिगतत्वात्। न च तद्विषयाया बुद्धेरनुष्ठेयविषयत्वात्तथात्वं, किं तर्हि वेदवाक्यजनितत्वादेव।

वेदवाक्याधिगतस्य वस्तुनस्तथात्वे सत्यनुष्ठेयत्वविशिष्टं चेदनुतिष्ठति नो चेदनुष्ठेयत्वविशिष्टं नानुतिष्ठति। अननुष्ठेयत्वे वाक्यप्रमाणत्वानुपपत्तिरिति चेत्। न-ह्यनुष्ठेयेऽसति पदानां संहतिरुपपद्यते। अनुष्ठेये तु सति तादर्थ्येन पदानि संहन्यन्ते। तत्रानुष्ठेयनिष्ठं वाक्यं प्रमाणं भवतीदमनेनैवं कर्तव्यमिति। न त्विदमनेनैवमित्येवं-प्रकाराणां पदशतानामपिवाक्यत्वमस्ति। 'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्' इत्येवमादीनामन्यतमेऽसत्यतः परमात्मेश्वरादीनामवाक्यप्रमाणत्वम्। पदार्थत्वे च प्रमाणान्तरविषयत्वम्। अतोऽसदेतदिति चेत्। न। अस्ति मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेत इत्येवमादावननुष्ठेयेऽपि वाक्यदर्शनात्। न च मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेत इत्येवमादिवाक्य-श्रवणे मेर्वादावनुष्ठेयत्वबुद्धिरुत्पद्यते। तथाऽस्तिपदसहितानां परमात्मेश्वरादि-प्रतिपादकवाक्यपदानां विशेषणविशेष्यभावेन संहतिः केन वार्यते।

मेर्वादिज्ञानवत्परमात्मज्ञाने प्रयोजनाभावादयुक्तमिति चेत्। न। ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' ''भिद्यते हृदयग्रन्थिः'' इति फलश्रवणात्। संसारबीजाविद्यादिदोषनिवृत्ति-दर्शनाच्च। अनन्यशेषत्वाच्च तज्ज्ञानस्य जुह्वामिव फलश्रुतेरर्थवादत्वानुपपत्तिः। प्रतिषिद्धानिष्टफलसंबन्धश्च वेदादेव विज्ञायते। न चानुष्ठेयः सः। न च प्रतिषिद्ध-विषये प्रवृत्तक्रियस्याकरणादन्यदनुष्ठेयमस्ति। अकर्तव्यताज्ञाननिष्ठतैव हि परमार्थतः प्रतिषेधविधीनां स्यात्।

क्षुधार्तस्य प्रतिषेधज्ञानसंस्कृतस्याभक्ष्येऽभोज्ये वा प्रत्युपस्थिते कलञ्जा-भिशस्तान्नादाविदं भक्ष्यमदो भोज्यमिति वा ज्ञानमुत्पन्नं, तद्विषयया प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या बाध्यते। मृगतृष्णिकायामिव पेयज्ञानं तद्विषययाथात्म्यविज्ञानेन तस्मिन्बाधिते स्वाभाविकविपरीतज्ञानेऽनर्थकरी तद्भक्षणभोजनप्रवृत्तिर्न भवति। विपरीतज्ञान-निमित्तायाः प्रवृत्तेर्निवृत्तिरेव न पुनर्यत्नः कार्यस्तदभावे। तस्मात्प्रतिषेधविधीनां वस्तुयाथात्म्यज्ञाननिष्ठतैव। न पुरुषव्यापारनिष्ठतागन्धोऽप्यस्ति। तथेहापि परमात्मा-दियाथात्म्यज्ञानविधीनां तावन्मात्रपर्यवसानतैव स्यात्। तथा तद्विज्ञानसंस्कृतस्य तद्विपरीतार्थज्ञाननिमित्तानां प्रवृत्तीनामनर्थार्थत्वेन ज्ञायमानत्वात्। परमात्मादियाथात्म्य-ज्ञानस्मृत्या स्वाभाविके तन्निमित्तविज्ञाने बाधितेऽभावः स्यात्।

सकलाम्नाय शोधिनी बृहदारण्यकोपनिषद्

ननु कलञ्जादिभक्षणादेरनर्थार्थत्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानस्मृत्या स्वाभाविके तद्भक्ष्यत्वादिविपरीतज्ञाने निवर्तिते तद्भक्षणाद्यनर्थप्रवृत्त्यभाववदप्रतिषेधविषयत्वाच्छास्त्रविहितप्रवृत्त्यभावो न युक्त इति चेत्। न। विपरीतज्ञाननिमित्तत्वानर्थार्थत्वाभ्यां तुल्यत्वात्। कलञ्जभक्षणादिप्रवृत्तेर्मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वमनर्थार्थत्वं च यथा, तथा शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि। तस्मात्परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वेनानर्थार्थत्वेन च तुल्यत्वात्परमात्मज्ञानेन विपरीतज्ञाने निवर्तिते युक्त एवाभावः।

ननु तत्र युक्तो नित्यानां तु केवलशास्त्रनिमित्तत्वादनर्थार्थत्वाभावाच्चाभावो न युक्त इति चेत्। न। अविद्यारागद्वेषादिदोषवतो विहितत्वात्। यथा स्वर्गकामादिदोषवतो दर्शपौर्णमासादीनि काम्यानि कर्माणि विहितानि, तथा सर्वानर्थबीजाविद्यादिदोषवतस्तज्जनितेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाररागद्वेषादिदोषवतश्च तत्प्रेरिताविशेषप्रवृत्तेरिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनो नित्यानि कर्माणि विधीयन्ते, न केवलं शास्त्रनिमित्तान्येव।

न चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धसोमानां कर्मणां स्वतः काम्यत्वनित्यत्वविवेकोऽस्ति। कर्तृगतेन हि स्वर्गादिकामदोषेण कामार्थता। तथाऽविद्यादिदोषवतः स्वभावप्राप्तेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनस्तदर्थान्येव नित्यानीति युक्तं, तं प्रति विहितत्वात्। न परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शमोपायव्यतिरेकेण किंचित्कर्म विहितमुपलभ्यते। कर्मनिमित्तदेवतादिसर्वसाधनविज्ञानोपमर्देन ह्यात्मज्ञानं विधीयते।

न चोपमर्दितक्रियाकारकादिविज्ञानस्य कर्मप्रवृत्तिरुपपद्यते। विशिष्टक्रियासाधनादिज्ञानपूर्वकत्वात्क्रियाप्रवृत्तेः। न हि देशकालाद्यनवच्छिन्नास्थूलाद्वयादिब्रह्मप्रत्ययधारिणः कर्मावसरोऽस्ति। भोजनादिप्रवृत्त्यवसरवत्स्यादिति चेत्। न। अविद्यादिकेवलदोषनिमित्तत्वाद्भोजनादिप्रवृत्तेरावश्यकत्वानुपपत्तेः। न तु तथाऽनियतं कदाचित्क्रियते कदाचिन्न क्रियते चेति नित्यं कर्मोपपद्यते। केवलदोषनिमित्तत्वात्तु भोजनादिकर्मणोऽनियतत्वं स्यात्। दोषोद्भवाभिभवयोरनियतत्वात्कामानामिव काम्येषु। शास्त्रनिमित्तकालाद्यपेक्षत्वाच्च नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिः।

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुद-गायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्य-न्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स य: स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥२॥

उन देवताओं ने ऐसा निश्चय कर वाक् के अभिमानी देव से कहा — 'तुम हमारे लिए उद्गाता का कर्म करो'। वाणी ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन देवताओं के लिए गान किया। उसने वाणी में जो भोग था, उसे देवताओं के लिए गान किया और जो कल्याणकारक भाषण करती थी, उसे अपने लिए गाया। तब असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा ही देवगण हमें जीतेंगे। अतः असुरों ने वाणी के पास जाकर उसे पाप से वेध डाला। यह जो वाणी निषिद्ध भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है॥२॥

दोषनिमित्तत्वे सत्यपि यथा काम्याग्निहोत्रस्य शास्त्रविहितत्वात्सायंप्रातःकालाद्य-पेक्षत्वमेवम्।

तद्भोजनादिप्रवृतौ नियमवत्स्यादिति चेत्। न, नियमस्याक्रियात्वात्क्रिया-याश्चाप्रयोजकत्वान्नासौ ज्ञानस्यापवादकरः।

तस्मात्परमात्मयाथात्म्यज्ञानविधेरपि तद्विपरीतस्थूलद्वैतादिज्ञाननिवर्तकत्वा-त्सामर्थ्यात्सर्वकर्मप्रतिषेधविध्यर्थत्वं संपद्यते। कर्मप्रवृत्त्यभावस्य तुल्यत्वाद्यथा प्रतिषेधविषये। तस्मात्प्रतिषेधविधिवच्चा वस्तुप्रतिपादनं तत्परत्वं च सिद्धं शास्त्रस्य॥१॥

ते देवा **हैवं** विनिश्चित्य **वाचं** वागभिमानिनीं देवता**मूचु**रुक्तवन्तः। **त्वं नो**ऽस्मभ्यमु**द्गायौ**द्गात्रं कर्म कुरुष्व। वाग्देवतानिर्वर्त्यमौद्गात्रं कर्म दृष्टवन्तः। तामेव च वाचं देवतां जपमन्त्राभिधेयां''असतो मा सद्गमय''इति। अत्र चोपासनायाः कर्मणश्च

कर्तृत्वेन वागादय एव विवक्ष्यन्ते। कस्मात्? यस्मात्परमार्थतस्तत्कर्तृकस्तद्विषय एव च सर्वो ज्ञानकर्मसंव्यवहारः। वक्ष्यति हि ''ध्यायतीव लेलायतीव'' इत्यात्मकर्तृकत्वाभावं विस्तरतः षष्ठे। इहापि चाध्यायान्त उपसंहरिष्यत्यव्याकृतादिक्रियाकारकफलजातम् ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'' इत्यविद्याविषयम्। अव्याकृतात्तु यत्परं परमात्माख्यं विद्याविषयमनामरूपकर्मात्मकं ''नेति नेति'' इतीतरप्रत्याख्यानेनोपसंहरिष्यति पृथक्। यस्तु वागादिसमाहारोपाधिपरिकल्पितः संसार्यात्मा, तं च वागादिसमाहारपक्षपातिनमेव दर्शयिष्यति ''एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'' इति। तस्माद्युक्ता वागादीनामेव ज्ञानकर्मकर्तृत्वफलप्राप्तिविवक्षा।

तथेति तथाऽस्त्विति देवैरुक्ता **वाक्तेभ्यो**ऽर्थिभ्योऽर्थायो**दगायद**द्गानं कृतवती। कः पुनरसौ देवेभ्योऽर्थायोद्गानकर्मणा वाचा निर्वर्तितः कार्यविशेष इति? उच्यते— **यो वाचि** निमित्तभूतायां वागादिसमुदायस्य य उपकारो निष्पद्यते वदनादिव्यापारेण, स एव। सर्वेषां ह्यसौ वाग्वदनाभिनिर्वृत्तो **भोगः** फलम्। **तं** भोगं सा त्रिषु पवमानेषु कृत्वाऽवशिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु वाचनिकमार्त्विज्यं फलं **यत्कल्याणं** शोभनं **वदति** वर्णानभिनिर्वर्तयति **तदात्मने** मह्यमेव। तद्ध्यसाधारणं वाग्देवतायाः कर्म यत्सम्यग्वर्णानामुच्चारणमतस्तदेव विशेष्यते यत्कल्याणं वदतीति। यत्तु वदनकार्यं सर्वसंघातोपकारात्मकं तद्याजमानमेव।

तत्र कल्याणवदनात्मसंबन्धासङ्गावसरं देवताया रन्ध्रं प्रतिलभ्य **ते विदुरसुराः**, कथम्? **अनेनोद्गात्रा नो**ऽस्मान्स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म चाभिभूयातीत्य शास्त्रजनितकर्मज्ञानरूपेण ज्योतिषोद्गात्रात्मना**ऽत्येष्यन्त्य**तिगमिष्यन्ती**त्ये**वं विज्ञाय **तमुद्गातारमभिद्रुत्या**भिगम्य स्वेनाऽऽसङ्गलक्षणेन **पाप्मनाऽविध्यं**स्ताडितवन्तः संयोजितवन्त इत्यर्थः। **स यः स पाप्मा** यः प्रजापतेः पूर्वजन्मावस्थस्य वाचि क्षिप्तः स एष प्रत्यक्षीक्रियते। कोऽसौ? **यदेवेदमप्रतिरूपम**ननुरूपं शास्त्रप्रतिषिद्धं **वदति** येन प्रयुक्तोऽसभ्यबीभत्सानृताद्यनिच्छन्नपि वदति। अनेन कार्येणाप्रतिरूपवदनेनानुगम्यमानः प्रजापतेः कार्यभूतासु प्रजासु वाचि वर्तते। स एवाप्रतिरूपवदनेनानुमितः **स** प्रजापतेर्वाचि गतः **पाप्मा**, कारणानुविधायि हि कार्यमिति॥२॥

(1) असभ्यं = स्त्रीवर्णनादि सभानर्ह। बीभत्सं = भयानक प्रेतादिवर्णनम्।
अनृतं = अयथादृष्टवचनम्। अदिना पिशुनवं सृह्यते
सम (=) नहिं असत्य पातक पुंजा। गिरि (सुमेरु) सम होइ की कोटिक गुंजा।

(उद्गान कर्ता घ्राणादि का पाप विद्ध होना).

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥३ ॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः

फिर देवताओं ने घ्राण से कहा — "तू हमारे लिए उद्गान कर"। तब घ्राण ने "तथास्तु" कह कर उन देवताओं के लिये उद्गान किया। घ्राण में जो भोग है, उसे उसने देवताओं के लिए गान किया और जो कुछ अच्छी गन्ध सूँघता है, उसे उसने अपने लिए गाया। असुरों को इस बात का ज्यों ही पता लगा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमें जीतेंगे, त्यों ही असुरों ने उस घ्राण के समीप जाकर उसे पाप से वेध डाला। अतएव जो अननुरूप सूँघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है॥३॥

फिर देवताओं ने चक्षु से कहा — "तू हमारे लिए उद्गान कर"। तब चक्षु ने "तथास्तु" कह कर उनके लिए उद्गान किया- अर्थात् चक्षु में जो भोग है, उसे चक्षु ने देवताओं के लिए गाया और जो शुभ दर्शन करता है, उसे उसने अपने लिए गाया। असुरों को ज्यों ही यह मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतेंगे, त्यों

तथैव घ्राणादिदेवता उद्गीथनिर्वर्तकत्वाज्जपमन्त्रप्रकाश्या उपास्याश्चेति क्रमेण परीक्षितवन्तः। देवानां चैतन्निश्चितमासीत्। वागादिदेवताः क्रमेण परीक्ष्यमाणाः कल्याणविषयविशेषात्मसंबन्धासङ्गहेतोरासुरपाप्मसंसर्गादुद्गीथनिर्वर्तना-

स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्य-त्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ॥५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ

ही असुरों ने चक्षु के पास जाकर उसे वेध डाला। यह जो निषिद्धरूप को देखता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है॥४॥

फिर देवताओं ने श्रोत्र से कहा "तू हमारे लिए उद्गान कर"। तब श्रोत्र ने "तथास्तु" कहकर उन देवताओं के लिए उद्गान किया। श्रोत्र में जो भोग है, उसे उस श्रोत्र ने देवताओं के लिए घोषणा की और जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिए गाया। असुरों ने जब जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीतेंगे, तब उस श्रोत्र के पास जाकर असुरों ने उसे पाप से वेध डाला, यह जो निषिद्ध शब्द का श्रवण करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है॥५॥

फिर देवताओं ने मन से कहा — "तू हमारे लिए उद्गान कर"। तब मन ने "तथास्तु" कह कर उन देवताओं के लिए उद्गान किया। मन में जो भोग है, उसे मन ने देवताओं

समर्थाः। अतोऽनभिधेया "असतो मा सद्गमय"इत्यनुपास्याश्चाशुद्धत्वादितराव्या-पकत्वाच्चेति। एवमु खल्वनुक्ता अप्येतास्त्वगादिदेवताः कल्याणाकल्याण-

संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा-
ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स
पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति स एव स
पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः
पाप्मनाऽविध्यन्॥६॥

उद्गान कर्ता मुख्य प्राण का पाप विद्ध न होना एवं उसके उपासना का फल

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति
तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा-
ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन्स यथा-
ऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳ-
समाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन्पराऽसुरा

के लिए घोषित किया और वह जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसे अपने लिए गाया। असुरों को ज्यों ही मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा हमें जीतेंगे, त्यों ही मन के पास जाकर असुरों ने उसे पाप से वेध डाला। यह जो निषिद्ध सङ्कल्प करता है, यही वह पाप है। इस प्रकार निःसंदेह ही इन देवताओं को पाप का संसर्ग हुआ और ऐसे ही असुरों ने इसे पाप से वेध डाला॥६॥

इसके बाद मुख के छिद्र में रहने वाले प्राण से देवताओं ने कहा — "तू हमारे लिए उद्गान कर", तब "तथास्तु" कह कर इस प्राण ने शरणागत देवताओं के लिए

कार्यदर्शनादेवं वागादिवद्देवैनाः पाप्मनाऽविध्यन्पाप्मना विद्धवन्त इति यदुक्तं तत्पाप्मभिरुपासृजन्पाप्मभिः संसर्गं कृतवन्त इत्येतत्॥३॥४॥५॥६॥

वागादिदेवता उपासीना अपि मृत्व्वतिगमनायाशरणाः सन्तो देवाः क्रमेण। **अथानन्तरं** हेममित्यभिनयप्रदर्शनार्थम्। **आसन्यमास्ये** भवमासन्यं मुखान्तर्बिलस्थं

भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद॥७॥

उद्गान किया, असुरों ने जब जाना कि, इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमें जीत लेंगे। तब उन्होंने मुख्य प्राण के पास जाकर उसे पाप से वेधना चाहा — किन्तु जैसे पत्थर से टकराने पर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही वे असुर लोग भी प्राण से टकराने पर विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये। तब से देवगण स्वस्थ हो गये और असुरों का पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापति स्वरूप अपने रूप से स्थित होता है और उससे द्वेष करने वाला सौतेला भाई पराभव (हार) को प्राप्त करता है॥७॥

प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति। **तथेत्येवं** शरणमुपगतेभ्यः स **एष प्राणो** मुख्य **उदगायदित्यादि** पूर्ववत्। **पाप्मनाऽविव्यत्सन्** बेधनं कर्तुमिष्टवन्तस्ते च दोषासंसर्गिणं सन्तं मुख्यं प्राणम्। स्वेनाऽऽसङ्गदोषेण वागादिषु लब्धप्रसरास्तदभ्यासानुवृत्त्या संश्लिष्यमाणा **विनेशुर्विनष्टा** विध्वस्ताः।

कथमिवेति चेद्दृष्टान्त उच्यते — **स यथा** स दृष्टान्तो यथा लोके**ऽश्मानं** पाषाण**मृत्वा** गत्वा प्राप्य **लोष्टः** पांसुपिण्डः पाषाणचूर्णनायाश्मनि निक्षिप्तः स्वयं **विध्वंसेत** विस्रंसेत विचूर्णीभवेत्, **एवं हैव** यथाऽयं दृष्टान्त एवमेव **विध्वंसमाना** विशेषेण ध्वंसमाना **विष्वञ्चो** नानागतयो **विनेशुर्विनष्टा यतस्ततस्त**स्मादसुरविनाशाद्देवत्वप्रतिबन्धभूतेभ्यः स्वाभाविकासङ्गजनितपाप्मभ्यो वियोगादसंसर्गधर्मिमुख्यप्राणाश्रयबला**द्देवा** वागादयः प्रकृता **अभवन्**। किमभवन्। स्वं देवतारूपमग्न्याद्यात्मकं वक्ष्यमाणम्। पूर्वमप्यग्न्याद्यात्मान एव सन्तः स्वाभाविकेन पाप्मना तिरस्कृतविज्ञानाः पिण्डमात्राभिमाना आसन्। ते तत्पाप्मवियोगादुज्झित्वा पिण्डमात्राभिमानं शास्त्रसमर्पितवागाद्यग्न्याद्यात्माभिमाना बभूवुरित्यर्थः। किंच ते प्रतिपक्षभूता **असुराः पराऽभवन्नित्यनुवर्तते**। पराभूता विनष्टा इत्यर्थः।

यथा पुराकल्पेन वर्णितः पूर्वयजमानोऽतिक्रान्तकालिक एतामेवाऽऽख्यायि-

मुख्य प्राण का आङ्गिरसत्व

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्ये-ऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥८॥

तब देवताओं ने कहा — जिसने हमें इस प्रकार देवभाव को प्राप्त कराया है वह कहाँ है? ऐसा विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि यह मुख के ही भीतर है। अतः यह अयास्य (किसी का आश्रय न लेने के कारण) आङ्गिरस है, क्योंकि यही भूत और इन्द्रियादि अङ्गों का रस है॥८॥

कारूपां श्रुतिं दृष्ट्वा तेनैव क्रमेण वागादिदेवताः परीक्ष्य ताश्चापोह्याऽऽसङ्गपाप्मास्पद-दोषवत्त्वेनादोषास्पदं मुख्यं प्राणमात्मत्वेनोपगम्य वागाद्याध्यात्मिकपिण्डमात्रपरि-च्छिन्नात्माभिमानं हित्वा वैराजपिण्डाभिमानं वागाद्यग्न्याद्यात्मविषयं वर्तमानप्रजा-पतित्वं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपन्नस्तथैवायं यजमानस्तेनैव विधिना भवति प्रजा-पतिस्वरूपेणाऽऽत्मना, परा चास्य प्रजापतित्वप्रतिपक्षभूतः पाप्मा **द्विषन्भ्रातृव्यो भवति**। यतोऽद्वेष्टाऽपि भवति कश्चिद्भ्रातृव्यो भरतादितुल्यो, यस्त्विन्द्रियविषया-सङ्गजनितः पाप्मा **भ्रातृव्यो** द्वेष्टा च। पारमार्थिकात्मस्वरूपतिरस्करणहेतुत्वात्। स च **पराभवति** विशीर्यते लोष्टवत्प्राणपरिष्वङ्गात्। कस्यैतत्फलमित्याह — **य एवं वेद**। यथोक्तं प्राणमात्मत्वेन प्रतिपद्यते पूर्वयजमानवदित्यर्थः ॥७॥

फलमुपसंहृत्याधुनाऽऽख्यायिकारूपमेवाऽऽश्रित्याऽऽह। कस्माच्च हेतोर्वा-गादीन्मुक्त्वा मुख्य एव प्राण आत्मत्वेनाऽऽश्रयितव्य इति तदुपपत्तिनिरूपणाय यस्मादयं वागादीनां पिण्डादीनां च साधारण आत्मेत्येतमर्थमाख्यायिकया दर्शयन्त्याह श्रुतिः। **ते** प्रजापतिप्राणा मुख्येन प्राणेन परिप्रापितदेवस्वरूपा **होचुरुक्तवन्तः** फलावस्थाः। किमित्याह। **क्व न्विति** वितर्के। **क्व नु** कस्मिन्नु **सोऽभूत्**। कः। **यो नोऽस्मानित्थमेवमसक्त** सञ्जितवान्देवभावमात्मत्वेनोपगमितवान्। स्मरन्ति हि लोके केनचिदुपकृता उपकारिणं, लोकवदेव स्मरन्तो विचारयमाणाः कार्यकरणसंघाते आत्मन्येवोपलब्धवन्तः।

रामो विग्रहवान् धर्मः॥ रावण को भी राम के रूप बनने पर सारे स्त्रियाँ माँ के समान देखने लगा।

प्राण का शुद्धत्व

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद॥९॥

यह कलिकाल सकल साधन तरु · नहि आवत ज्ञान भरोसे

वह यह देवता "दूर" नामवाली है, क्योंकि इस प्राण देवता से आसक्तिरूप मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है उससे मृत्यु दूर रहता है॥९॥

कथम्? **अयमास्येऽन्तरिति,** आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरयं प्रत्यक्षो वर्तत इति। सर्वो हि लोको विचार्याध्यवस्यति। तथा देवाः। यस्मादयमन्तराकाशे वागाद्यात्मत्वेन विशेषमनाश्रित्य वर्तमान उपलब्धो देवैः, तस्मात्स प्राणोऽयास्यो विशेषानाश्रयत्वाच्चासक्तः सञ्जितवान्वागादीन्। अत एवाऽऽङ्गिरस आत्मा कार्यकरणानाम्। कथमाङ्गिरसः? प्रसिद्धं ह्येतदङ्गानां कार्यकरणलक्षणानां **रसः** सार आत्मेत्यर्थः। कथं पुनरङ्गरसत्वं तदपाये शोषप्राप्तेरिति वक्ष्यामः। यस्माच्चायमङ्गरसत्वाद्विशेषानाश्रयत्वाच्च कार्यकरणानां साधारण आत्मा विशुद्धश्च, तस्माद्वागादीनपास्य प्राण एवाऽऽत्मत्वेनाऽऽश्रयितव्य इति वाक्यार्थः। आत्मा ह्यात्मत्वेनोपगन्तव्योऽविपरीतबोधाच्छ्रेयःप्राप्तेर्विपर्यये चानिष्टप्राप्तिदर्शनात्॥८॥

स्यान्मतं प्राणस्य विशुद्धिरसिद्धेति। ननु परिहृतमेतद्वागादीनां कल्याणवदनाद्यासङ्गवत्प्राणस्याऽऽसङ्गास्पदत्वाभावेन। बाढम्। किंत्वाङ्गिरसत्वेन वागादीनामात्मत्वोक्त्या वागादिद्वारेण शवस्पृष्टितत्स्पृष्टेरिवाशुद्धता शङ्क्यत इत्याह — शुद्ध एव प्राणः। कुतः, **सा वा एषा देवता दूर्नाम** यं प्राणं प्राप्याश्मानमिव लोष्टो विध्वस्ता असुरास्तं परामृशति सेति। सैवैषा येयं वर्तमानयजमानशरीरस्था देवैर्निर्धारिताऽयमास्येऽन्तरिति। देवता च सा स्यात्। उपासनक्रियायाः कर्मभावेन गुणभूतत्वात्। यस्मात्सा दूर्नाम दूरित्येवं ख्याता। नामशब्दः ख्यापनपर्यायः। तस्मात्प्रसिद्धाऽस्या विशुद्धिर्दूर्नामत्वात्। कुतः पुनर्दूर्नामत्वमित्याह — **दूरं** दूरे **हि** यस्मा**दस्याः** प्राणदेवताया **मृत्युः** आसङ्गलक्षणः पाप्माऽसंश्लेषधर्मित्वात्प्राणस्य समीपस्थस्यापि दूरता मृत्योस्तस्माद्दूरित्येवं ख्यातिरेवं प्राणस्य विशुद्धिर्ज्ञापिता। विदुषः फलमुच्यते — **दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति।** अस्मादेवंविदो **य एवं वेद**

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

उस इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु (स्वाभाविक अज्ञान से प्रेरित विषय संसर्ग जनित ममता) को हटा कर जहाँ इन दिशाओं का अन्त हो जाता है, वहाँ पहुंचा दिया। वहाँ इन देवताओं के पाप को मुख्य प्राण ने तिरस्कारपूर्वक निहित कर दिया। अतः ''मैं पापरूप मृत्यु से युक्त न होऊँ'' इस भय से अन्य जनों के संसर्ग में न जाय और अन्त दिशा में भी न जावे। (श्रौत विज्ञानवान् पुरुषों की सीमापर्यन्त ही दिशाओं की कल्पना की है; उनसे विरुद्ध आचरण वाले लोगों से बसा हुआ देश ही दिशाओं का अन्त है)॥१०॥

तस्मादेवमिति प्रकृतं विशुद्धिगुणोपेतं प्राणमुपास्त इत्यर्थः। उपासनं नामोपास्यार्थवादे यथा देवतादिस्वरूपं श्रुत्या ज्ञाप्यते तथा मनसोपगम्याऽऽसनं चिन्तनं लौकिकप्रत्ययाव्यवधानेन यावत्तद्देवतादिस्वरूपात्माभिमानाभिव्यक्तिरिति लौकिकात्माभिमानवत्। ''देवो भूत्वा देवानप्येति'' ''किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसि'' इत्येवमादिश्रुतिभ्यः॥९॥

सा वा एषा देवता दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवतीत्युक्तम्। कथं पुनरेवंविदो दूरं मृत्युर्भवतीति। उच्यते। एवंवित्त्वविरोधात्। इन्द्रियविषयसंसर्गासङ्गजो हि पाप्मा प्राणात्माभिमानिनो हि विरुध्यते। वागादिविशेषात्माभिमानहेतुत्वात्स्वाभाविकाज्ञानहेतुत्वाच्च। शास्त्रजनितो हि प्राणात्माभिमानस्तस्मादेवंविदः पाप्मा दूरं भवतीति युक्तं विरोधात्तदेतत्प्रदर्शयति —

सा वा एषा देवतेत्युक्तार्थम्। एतासां वागादीनां **देवतानां पाप्मानं मृत्युं** स्वाभाविकाज्ञानप्रयुक्तेन्द्रियविषयसंसर्गासङ्गजनितेन हि पाप्मना सर्वो म्रियते स ह्यतो मृत्युस्तं प्राणात्माभिमानरूपाभ्यो देवताभ्योऽपच्छिद्यापहत्य

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमप-हत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥

उस इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु को नष्टकर पुनः इन्हें आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के पार अपरिच्छिन्न आधिदैविक अग्न्यादि देवात्मभाव को प्राप्त करा दिया ॥११॥

प्राणात्माभिमानमात्रतयैव प्राणोऽपहन्तेत्युच्यते। विरोधादेव तु पाप्मैवंविदो दूरंगमो भवति। किं पुनश्चकार देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्येति? उच्यते— **यत्र** यस्मिन्नासां प्राच्यादीनां **दिशामन्तोऽ**वसानं **तत्तत्र गमयांचकार** गमनं कृतवानित्येतत्।

ननु नास्ति दिशामन्तः कथमन्तं गमितवानिति? उच्यते — श्रौतविज्ञानवज्ज-नावधिनिमित्तकल्पितत्वाद्दिशां तद्विरोधिजनाध्युषित एव देशो दिशामन्तो देशा-न्तोऽरण्यमिति यद्वदित्यदोषः। **तत्तत्र** ग**मयित्वाऽऽसां** देवतानां, **पाप्मन** इति द्वितीयाबहुवचनं, **विन्यदधाद्विविधं** न्यग्भावेनादधात्स्थापितवती प्राणदेवता, प्राणात्माभिमानशून्येष्वन्त्यजनेष्विति, सामर्थ्यादिन्द्रियसंसर्गजो हि स इति प्राण्याश्रयताऽवगम्यते। **तस्मात्तमन्त्यं जनं नेयान्न** गच्छेत्संभाषणदर्शनादिभिर्न संसृजेत्। तत्संसर्गे पाप्मना संसर्गः कृतः स्यात्पाप्माश्रयो हि सः। तज्जननिवासं चान्तं दिगन्तशब्दवाच्यं नेयाज्जनशून्यमपि जनमपि तद्देशवियुक्तमित्यभिप्रायः। **नेदिति** परिभयार्थे निपातः। इत्थं जनसंसर्गे **पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति। अनु अव अयानी**त्यनुगच्छेयमित्येवं भीतो न जनमन्तं चेयादिति पूर्वेण संबन्धः ॥१०॥

सा वा एषा देवता, तदेतत्प्राणात्मज्ञानकर्मफलं वागादीनामग्न्याद्यात्मत्व-मुच्यते। **अथैना मृत्युमत्यवहत्**। यस्मादाध्यात्मिकपरिच्छेदकरः पाप्मा मृत्युः प्राणात्मविज्ञानेनापहतस्तस्मात्स प्राणोऽपहन्ता पाप्मनो मृत्योः। तस्मात्स एव प्राण एना वागादिदेवताः प्रकृतं पाप्मानं मृत्युमतीत्यावहत्प्रापयत्स्वं स्वमपरिच्छिन्न-मग्न्यादिदेवतात्मरूपम् ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते॥१२॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते॥१३॥

विषयाशक्ति, आलस, मृत्यु है। जो प्राण में नहीं।

उस प्रसिद्ध प्राण ने वाक् देवता को (आध्यात्मिक परिच्छेदरूप मृत्यु के) पार पहुँचा दिया। जब वाणी मृत्यु से पार हुई तब वह अग्नि हो गया। वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे देदीप्यमान है॥१२॥

इसी प्रकार प्राण ने घ्राण को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ, उस समय वायु हो गया। अतः वह अतिक्रान्त-वायु मृत्यु से पार होकर वहता है॥१३॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्। स प्राणो वाचमेव प्रथमां प्रधानामित्येतत्। उद्गीथकर्मणीतरकरणापेक्षया साधकतमत्वं प्राधान्यं तस्याः। तां प्रथमामत्यवहद्वहनं कृतवान्। तस्याः पुनर्मृत्युमतीत्योढायाः किं रूपमित्युच्यते — **सा** वाग्**यदा** यस्मिन्काले पाप्मानं **मृत्युमत्यमुच्यत**तीत्यामुच्यत मोचिता स्वयमेव तदा **सोऽग्निरभवत्**सा वाक्पूर्वमप्यग्निरेव सती मृत्युवियोगेऽप्यग्निरेवाभवत्। एतावांस्तु विशेषो मृत्युवियोगे। **सोऽयमतिक्रान्तोऽग्निः परेण मृत्युं** परस्तान्मृत्यो**र्दीप्यते**। प्राङ्मोक्षान्मृत्युप्रतिबद्धोऽध्यात्मवागात्मना नेदानीमिव दीप्तिमानासीदिदानीं तु मृत्युं परेण दीप्यते मृत्युवियोगात्॥१२॥

तथा प्राणो घ्राणो वायुरभवत्। स तु पवते मृत्युं परेणातिक्रान्तः। सर्वमन्यदुक्तार्थम्॥१३॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति॥१४॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत सा दिशोऽभवथंस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवथं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद॥१६॥

फिर उस प्राण ने चक्षु को मृत्यु से पार पहुँचाया, जब चक्षु मृत्यु से पार हुआ तब वह आदित्य हो गया, क्योंकि वह यह परिच्छेद से अतिक्रान्त आदित्य मृत्यु से पार होकर तपता है॥१४॥

फिर प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु के पार पहुँचाया, जब वह मृत्यु से पार हुआ तब वह दिशा हो गया, क्योंकि वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ परिच्छेदरूप मृत्यु से परे हैं॥१५॥

फिर प्राण ने मन को मृत्यु के पार पहुँचाया, वह मन जिस समय मृत्यु से पार हुआ उस समय वह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा परिच्छेदरूप मृत्यु से परे प्रकाशित होता है। ऐसे ही यह देवता उस उपासक को मृत्यु के पार ले जाता है, जो कोई इसे इस प्रकार जानता है॥१६॥

तथा चक्षुरादित्योऽभवत्स तु तपति॥१४॥

तथा श्रोत्रं दिशोऽभवन्। दिशः प्राच्यादिविभागेनावस्थिताः॥१५॥

मनश्चन्द्रमा भाति। यथा पूर्वयजमानं वागाद्यग्न्यादिभावेन मृत्युमत्यवहत्। एवमेनं वर्तमानयजमानमपि ह वा एषा प्राणदेवता मृत्युमतिवहति वागाद्यग्न्यादि-

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति॥१७॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभि-

फिर उस प्राण ने अपने लिये खाने योग्य भक्ष्य का आगान किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता है। इसीलिये उन अन्न में प्राण प्रतिष्ठित होता है॥१७॥

वे वागादि देवगण बोले — यह जो अन्न है, सब तो इतना ही है, उसे तूने अपने

भावेनैवं यो वागादिपञ्चकविशिष्टं प्राणं वेद। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः॥१६॥

अथाऽऽत्मने। यथा वागादिभिरात्मार्थमागानं कृतं, तथा मुख्योऽपि प्राणः सर्वप्राणसाधारणं प्राजापत्यफलमागानं कृत्वा, त्रिषु पवमानेष्वथानन्तरं शिष्टेषु नवसु स्तोत्रेष्**वात्मन** आत्मार्थम**न्नाद्य**मन्नं च तदाद्यं चान्नाद्यमा**गायत्**। कर्तुः कामसंयोगो वाचनिक इत्युक्तम्। कथं पुनस्तदन्नाद्यं प्राणेनाऽऽत्मार्थमागीतमिति गम्यत इत्यत्र हेतुमाह। **यत्किंचे**ति सामान्यान्नमात्रपरामर्शार्थः। **ही**ति हेतौ। यस्माल्लोके प्राणिभिर्यत्किंचिद**न्नमद्यते** भक्ष्यते तद**नेनै**व प्राणेनैव। अन इति प्राणस्याऽऽख्या प्रसिद्धा। अनःशब्दः सान्तः शकटवाची, यस्त्वन्यः स्वरान्तः स प्राणपर्यायः। प्राणेनैव **तदद्यत** इत्यर्थः। किंच न केवलं प्राणेनाद्यत एवान्नाद्यं तस्मिञ्छरीराकारपरिणतेऽन्नाद्ये **इह प्रतितिष्ठति** प्राणस्तस्मात्प्राणेनाऽऽत्मनः प्रतिष्ठार्थमागीतमन्नाद्यम्। यदपि प्राणेनान्नादनं तदपि प्राणस्य प्रतिष्ठार्थमेवेति न वागादिष्विव कल्याणासङ्गजपाप्मसंभवः प्राणेऽस्ति॥१७॥

ते देवाः। नन्ववधारणमयुक्तं "प्राणेनैव तदद्यत" इति। वागादीनामप्यन्न-

संविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त। तस्मा-द्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्य-न्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद, य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूर्षति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैत-मनु भवति यो वैतमनु भार्यान्बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति॥१८॥

लिये आगान कर लिया है। इसलिए अब हमें भी इस अन्न में साझीदार बनाओ। प्राण ने कहा, वे तुम लोग सभी ओर से मुझमें प्रवेश कर जाओ; तब "तथास्तु" कह कर वे वागादि सभी ओर से उस प्राण में प्रवेश कर गये। अतः प्राण के द्वारा यह जीव जो भी अन्न खाता है, उससे ये वागादि प्राण भी तृप्त हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है, उसका आश्रय सम्बन्धी-जन सभी ओर से ग्रहण करते हैं; वह स्वजनों का भर्ता, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलने वाला हो जाता है। तथा अन्न भक्षण करने वाला सबका अधिपति हो जाता है। सम्बन्धियों में से जो भी ऐसे उपासक के प्रति विरुद्ध होना चाहता है, वह अपने आश्रितों का पोषण करने में समर्थ नहीं होता और जो कोई भी इनके अनुकूल रहकर अपने शरणागतों का भरण करना चाहता है, वह निश्चय ही अपने शरणागतों के भरण-पोषण में सक्षम हो जाता है॥१८॥

निमित्तोपकारदर्शनात्? नैष दोषः। प्राणद्वारत्वात्तदुपकारस्य। कथं प्राणद्वारकोऽन्नकृतो वागादीनामुपकार इत्येतमर्थं प्रदर्शयन्नाह — **ते** वागादयो **देवाः** स्वविषयद्योतनाद्देवा **अब्रुवन्**नुक्तवन्तो मुख्यं प्राणमिदमे**तावत्**नातोऽधिकमस्ति। **वा** इति स्मरणार्थः। **इदं तत्सर्वमे**तावदेव, किं? **यदन्नं** प्राणस्थितिकरमद्यते लोके। **तत्सर्वमात्मन** आत्मार्थमा**गासी**रागीतवानस्यागानेनाऽऽत्मसात्कृतमित्यर्थः। वयं चान्नमन्तरेण स्थातुं नोत्सहामहे। अतो**ऽनु** पश्चा**न्नो**ऽस्मान**स्मिन्नन्ने** आत्मार्थे तवात्र **आभजस्वा**ऽऽ-भाजयस्व। णिचोऽश्रवणं छान्दसम्। अस्मांश्चान्नभागिनः कुरु। इतर आह — **ते** यूयं

(प्राण के अङ्गिरसत्व की उत्पत्ति)

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसस्तस्माद्य-

यह प्राण "अयास्य" आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गों का सार है, अङ्गों का रस

यद्यन्नार्थिनो **वै मा माम्भिसंविशत** समन्ततो मामाभिमुख्येन निविशतेत्येव-मुक्तवति प्राणे **तथेत्येव**मिति **तं** प्राणं **परिसमन्तं** परिसमन्तान्**न्यविशन्त** निश्चयेनाविशन्त तं प्राणं परिवेष्ट्य निविष्टवन्त इत्यर्थः। तथा निविष्टानां प्राणानुज्ञया तेषां प्राणेनैवाद्यमानं प्राणस्थितिकरं सदन्नं तृप्तिकरं भवति, न स्वातन्त्र्येणान्न-संबन्धो वागादीनाम्। तस्माद्युक्तमेवावधारणमनेनैव तदद्यते इति।

तदेवाऽऽह — **तस्माद्य**स्मात्प्राणाश्रयतयैव प्राणानुज्ञयाऽभिसंनिविष्टा वागादिदेवतास्तस्माद्**यदन्नमनेन** प्राणेना**त्ति** लोक**स्तेना**न्नेनैता वागाद्या**स्तृ-प्यन्ति।** वागाद्याश्रयं प्राणं यो वेद वागादयश्च पञ्च प्राणाश्रया इति **तमप्येवमेव ह वै स्वा** ज्ञातय **अभिसंविशन्ति** वागादयः इव प्राणम्। ज्ञातीनामाश्रयणीयो भवतीत्यभिप्रायः। अभिसंनिविष्टानां च **स्वानां** प्राणवदेव वागादीनां स्वान्नेन **भर्ता** भवति। तथा **श्रेष्ठः पुरो**ऽग्रत **एता** गन्ता **भवति** वागादीनामिव प्राणः। **तथाऽन्नादो**ऽनामयावीत्यर्थः। **अधिपति**रधिष्ठाय च पालयिता स्वतन्त्रः पतिः प्राणवदेव वागादीनां **य एवं** प्राणं **वेद** तस्यैतद्यथोक्तं फलं भवति। किंच **य उ हैवंविदं** प्राणविदं **प्रति स्वेषु** ज्ञातीनां मध्ये **प्रतिः** प्रतिकूलो **बुभूषति** प्रतिस्पर्धीभवितुमिच्छति सोऽसुरा इव प्राणप्रतिस्पर्धिनो **न हैवालं** न पर्याप्तो **भार्येभ्यो** भरणीयेभ्यो **भवति** भर्तुमित्यर्थः। **अथ** पुनर्य **एव** ज्ञातीनां मध्ये **एतमेवंविदं** वागादय इव प्राणम**न्वनु**गतो **भवति यो वैतमेवंविदमन्वे**-वानुवर्तयन्नेवाऽऽत्मीया**न्भार्यान्बुभूर्षति** भर्तुमिच्छति, यथैव वागादयः प्राणानु-वृत्त्याऽऽत्मबुभूर्षवः आसन्। **स हैवालं** पर्याप्तो **भार्येभ्यो** भरणीयेभ्यो **भवति** भर्तुं, नेतरः स्वतन्त्रः। सर्वमेतत्प्राणगुणविज्ञानफलमुक्तम्॥१८॥

कार्यकरणानामात्मत्वप्रतिपादनाय प्राणस्याऽऽङ्गिरसत्वमुपन्यस्तं सोऽयास्य

स्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाꣳ रसः ॥१९॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पति-स्तस्मादु बृहस्पतिः ॥२०॥

प्राण ही है, निःसन्देह अङ्गों का रस प्राण ही है, क्योंकि जिस किसी अङ्ग से जब प्राण निकल जाता है, तब वह अङ्ग सूख जाता है। अतः प्राण ही सब अङ्गों का रस है ॥१९॥

यह प्राण ही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है, उस वाक् का यह प्राण, पति है। इसलिए यह बृहस्पति है ॥२०॥

आङ्गिरस इति। अस्माद्धेतोरयमाङ्गिरस इत्याङ्गिरसत्वे हेतुर्नोक्तस्तद्धेतुसिद्ध्यर्थमिद-मारभ्यते। तद्धेतुसिद्ध्यायत्तं हि कार्यकरणात्मत्वं प्राणस्य। अनन्तरं च वागादीनां प्राणाधीनतोक्ता। सा च कथमुपपादनीयेत्याह —

सोऽयास्य आङ्गिरस इत्यादि यथोपन्यस्तमेवोपादीयते उत्तरार्थम्। **प्राणो वा अङ्गानां रस** इत्येवमन्तं वाक्यं यथाव्याख्यातार्थमेव पुनः स्मारयति। कथं? **प्राणो वा अङ्गानां रस** इति? **प्राणो हि**। **हि**शब्दः प्रसिद्धौ। **अङ्गानां रसः**, प्रसिद्धमेतत्प्राणस्याङ्गरसत्वं, न वागादीनाम्। तस्माद्युक्तं प्राणो वा इति स्मारणम्। कथं पुनः प्रसिद्धत्वमित्यत आह। **तस्मा**च्छब्द उपसंहारार्थः उपरित्वेन संबध्यते। **यस्माद्**यतोऽवयवात्कस्मादनुक्तविशेषात्। **यस्मात्कस्माद्**यतः कुतश्चिच्चा**ङ्गा**च्छरीरावयवादविशेषितात्**प्राण उत्क्राम**त्यपसर्पति **तदेव** तत्रैव **तदङ्गं शुष्यति** नीरसं भवति शोषमुपैति। तस्मा**देष हि वा अङ्गानां रस** इत्युपसंहारः। अतः कार्यकरणानामात्मा प्राण इत्येतत्सिद्धम्। आत्मापाये हि शोषो मरणं स्यात्तस्मात्तेन जीवन्ति प्राणिनः सर्वे। तस्मादपास्य वागादीन्प्राण एवोपास्य इति समुदायार्थः ॥१९॥

एष उ। न केवलं कार्यकारणयोरेवाऽऽत्मा प्राणो रूपकर्मभूतयोः। किं

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥२१ ॥

यह प्राण ही ब्रह्मणस्पति है, वाक् ही (यजुर्वेदरूपवाणी) है। उस ब्रह्म का यह प्राण पति है, अतएव यह ब्रह्मणस्पति है॥२१॥

तर्हि ऋग्यजुःसाम्नां नामभूतानामात्मेति सर्वात्मकतया प्राणं स्तुवन्महीकरोत्युपास्यत्वाय —

एष उ प्रकृत आङ्गिरसो **बृहस्पतिः**। कथं बृहस्पतिरिति। उच्यते— **वाग्वै बृहती** बृहतीछन्दः षट्त्रिंशदक्षरा। अनुष्टुप्च वाक्। कथम्? "वाग्वा अनुष्टुप्" इति श्रुतेः। सा च वागनुष्टुब्बृहत्यां छन्दस्यन्तर्भवति। अतो युक्तं वाग्वै बृहतीति प्रसिद्धवद्वक्तुम्। बृहत्यां च सर्वा ऋचोऽन्तर्भवन्ति प्राणसंस्तुतत्वात्। "प्राणो बृहती प्राण ऋच इत्येव विद्यात्" इति श्रुत्यन्तरात्। वागात्मत्वाच्चर्चां प्राणेऽन्तर्भावः। तत्कथमित्याह— **तस्या** वाचो बृहत्या ऋच **एष** प्राणः **पतिः**, तस्या निर्वर्तकत्वात्। कौष्ठ्याग्निप्रेरितमारुतनिर्वर्त्या हि ऋक्। पालनाद्वा वाचः पतिः, प्राणेन हि पाल्यते वाक्। अप्राणस्य शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात्। **तस्मादु बृहस्पतिर्**ऋचां प्राण आत्मेत्यर्थः ॥२०॥

तथा यजुषाम्। कथम्, **एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः। वाग्वै ब्रह्म,** ब्रह्म यजुस्तच्च वाग्विशेष एव। **तस्या** वाचो यजुषो ब्रह्मण **एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः** पूर्ववत्। कथं पुनरेतदवगम्यते बृहतीब्रह्मणोर्ऋग्यजुष्ट्वं न पुनरन्यार्थत्वमिति? उच्यते— वाचोऽन्ते सामसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्वाग्वै सामेति। तथा च वाग्वै बृहती वाग्वै ब्रह्मेति च वाक्समानाधिकरणयोर्ऋग्यजुष्ट्वं युक्तम्। परिशेषाच्च। साम्न्यभिहित ऋग्यजुषी एव परिशिष्टे। वाग्विशेषत्वाच्च वाग्विशेषौ हि ऋग्यजुषी। तस्मात्तयोर्वाचा समानाधिकरणता युक्ता। अविशेषप्रसङ्गाच्च। सामोद्गीथ इति च स्पष्टं विशेषाभिधानत्वम्। तथा बृहतीब्रह्मशब्दयोरपि विशेषा-

एष उ एव साम वाग्वै साऽम् एष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां य एवमेतत्साम वेद॥२२॥

यह प्राण ही साम है। उसमें वाक् ही "सा" और यह प्राण "अम" है। "सा" और "अम" ही साम है; वही साम का सामत्व है, क्योंकि यह प्राण मक्खी के समान है, मच्छर के समान है, हस्ती के समान है। यह त्रिलोकी के समान है। (किंबहुना) यह सभी के समान है, इसलिये तो यह साम है। जो इस साम को इस प्रकार जानता है, वह साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है॥२२॥

भिधानत्वं युक्तम्। अन्यथाऽनिर्धारितविशेषयोरानर्थक्यापत्तेश्च विशेषाभिधानस्य वाङ्मात्रत्वे चोभयत्र पौनरुक्त्यात्। ऋग्यजुःसामोद्गीथशब्दानां च श्रुतिष्वेवंक्रमदर्शनात्॥२१॥

इति द्वितीयाह्निकम्॥२॥

❀❀❀

एष उ एव साम। कथमित्याह— **वाग्वै सा** यत्किंचित्स्त्रीशब्दाभिधेयं सा वाक्। सर्वस्त्रीशब्दाभिधेयवस्तुविषयो हि सर्वनाम-साशब्दः। तथा**ऽम एष प्राणः**। सर्वपुंशब्दाभिधेयवस्तुविषयोऽमःशब्द। "केन मे पौंस्नानि नामान्याप्नोषीति प्राणेनेति ब्रूयात्केन मे स्त्रीनामानीति वाचा" इति श्रुत्यन्तरात्। वाक्प्राणाभिधानभूतोऽयं सामशब्दः। तथा प्राणनिर्वर्त्यस्वरादिसमुदायमात्रं गीतिः सामशब्देनाभिधीयते। अतो न प्राणवाग्व्यतिरेकेण सामनामास्ति किंचित्स्वरवर्णादेश्च प्राणनिर्वर्त्यत्वात्प्राणतन्त्रत्वाच्च। एष उ एव प्राणः साम यस्मात्साम सामेति वाक्प्राणात्मकं **सा चामश्चेति तत्तस्मात्साम्नो** गीतिरूपस्य स्वरादिसमुदायस्य **सामत्वं** तत्प्रगीतं भुवि।

यदु एव समस्तुल्यः सर्वेण वक्ष्यमाणेन प्रकारेण तस्माद्वा सामेत्यनेन

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्व-मुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

यह प्राण ही उद्गीथ है, प्राण ही "उत्" है, क्योंकि प्राण से ही यह जगत् ऊपर की ओर धारण किया हुआ है। वाक् ही "गीथा" है, वह प्राण "उत्" है और यह गीथा प्राणतन्त्रा वाक् भी है। अतः (दोनों का एक शब्द से कथन होने के कारण) उद्गीथ है॥२३॥

संबन्धः। वाशब्दः सामशब्दलाभनिमित्तप्रकारान्तरनिर्देशसामर्थ्यलभ्यः। केन पुनः प्रकारेण प्राणस्य तुल्यत्वमित्युच्यते— **समः प्लुषिणा** पुत्तिकाशरीरेण **समो मशकेन** मशकशरीरेण **समो नागेन** हस्तिशरीरेण **सम एभिस्त्रिभिर्लोकैस्**त्रैलोक्यशरीरेण प्राजापत्येन **समोऽनेन** जगद्रूपेण हैरण्यगर्भेण, पुत्तिकादिशरीरेषु गोत्वादिवत्कार्त्स्न्येन परिसमाप्त इति समत्वं प्राणस्य। न पुनः शरीरमात्रपरिमाणेनैवामूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्च। न च घटप्रासादादिप्रदीपवत्सङ्कोचविकासितया शरीरेषु तावन्मात्रं समत्वम्। "त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" इति श्रुतेः। सर्वगतस्य तु शरीरेषु शरीरपरिमाणवृत्तिलाभो न विरुध्यते। एवं समत्वात्सामाख्यं प्राणं वेद यः श्रुतिप्रकाशितमहत्त्वं, तस्यैतत्फलम**श्नुते** व्याप्नोति **साम्नः** प्राणस्य **सायुज्यं** सयुग्भावं समानदेहेन्द्रियाभिमानत्वं **सालोक्यं** समानलोकतां वा भावनाविशेषतो **य एवमेत**द्यथोक्तं **साम** प्राणं **वेद**। आ प्राणात्माभिमानाभिव्यक्तेरुपास्त इत्यर्थः॥२२॥

एष उ वा उद्गीथः। उद्गीथो नाम सामावयवो भक्तिविशेषो, नोद्गानम्। सामाधिकारात्। कथमुद्गीथः प्राणः? **प्राणो वा उत्प्राणेन हि** यस्मादिदं **सर्वं** जगद**ुत्तब्ध**मूर्ध्वं स्तब्धमुत्तम्भितं विधृतमित्यर्थः। उत्तब्धार्थावद्योतकोऽयमुच्छब्दः प्राणगुणाभिधायकः। तस्मादुत्प्राणो **वागेव गीथा** शब्दविशेषत्वादुद्गीथभक्तेः। गायतेः शब्दार्थत्वात्सा वागेव। न ह्युद्गीथभक्तेः शब्दव्यतिरेकेण किञ्चिद्रूपमुपलभ्यते

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति॥२४॥

उक्त विषय में यह आख्यायिका भी सुनी जाती है। चिकितान के पुत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम का भक्षण करते हुये कहा— "यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक प्राण ने वाक्संयुक्त-प्राण से भिन्न देवता द्वारा उद्गान किया हो, तो (मैं मिथ्यावादी ठहरूँगा, ऐसे विपरीत ज्ञान वाला) मेरा शिर यह सोम देवता गिरा देवें"। अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, यही अर्थ इस शपथ से निश्चित होता है॥२४॥

तस्माद्युक्तमवधारणं वागेव गीथेति। उच्च प्राणो **गीथा** च प्राणतन्त्रा वागित्युभयमेकेन शब्देनाभिधीयते **स उद्गीथः**॥२३॥

उक्तार्थदार्ढ्यायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते—

तद्धापि तत्तत्रैतस्मिन्नुक्तेऽर्थे हाप्याख्यायिकाऽपि श्रूयते ह स्म। **ब्रह्मदत्तो** नामतः। चिकितानस्यापत्यं चैकितानस्तदपत्यं युवा **चैकितानेयो राजानं** यज्ञे सोमं **भक्षयन्नुवाच** किमयं चमसस्थो मया भक्ष्यमाणो **राजा त्यस्य** तस्य ममानृतवादिनो **मूर्धानं** शिरो **विपातयताद्** विस्पष्टं पातयतु। तोरयं तातङादेश आशिषि लोड्विपातयतादिति। यद्यहमनृतवादी स्यामित्यर्थः। कथं पुनरनृतवादित्वप्राप्तिरिति? उच्यते— **यद्यदीतो**ऽस्मात्प्रकृतात्प्राणाद्वाक्संयुक्तादयास्यो मुख्यप्राणाभिधायकेनायास्याङ्गिरसशब्देनाभिधीयते विश्वसृजां पूर्वर्षीणां सत्रे उद्गाता **सोऽन्येन** देवतान्तरेण वाक्प्राणव्यतिरिक्तेनो**दगायदु**द्गानं कृतवान्। ततोऽहमनृतवादी स्यां, तस्य मम देवताविपरीतप्रतिपत्तुर्मूर्धानं विपातयत्वित्येवं शपथं चकारेति विज्ञाने प्रत्ययदार्ढ्यकर्तव्यतां दर्शयति। तमिममाख्यायिकानिर्धारितमर्थं स्वेन वच-

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति, भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद॥२५॥

जो उस इस सामशब्दवाच्य मुख्यप्राण के धन को जानता है, उसे धन प्राप्त होता है। निश्चय उस साम का कण्ठगत माधुर्यरूप स्वर ही धन है। अतः ऋत्विक्कर्म उद्गान करने वाले को वाणी में स्वर की इच्छा करनी चाहिए, उस सुस्वरसम्पन्न वाणी से ऋत्विक्कर्म करे। (दन्तधावन और तैलपानादि से सुस्वरता का सम्पादन करना चाहिए।) इसी से यज्ञ में लौकिक पुरुष स्वर सम्पन्न उद्गाता को ही देखना चाहते हैं। लोक में भी जिसके पास धन होता है, उसी को लोग देखना चाहते हैं, जो इस प्रकार साम के धन को जानता है, उसे धन प्राप्त होता है॥२५॥

सोपसंहरति श्रुतिः— **वाचा च** प्राणप्रधानया **प्राणेन च** स्वस्याऽऽत्मभूतेन सोऽयास्य आङ्गिरस उद्गातो**दगाय**दित्येषोऽर्थो निर्धारितः शपथेन॥२४॥

तस्य हैतस्य। तस्येति प्रकृतं प्राणमभिसंबध्नाति। हैतस्येति मुख्यं व्यपदिशत्यभिनयेन। **साम्नः सामशब्दवाच्यस्य** प्राणस्य **यः स्वं** धनं **वेद** तस्य ह किं स्यात्? **भवति हास्य स्वम्**। फलेन प्रलोभ्याभिमुखीकृत्य शुश्रूषवे आह— **तस्य वै** साम्नः **स्वर एव स्वम्**। स्वर इति कण्ठगतं माधुर्यं तदेवास्य स्वं भूषणम्। तेन हि भूषितमृद्धिमल्लक्ष्यत उद्गानम्। यस्मादेवं **तस्मादार्त्विज्य**मृत्विक्कर्मोद्गानं **करिष्यन्वाचि** विषये वाचि वागाश्रितं **स्वरमिच्छेत** साम्नो धनवत्तां स्वरेण चिकीर्षुरुद्गाता। इदं तु प्रासङ्गिकं विधीयते साम्नः सौस्वर्येण स्वरवत्त्वप्रत्यये कर्तव्य इच्छामात्रेण सौस्वर्यं न भवतीति

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद॥२६॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति

जो उस इस साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है, जो इस प्रकार साम के सुवर्ण को जानता है उसे लौकिक सुवर्ण या स्वर प्राप्त होता है॥२६॥

जो पुरुष उस इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही उस साम की वाणी ही प्रतिष्ठा है; निःसंदेह वाक् में प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया

दन्तधावनतैलपानादिसामर्थ्यात्कर्तव्यमित्यर्थः। **तथैवं** संस्कृतया **वाचा स्वरसंपन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्। तस्माद्यस्मात्साम्नः** स्वभूतः स्वरस्तेन स्वेन भूषितं साम। अतो **यज्ञे स्वरवन्तमुद्गातारं दिदृक्षन्त एवं** द्रष्टुमिच्छन्त एव धनिनमिव लौकिकाः। प्रसिद्धं हि लोकेऽथो अपि **यस्य स्वं धनं भवति** तं धनिनं दिदृक्षन्त इति। सिद्धस्य गुणविज्ञानफलसंबन्धस्योपसंहारः क्रियते — **भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेदेति**॥२५॥

अथान्यो गुणः सुवर्णवत्तालक्षणो विधीयते। असावपि सौस्वर्यमेव। एतावान्विशेषः। पूर्वं कण्ठगतमाधुर्यमिदं तु लाक्षणिकं सुवर्णशब्दवाच्यं, **तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णम्।** सुवर्णशब्दसामान्यात्स्वरसुवर्णयोः। लौकिकमेव सुवर्णं गुणविज्ञानफलं भवतीत्यर्थः। **तस्य वै स्वर एव सुवर्णम्। भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेदेति** पूर्ववत्सर्वम्॥२६॥

तथा प्रतिष्ठागुणं विधित्सन्नाह — **तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां**

तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्ने इत्यु हैके आहुः ॥२७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा

जाता है; अर्थात् गीतिभाव को प्राप्त होता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह प्राण अन्न में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। (अतः प्राण की प्रतिष्ठा वाक् है, अथवा अन्न है ऐसी दृष्टि करें।)॥२७॥

इसके पश्चात् (इस प्रकार जानने वाले उपासक से किये जाने वाले जप का विधान किया जाता है) पवमानों का ही अभ्यारोह बतलाया जाता है। वह प्रस्तोता निश्चितरूप से साम को ही आरम्भ करता है। जब वह प्रस्ताव करे तब इनको जप करे। "असतो मा सद्गमय" "तमसो मा ज्योतिर्गमय" "मृत्योर्माऽमृतं गमय" (मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। मुझे मृत्यु से अमृत की ओर

वेद। प्रतितिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा वाक्तां प्रतिष्ठां साम्नो गुणं यो वेद स **प्रतितिष्ठति ह**। "तं यथा यथोपासते" इति श्रुतेस्तद्गुणत्वं युक्तम्। पूर्ववत्फलेन प्रलोभिताय का प्रतिष्ठेति शुश्रूषव आह- **तस्य वै साम्नो वागेव**। वागिति जिह्वामूलादीनां स्थानानामाख्या। सैव **प्रतिष्ठा**। तदाह — **वाचि हि** जिह्वामूलादिषु हि यस्मात्प्रतिष्ठितः सन्नेष **प्राण** एतद्गानं गीयते गीतिभावमापद्यते, तस्मात्साम्नः प्रतिष्ठा वाक्। **अन्ने प्रतिष्ठितो गीयत इत्यु हैकेऽन्य आहुः**। इह प्रतिष्ठितीत्युक्तम्। अनिन्दितत्वादेकीयपक्षस्य विकल्पेन प्रतिष्ठागुणविज्ञानं कुर्याद्वाग्वा प्रतिष्ठाऽन्नं वेति॥२७॥

एवं प्राणविज्ञानवतो जपकर्म विधित्स्यते। यद्विज्ञानवतो जपकर्मण्य-

असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्ये-वैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योति-रमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तꣳ स एष एवं-विदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्योद्गीथनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

ले जाओ) वह जो कहता है मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ; यहाँ असत् ही मृत्यु है और अमृत ही सत् है। अतः उसके कहने का भाव यह है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो अर्थात्— मुझे अमर कर दो। जब कहता है— मुझे अंधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो; तो यहाँ मृत्यु ही अंधेरा है और अमृत ज्योति है। अतः उसका यही कहना है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो— यानी मुझे अमर कर दो। मृत्यु से अमृत की ओर मुझे ले चलो। इसमें छिपी-सी तो कोई बात ही नहीं है, इसके बाद जो अन्य स्तोत्रों में उपासक अपने लिये अन्नाद्य का आगान करे। उनके गाये जाने पर यजमान वर माँगे और जिस भोग को वह चाहता है, उसे भी माँगे। यह इस प्रकार जानने वाला वह उद्गाता अपने अथवा यजमान के लिए जिस भोग को चाहता है, उसी का आगान करता है। वह यह प्राण उपासना सम्पूर्णलोक प्राप्ति का साधन है। जो इस प्रकार इस साम को जानता है, उसे लोक प्राप्ति की अयोग्यता की तो आशा ही नहीं है अर्थात् वह सम्पूर्ण लोकों को प्राप्त करने में समर्थ है॥२८॥

॥इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

धिकारस्तद्विज्ञानमुक्तम्। अथानन्तरं यस्माच्चैवं विदुषा प्रयुज्यमानं देवभावाभ्या-

रोहफलं जपकर्म, **अतस्तस्मा**त्तद्विधीयते इह। तस्य चोद्गीथसंबन्धात्सर्वत्र प्राप्तौ **पवमानानामि**ति वचनात्। पवमानेषु त्रिष्वपि कर्तव्यतायां प्राप्तायां पुनः कालसंकोचं करोति। **स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति। स** प्रस्तोता **यत्र** यस्मिन्काले साम **प्रस्तुया**त्प्रारभेत्। तस्मिन्काल **एतानि जपेत्**। अस्य च जपकर्मण आख्या**ऽभ्यारोह** इति। आभिमुख्येनाऽऽरोहत्यनेन जपकर्मणैवंविद्देवभावमात्मानमित्य**भ्यारोहः**। एतानीति बहुवचनात्त्रीणि यजूंषि। द्वितीयानिर्देशाद्ब्राह्मणोत्पन्नत्वाच्च यथापठित एव स्वरः प्रयोक्तव्यो न मान्त्रः। याजमानं जपकर्म।

एतानि तानि यजूंषि— '**असतो मा सद्गमय**' '**तमसो मा ज्योतिर्गमय**' '**मृत्योर्माऽमृतं गमय**' इति। मन्त्राणामर्थस्तिरोहितो भवतीति स्वयमेव व्याचष्टे ब्राह्मणं मन्त्रार्थम्। **स** मन्त्रो **यदाह** यदुक्तवान्कोऽस्यार्थ इत्युच्यते। '**असतो मा सद्गमय**' इति। **मृत्युर्वा असत्**स्वाभाविककर्मविज्ञाने मृत्युरित्युच्येते। असदत्यन्ताधोभावहेतुत्वात्। **सदमृतं** सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने, अमरणहेतुत्वादमृतम्। तस्मादसतो असत्कर्मणोऽज्ञानाच्च मा मां सच्छास्त्रीयकर्मविज्ञाने गमय देवभावसाधनात्मभावमापादयेत्यर्थः। तत्र वाक्यार्थमाह— **अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाहे**ति। तथा **तमसो मा ज्योतिर्गमये**ति। **मृत्युर्वै तमः** सर्वं ह्यज्ञानमावरणात्मकत्वात्तमस्तदेव च मरणहेतुत्वान्मृत्युः। **ज्योतिरमृतं** पूर्वोक्तविपरीतं दैवं स्वरूपम्। प्रकाशात्मकत्वाज्ज्ञानं ज्योतिस्तदेवामृतमविनाशात्मकत्वात्तस्मात्तमसो मा ज्योतिर्गमयेति। पूर्ववन्मृत्योर्माऽमृतं गमयेत्यादि। **अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाह।** दैवं प्राजापत्यं फलभावमापादयेत्यर्थः। पूर्वो मन्त्रोऽसाधनस्वभावात्साधनभावमापादयेति। द्वितीयस्तु साधनभावादप्यज्ञानरूपात्साध्यभावमापादयेति। **मृत्योर्माऽमृतं गमये**ति पूर्वयोरेव मन्त्रयोः समुच्चितोऽर्थस्तृतीयेन मन्त्रेणोच्यत इति प्रसिद्धार्थतैव। **नात्र** तृतीये मन्त्रे **तिरोहितम**न्तर्हित**मिवार्थ**रूपं पूर्वयोरिव मन्त्रयोर**स्ति** यथाश्रुत एवार्थः।

याजमानमुद्गानं कृत्वा पवमानेषु त्रिष्वथानन्तरं **यानीतराणि** शिष्टानि

स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्। प्राणविदुद्गाता प्राणभूतः प्राणवदेव यस्मात्स एष उद्गातैवं प्राणं यथोक्तं वेत्त्यतः प्राणवदेव तं कामं साधयितुं समर्थस्तस्माद्यजमानस्तेषु स्तोत्रेषु प्रयुज्यमानेषु **वरं वृणीत यं कामं कामयेत तं** कामं वरं वृणीत प्रार्थयेत। यस्मात्स **एष एवंविदुद्गातेति** तस्माच्छब्दात्प्रागेव संबध्यते। **आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयत** इच्छत्युद्गाता **तमागायत्यागानेन** साधयति।

एवं तावज्ज्ञानकर्मभ्यां प्राणात्मापत्तिरित्युक्तम्। तत्र नास्त्याशङ्कासंभवः। अतः कर्मापाये प्राणापत्तिर्भवति वा न वेत्याशङ्क्यते तदा शङ्कानिवृत्त्यर्थमाह— **तद्धैतल्लोकजिदेवेति**। **तद्ध** तदेतत्प्राणदर्शनं कर्मवियुक्तं केवलमपि **लोकजिदेवेति** लोकसाधनमेव। **न ह एवालोक्यताया** अलोकार्हत्वायाऽऽ**शा**ऽऽशंसनं प्रार्थनं **नैवास्ति** ह। न हि प्राणात्मन्युत्पन्नात्माभिमानस्य तत्प्राप्त्याशंसनं संभवति। न हि ग्रामस्थः कदा ग्रामं प्राप्नुयामित्यरण्यस्थ इवाऽऽशास्ते। असंनिकृष्टविषये ह्यनात्मन्याशंसनं न तत्स्वात्मनि संभवति। तस्मान्नाऽऽशास्ति कदाचित्प्राणात्मभावं न प्रपद्येयमिति।

कस्यैतत्? **य एवमेतत्साम** प्राणं यथोक्तं निर्धारितमहिमानं **वेदाहमस्मि** प्राण इन्द्रियविषयासङ्गैरासुरैः पाप्मभिरधर्षणीयो विशुद्धो वागादिपञ्चकं च मदाश्रयत्वादग्न्याद्यात्मरूपं स्वाभाविकविज्ञानोत्थेन्द्रियविषयासङ्गजनितासुरपाप्मदोषवियुक्तं सर्वभूतेषु च मदाश्रयान्नाद्योपयोगबन्धनमात्मा चाहं सर्वभूतानामाङ्गिरसत्वादृग्यजुःसामोद्गीथभूतायाश्च वाच आत्मा तद्व्याप्तेस्तन्निर्वर्तकत्वाच्च मम साम्नो गीतिभावमापद्यमानस्य बाह्यं धनं भूषणं सौस्वर्यं, ततोऽप्यान्तरं सौवर्ण्यं लाक्षणिकं सौस्वर्यं गीतिभावमापद्यमानस्य मम कण्ठादिस्थानानि प्रतिष्ठा। एवंगुणोऽहं पुत्तिकादिशरीरेषु कार्त्स्न्येन परिसमाप्तोऽमूर्तत्वात्सर्वगतत्वाच्चेत्याह— एवमभिमानाभिव्यक्तेर्वेदोपास्त इत्यर्थः ॥२८॥

इति प्रथमाध्यास्योद्गीथनामतृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

सृष्टि बताने के लिये चतुर्थ ब्राह्मण.

(अहं नाम का कारण तथा उपासना का फल)

। अथ प्रथमाध्यायस्य सृष्ट्यादिसर्वरूपतानामचतुर्थं ब्राह्मणम्। पुरुषविध ब्राह्मण.

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद॥१॥

सृष्टिविस्तार = अविद्या सूत्र; उपासना = विद्या सूत्र.

उत्पत्ति से पूर्व यह पुरुष की तरह शिरपादादि वाला विराडात्मा ही था। उस प्रजापति ने आलोचना करने पर भी अपने से भिन्न किसी को नहीं देखा। (सर्वात्मरूप से अपने को ही देखने के कारण इस श्रौत विज्ञानजनित संस्कार से युक्त) उस प्रजापति ने "अहमस्मि" (मैं हूँ) ऐसा कहा, इसीलिए वह 'अहम्' नाम वाला हो गया। अतएव इस समय भी सम्बोधन करने पर पहले प्रत्येक पुरुष "अयमहम्" (यह मैं हूँ) ऐसा ही कहता है। तत्पश्चात् दूसरा जो नाम होता है उसे वह बतलाता है, क्योंकि वह इन सभी से पूर्व उत्पन्न हुआ। उस पुरुषनामक प्रजापति ने समस्त पापों को जला दिया था इसलिए यह पुरुष कहलाया। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह उस अपने विपक्षी को जला देता है, जो उससे पहले प्रजापति होना चाहता है। (अर्थात् उसके विरोधी का नाश हो जाता है)॥१॥

आत्मैवेदमग्र आसीत्। ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां प्रजापतित्वप्राप्तिर्व्याख्याता। केवलप्राणदर्शनेन च तद्धैतल्लोकजिदेवेत्यादिना। प्रजापतेः फलभूतस्य सृष्टिस्थितिसंहारेषु जगतः स्वातन्त्र्यादिविभूत्युपवर्णनेन, ज्ञानकर्मणोर्वैदिकयोः फलोत्कर्षो वर्णयितव्य इत्येवमर्थमारभ्यते। तेन च कर्मकाण्डविहितज्ञानकर्मस्तुतिः कृता भवेत्सामर्थ्यात्। विवक्षितं त्वेतत्। सर्वमप्येतज्ज्ञानकर्मफलं संसार एव, भयारत्यादियुक्तत्वश्रवणात्कार्यकरणलक्षणत्वाच्च स्थूलव्यक्तानित्यविषयत्वाच्चेति। ब्रह्मविद्यायाः केवलाया वक्ष्यमाणाया मोक्षहेतुत्वमित्युत्तरार्थं चेति। न हि संसार= विषया-

त्साध्यसाधनादिभेदलक्षणादविरक्तस्याऽऽत्मैकत्वज्ञानविषयेऽधिकारोऽतृषितस्येव पाने। तस्माज्ज्ञानकर्मफलोत्कर्षोपवर्णनमुत्तरार्थम्। तथा च वक्ष्यति— ''तदेतत्पदनीयमस्य'' ''तदेतत्प्रेयः पुत्रादित्यादि''।

आत्मैवाऽऽत्मेति प्रजापतिः प्रथमोऽण्डजः शरीर्यभिधीयते। वैदिकज्ञानकर्मफलभूतः स एव किमिदं शरीरभेदजातं तेन प्रजापतिशरीरेणाविभक्त**मात्मैवाऽऽसीदग्रे** प्राक्शरीरान्तरोत्पत्तेः। **स च पुरुषविधः** पुरुषप्रकारः शिरः पाण्यादिलक्षणो विराट् **स** एव प्रथमः संभूतो**ऽनुवीक्ष्या**न्वालोचनं कृत्वा कोऽहं किंलक्षणो वाऽस्मीति **नान्यद्वस्त्वन्तरमात्मनः** प्राणपिण्डात्मकात्कार्यकरणरूपा**न्नापश्यन्न** ददर्श। केवलं त्वात्मानमेव सर्वात्मानमपश्यत्। तथा पूर्वजन्मश्रौतविज्ञानसंस्कृतः **सोऽहं** प्रजापतिः सर्वात्माऽह**मस्मीत्यग्रे व्याहरद्**व्याहृतवान्।

ततस्तस्माद्यतः पूर्वज्ञानसंस्कारादात्मानमेवाहमित्यभ्यधादग्रे, तस्माद**हंनामाभवत्त**स्योपनिषदहमिति श्रुतिप्रदर्शितमेव नाम वक्ष्यति। **तस्माद्य**स्मात्कारणे प्रजापतावेवं वृत्तं, तस्मात्तत्कार्यभूतेषु प्राणिष्वे**तर्ह्ये**तस्मिन्नपि काल **आमन्त्रितः** कस्त्वमित्युक्तः **सन्नहमयमित्येवाग्र उक्त्वा** कारणात्माभिधानेनाऽऽत्मानमभिधायाग्रे पुनर्विशेषनामजिज्ञासवे**ऽथा**नन्तरं विशेषपिण्डाभिधानं देवदत्तो यज्ञदत्तो वेति **प्रब्रूते** कथयति **यन्नामास्य** विशेषपिण्डस्य मातापितृकृतं **भवति** तत्कथयति।

स च प्रजापतिः पूर्वजन्मनि सम्यक्कर्मज्ञानभावनानुष्ठानैः साधकावस्थायां यद्यस्मात्कर्मज्ञानभावनानुष्ठानैः प्रजापतित्वं प्रतिपित्सूनां **पूर्वः** प्रथमः **सन्नस्मात्**प्रजापतित्वप्रतिपित्सुसमुदायात्**सर्वस्मादादावौषद**दहत्किमासङ्गाज्ञानलक्षणान्**सर्वान्पाप्मनः** प्रजापतित्वप्रतिबन्धकारणभूतान्। यस्मादेवं **तस्मात्पुरुषः पूर्वमौषद**िति पुरुषः।

यथाऽयं प्रजापतिरोषित्वा प्रतिबन्धकान्पाप्मनः सर्वान्पुरुषः प्रजापतिरभवत्। एवमन्योऽपि ज्ञानकर्मभावनानुष्ठानवह्निना केवलं ज्ञानबलाद्**वोषति** भस्मीकरोति

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति॥२॥

वह पुरुषाकार प्रथम शरीरी प्रजापति भयभीत हो गया। इसीलिए आज भी अकेला पुरुष डरता है। पुनः उस प्रजापति ने यह विचार किया, यदि मुझसे भिन्न कोई नहीं है तो फिर मैं किससे डरता हूँ? इतना विचार करते ही उसका भय जाता रहा, क्योंकि भय का कोई कारण दीखता नहीं था। भय तो सदा दूसरे से होता है (आत्मैकत्व दर्शन से प्रजापति का भय मिट गया। अतः आज भी आत्मैकत्व दर्शन ही भय से मुक्त कराने वाला है)॥२॥

ह वै स तं कं योऽस्माद्विदुषः पूर्वः प्रथमः प्रजापतिर्**बुभूषति** भवितुमिच्छति तमित्यर्थः। तं दर्शयति–**य एवं वेदे**ति सामर्थ्याज्ज्ञानभावनाप्रकर्षवान्। नन्वनर्थाय प्राजापत्यप्रतिपित्सैवंविदा चेद्दह्यते? नैष दोषः। ज्ञानभावनोत्कर्षाभावात्प्रथमं प्रजापतित्वप्रतिपत्त्यभावमात्रत्वाद्दाहस्य। उत्कृष्टसाधनः प्रथमं प्रजापतित्वं प्राप्नुवन्न्यूनसाधनो न प्राप्नोतीति स तं दहतीत्युच्यते, न पुनः प्रत्यक्षमुत्कृष्टसाधनेनेतरो दह्यते। यथा लोके आजिसृतां यः प्रथममाजिमुपसर्पति तेनेतरे दग्धा इवापहृतसामर्थ्या भवन्ति तद्वत्॥१॥

यदिदं तुष्टूषितं कर्मकाण्डविहितज्ञानकर्मफलं प्राजापत्यलक्षणं नैव तत्संसारविषयमत्यक्रामदितीममर्थं प्रदर्शयिष्यन्नाह—

सोऽबिभेत्स प्रजापतिर्योऽयं प्रथमः शरीरी पुरुषविधो व्याख्यातः, **सोऽबिभे**द्भीतवानस्मदादिवदेवेत्याह। यस्मादयं पुरुषविधः शरीरकरणवानात्मनाशविपरीतदर्शनवत्त्वादबिभे**त्तस्मा**त्तत्सामान्यादद्यत्वेऽप्ये**काकी बिभेति**। किंचास्मदादिवदेव भयहेतुविपरीतदर्शनापनोदकारणं यथाभूतात्मदर्शनं **सोऽयं** प्रजापति**रीक्षामीक्षणं चक्रे** कृतवान्ह स्म। कथमित्याह—**यद्यस्मान्मत्तोऽन्यदा**त्मव्यति-

रेकेण वस्त्वन्तरं प्रतिद्वंद्वीभूतं **नास्ति**, तस्मिन्नात्मविनाशहेत्वभावे **कस्मान्नु बिभेमीति**।

तत एव यथाभूतात्मदर्शनादेवास्य प्रजापतेर्**भयं वीयाय** विस्पष्टमपगतवत्। तस्य प्रजापतेर्यद्भयं तत्केवलाविद्यानिमित्तमेव, परमार्थदर्शनेऽनुपपन्नमित्याह—**कस्माद्ध्यभेष्यत्**किमित्यसौ भीतवान्परमार्थनिरूपणायां भयमनुपपन्नमेवेत्यभिप्रायः। यस्माद्द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्**द्वै भयं भवति**। द्वितीयं च वस्त्वन्तरमविद्याप्रत्युपस्थापितमेव। नह्यदृश्यमानं द्वितीयं भयजन्मनो हेतुः, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति मन्त्रवर्णात्। यच्चैकत्वदर्शनेन भयमपनुनोदापनोदितं तद्युक्तम्। कस्मात्? द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं भवति, तदेकत्वदर्शनेन द्वितीयदर्शनमपनीतमिति नास्ति यतः।

अत्र चोदयन्ति—कुतः प्रजापतेरेकत्वदर्शनं जातं, को वाऽस्मा उपदिदेश। अथानुपदिष्टमेव प्रादुरभूत्। अस्मदादेरपि तथा प्रसङ्गः। अथ जन्मान्तरकृतसंस्कारहेतुकम्। एकत्वदर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः। यथा प्रजापतेरतिक्रान्तजन्मावस्थस्यैकत्वदर्शनं विद्यमानमप्यविद्याबन्धकारणं नापनिन्ये। यतोऽविद्यासंयुक्त एवायं जातोऽबिभेत्। एवं सर्वेषामेकत्वदर्शनानर्थक्यं प्राप्नोति। अन्त्यमेव निवर्तकमिति चेत्। न। पूर्ववत्पुनः प्रसङ्गेनानैकान्त्यात्। तस्मादनर्थकमेवैकत्वदर्शनमिति। व्यभिचार.

नैष दोषः। उत्कृष्टहेतूद्भवत्वाल्लोकवत्। यथा पुण्यकर्मोद्भवैर्विविक्तैः कार्यकरणैः संयुक्ते जन्मनि सति प्रज्ञामेधास्मृतिवैशारद्यं दृष्टं तथा प्रजापतेर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यविपरीतहेतुसर्वपाप्मदाहाद्विशुद्धैः कार्यकरणैः संयुक्तमुत्कृष्टं जन्म तदुद्भवं चानुपदिष्टमेव युक्तमेकत्वदर्शनं प्रजापतेः। तथा च स्मृतिः—

"ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्॥"

इति सहसिद्धत्वे भयानुपपत्तिरिति चेत्। न ह्यादित्येन सह तम उदेति। न,

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय- मैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरि-

उस प्रजापति ने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसीलिये आज भी एकाकी पुरुष रति का अनुभव नहीं करता। (इष्ट वस्तु के संयोग से होने वाली क्रीड़ा का नाम ही रति है, ऐसी रति के लिये और अरति की निवृत्ति के लिये) उस प्रजापति ने दूसरे की

अन्यानुपदिष्टार्थत्वात्सहसिद्धवाक्यस्य। श्रद्धातात्पर्यप्रणिपातादीनामहेतुत्वमिति चेत्। स्यान्मतम्—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्येवमादीनां श्रुतिस्मृतिविहितानां ज्ञानहेतूनामहेतुत्वं प्रजापतेरिव जन्मान्तरकृतधर्महेतुत्वे ज्ञानस्येति चेत्। न। निमित्तविकल्पसमुच्चयगुणवदगुणवत्त्वभेदोपपत्तेः। लोके हि नैमित्तिकानां कार्याणां निमित्तभेदोऽनेकधा विकल्प्यते। तथा निमित्तसमुच्चयः। तेषां च विकल्पितानां समुच्चितानां च पुनर्गुणवदगुणवत्त्वकृतो भेदो भवति। तद्यथा रूपज्ञान एव तावन्नैमित्तिके कार्ये तमसि विनाऽऽलोकेन चक्षूरूपसंनिकर्षो नक्तंचराणां रूपज्ञाने निमित्तं भवति, मन एव केवलं रूपज्ञाननिमित्तं योगिनाम्, अस्माकं तु संनिकर्षालोकाभ्यां सह। तथाऽऽदित्यचन्द्राद्यालोकभेदैः समुच्चिता निमित्तभेदा भवन्ति। तथाऽऽलोकविशेषगुणवदगुणवत्त्वेन भेदाः स्युः।

एवमेवाऽऽत्मैकत्वज्ञानेऽपि क्वचिज्जन्मान्तरकृतं कर्म निमित्तं भवति। यथा प्रजापतेः। क्वचित्तपो निमित्तम्। "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः। क्वचित् "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" "तद्विद्धि प्रणिपातेन" "आचार्याद्धैव" "द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इतिश्रुतिस्मृतिभ्य एकान्तज्ञानलाभनिमित्तत्वं श्रद्धाप्रभृतीनामधर्मादिनिमित्तवियोगहेतुत्वात्। वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानां च साक्षाज्ज्ञेयविषयत्वात्। पापादिप्रतिबन्धक्षये चाऽऽत्ममनसोर्भूतार्थज्ञाननिमित्तस्वाभाव्यात्। तस्मादहेतुत्वं न जातु ज्ञानस्य श्रद्धाप्रणिपातादीनामिति॥२॥

इतश्च संसारविषय एव प्रजापतित्वं, यतः **स** प्रजापतिर्वै **नैव रेमे** रतिं नान्वभवदरत्याविष्टोऽभूदित्यर्थोऽस्मदादिवदेव यतः। इदानीमपि **तस्मादेका-**

ष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त॥३॥

अर्थात् स्त्री की अभिलाषा की; जैसे परस्पर स्त्री पुरुष आलिङ्गित होते हैं वैसे ही परिणाम वाला वह सत्यसंकल्प प्रजापति भी हो गया। उसने इस अपने शरीर को ही दो भागों में बाँट दिया। उसी से पति और पत्नी हुये। इसीलिये लौकिक शरीर द्विदल अन्न के एक दल के समान है अर्थात् अकेला पुरुष अर्ध द्विदल के समान है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। अतः पुरुष का यह अर्ध आकाश स्त्री से ही पूर्ण होता है; विवाह के पश्चात् वह पुरुष उस स्त्री से संयुक्त हुआ पूर्ण माना जाता है। उसी मैथुन की प्रवृत्ति से मनुष्य उत्पन्न हुये हैं॥३॥

कित्वादिधर्मवत्त्वादेकाकी **न रमते** रतिं नानुभवति। रतिर्नामेष्टार्थसंयोगजा क्रीडा। तत्प्रसङ्गिन इष्टवियोगान्मनस्याकुलीभावोऽरतिरित्युच्यते। **स** तस्या अरतेरपनोदाय **द्वितीयम**रत्यपघातसमर्थं स्त्रीवस्त्वै**च्छद्**गृद्धिमकरोत्। तस्य चैवं स्त्रीविषयं गृध्यतः स्त्रिया परिष्वक्तस्येवाऽऽत्मनो भावो बभूव। **स** तेन सत्येप्सुत्वा**द्धैतावा**नेतत्परिमाण **आस** बभूव **ह**।

किं परिमाण इत्याह— **यथा** लोके **स्त्रीपुमांसा**वरत्यपनोदाय **संपरिष्वक्तौ** यत्परिमाणौ स्यातां तथा तत्परिमाणो बभूवेत्यर्थः। **स** तथा तत्परिमाणमे**वेममात्मानं द्वेधा** द्विप्रकार**मपातयत्**पातितवान्। **इममेवे**त्यवधारणं मूलकारणाद्विराजो विशेषणार्थम्। न क्षीरस्य सर्वोपमर्देन दधिभावापत्तिवद्विराड्भावोपमर्देनैतावानास। किं तर्ह्यात्मना व्यवस्थितस्यैव विराजः। सत्यसंकल्पत्वादात्मव्यतिरिक्तं स्त्रीपुंसपरिष्वक्तपरिमाणं शरीरान्तरं बभूव। स एव च विराट् तथाभूतः स हैतावानासेति सामानाधिकरण्यात्।

मिथुन से गवादि की उत्पत्ति

शा ३ शतरूपा

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतरा- (she horse.) ऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराऽभवद्बस्त इतरो-
(बकरा ... बकरी)

उस शतरूपा ने (कन्या-गमन निषेध स्मृति वाक्य का) विचार किया कि अपने से उत्पन्न कर मेरे साथ संभोग कैसे करता है? अच्छा हो! ऐसी परिस्थिति में मैं छिप जाऊँ। अतः वह गौ हो गयी, इसे देख दूसरा मनुरूप पुरुष वृषभ होकर उससे संभोग करने लगा। इससे गाय और बैल उत्पन्न हुए। फिर वह शतरूपा घोड़ी हो गयी और मनु अच्छा घोड़ा बन गया। पुनः वह गर्दभी हो गयी, तब मनु गर्दभ हो गया और उससे

ततस्तस्मात्पातनात्पतिश्च पत्नी चाभवतामिति दंपत्योर्निर्वचनं लौकिकयोरत एव **तस्मा**द्यस्मादात्मन एवार्धः पृथग्भूतो येयं स्त्री, तस्मादिदं शरीरमात्मनो**ऽर्धबृगलम**र्धं च तद्बृगलं च तदर्धबृगलं विदलमर्धविदल**मिवे**त्यर्थः। प्राक्स्त्र्युद्वहनात्कस्यार्धबृगलमित्युच्यते **स्व** आत्मन **इति**। एवमा**ह स्मो**क्तवान्किल **याज्ञवल्क्यो** यज्ञस्य वल्को वक्ता यज्ञवल्कस्तस्यापत्यं याज्ञवल्क्यो दैवरातिरित्यर्थः। ब्रह्मणो वाऽपत्यं यस्मा**दयं** पुरुषार्ध **आकाशः** स्त्र्यर्धशून्यः पुनरुद्वहना**त्तस्मात्पूर्यते** स्त्र्यर्धेन पुनः संपुटीकरणेनेव विदलार्धः। **तां** स प्रजापतिर्मन्वाख्यः शतरूपाख्यामात्मनो दुहितरं पत्नीत्वेन कल्पितां **समभव**न्मैथुनमुपगतवान्। **ततस्तस्मा**त्तदुपगमना**न्मनुष्या अजायन्तो**त्पन्नाः ॥३॥

सा शतरूपा **हेयं** सेयं दुहितृगमने स्मार्तं प्रतिषेधमनुस्मरन्ती**क्षांचक्रे**। **कथं** **न्वि**दमकृत्यं य**न्मा** मामा**त्मन एव जनयित्वो**त्पाद्य **संभव**त्युपगच्छति। यद्यप्ययं निर्घृणोऽहं **हन्ते**दानीं **तिरोऽसानि** जात्यन्तरेण तिरस्कृता भवानीत्येवमीक्षित्वाऽसौ **गौरभवत्।** उत्पाद्यप्राणिकर्मभिश्चोद्यमानायाः पुनः पुनः सैव मतिः शतरूपाया मनोश्चाभवत्। ततश्च **ऋषभ इतरः**। **तां समेवा-**

ऽविरितरा मेष इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततोऽजावयो-ऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्य-स्तत्सर्वमसृजत ॥४॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥५॥

संभोग करने लग गया। इस मैथुन से एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। पुनः शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। जब वह भेड़ हो गयी, तब मनु भेड़ा हो गया और उससे संभोग करने लग गया। इसी से भेड़-बकरे उत्पन्न हुए। ऐसे ही चींटी से लेकर जितने भी स्त्री पुरुष रूप जोड़े हैं, उन सभी की इसी प्रकार उन दोनों ने सृष्टि की॥४॥

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की रचना करने के बाद उस प्रजापति ने जाना कि "मैं ही सृष्टि हूं" मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। अतएव वह प्रजापति सृष्टि नाम वाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस प्रजापति की सृष्टि में प्रजापति के समान ही स्त्रष्टा होता है॥५॥

भवदित्यादि पूर्ववत्। **ततो गावोऽजायन्त**। तथा **वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरः**। तथा **गर्दभीतरा गर्दभ इतरः**। तत्र वडवाश्ववृषादीनां संगमात्**तत एकशफ**मेकखुरमश्वाश्वतरगर्दभाख्यं त्रय**मजायत**। तथा**ऽजेतराऽभवद्बस्त**श्छाग **इतरः**। तथा**ऽविरितरा मेष इतरः**। **तां समेवाभवत्**। तां तामिति वीप्सा। तामजां तामविं चेति समभवदेवेत्यर्थः। **ततोऽ**जाश्चावयश्च**जावयोऽजायन्त**। **एवमेव यदिदं किंच** यत्किंचेदं **मिथुनं** स्त्रीपुंसलक्षणं द्वंद्व**मापिपीलिकाभ्यः** पिपीलिकाभिः सहानेनैव न्यायेन **तत्सर्वमसृजत** जगत्सृष्टवान्॥४॥

स प्रजापतिः सर्वमिदं जगत्सृष्ट्वा**ऽवेत्**। कथम्। **अहं वा**वाहमेव **सृष्टिः**

(अग्न्यादि देव अतिसृष्टि का वर्णन)

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः

इस प्रकार फिर उस प्रजापति ने मन्थन किया। उससे मुखरूप योनि से दोनों हाथों के द्वारा अच्छी प्रकार मन्थन करके अग्नि को उत्पन्न किया। इसीलिए ये दोनों ही हाथ भीतर की ओर से लोम-रहित हैं, क्योंकि स्त्रियों की योनि भीतर से लोम शून्य ही होती है (अतः ये हाथ और मुख दोनों ही दाहक अग्नि की योनि माने जाते हैं। याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्रादि को) इसीलिए भिन्न-भिन्न देवता मानते हुए भी ऐसा कहते देखे जाते है कि इस अग्नि का यजन करो, इस इन्द्र का यजन करो, क्योंकि वह एक ही प्रजापति देव की विसृष्टि है। यह प्रजापति ही निखिल देवस्वरूप है। तत्पश्चात् उस प्रजापति ने

सृज्यत इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टिरिति। यन्मया सृष्टं जगन्मदभेदत्वादह**मेवास्मि** न मत्तो व्यतिरिच्यते। कुत एतत्। **अहं हि** यस्मा**दिदं सर्वं** जगद**सृक्षि** सृष्टवानस्मि तस्मादित्यर्थः। यस्मात्सृष्टिशब्देनाऽऽत्मानमेवाभ्यधात्प्रजापति**स्तत**स्तस्मा**त्सृष्टिरभवत्**सृष्टिनामाभवत्। **सृष्ट्यां** जगति **हास्य** प्रजापते**रेतस्या**मेतस्मिञ्जगति स प्रजापतिवत्स्रष्टा **भवति** स्वात्मनोऽनन्यभूतस्य जगतः। कः। **य एवं** प्रजापतिवद्यथोक्तं स्वात्मनोऽनन्यभूतं जगत्साध्यात्माधिभूताधिदैवं जगदहमस्मीति **वेद**॥५॥

एवं स प्रजापतिर्जगदिदं मिथुनात्मकं सृष्ट्वा ब्राह्मणादिवर्णनियन्त्रीर्देवताः सिसृक्षुरादौ। **अथेति** शब्दद्वयमभिनयप्रदर्शनार्थम्। अनेन प्रकारेण मुखे हस्तौ प्रक्षिप्या**भ्यमन्थदा**भिमुख्येन मन्थनमकरोत्। मुखं हस्ताभ्यां मथित्वा **स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां च** योनिभ्या**मग्निं** ब्राह्मणजातेरनुग्रहकर्तार**मसृजत** सृष्टवान्।

सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याᳫं हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद॥६॥

वीर्य से उस वस्तु को उत्पन्न किया, जो कुछ भी यह संसार में गीला दीखता है वही सोम है। यह सब इतना ही है, यही अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह प्रजापति की अतिसृष्टि है— अर्थात् अपने से भी बढ़ी हुई सृष्टि है कि जो उसने अपने से उत्कृष्ट देवताओं की रचना की। क्योंकि स्वयं मरणधर्मा होने पर भी अमरणधर्मा देवताओं की रचना इसने ही की है, अतएव अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, वह इस अतिसृष्टि में इस प्रजापति के समान ही जगत् का स्रष्टा हो जाता है॥६॥

यस्माद्दाहकस्याग्नेर्योनिरेतदुभयं हस्तौ मुखं च **तस्मादुभयमप्येतदलोमकं** लोमविवर्जितम्। किं सर्वमेव? न **अन्तरतो**ऽभ्यन्तरतः। अस्ति हि योन्या सामान्यमुभयस्यास्य। किम्। **अलोमका हि योनिरन्तरतः** स्त्रीणाम्। तथा ब्राह्मणोऽपि मुखादेव जज्ञे प्रजापतेः। तस्मादेकयोनित्वाज्ज्येष्ठेनेवानुजोऽनुगृह्यतेऽग्निना ब्राह्मणः। तस्माद्-ब्राह्मणोऽग्निदेवत्यो मुखवीर्यश्चेति श्रुतिस्मृतिसिद्धम्।

तथा बलाश्रयाभ्यां बाहुभ्यां बलभिदादिकं क्षत्रियजातिनियन्तारं क्षत्रियं च। तस्मादैन्द्रं क्षत्रं बाहुवीर्यं चेति श्रुतौ स्मृतौ चावगतम्। तथोरुत ईहाश्रयाद्वस्वादिलक्षणं विशो नियन्तारं विशं च। तस्मात्कृष्यादिपरो वस्वादिदेवत्यश्च वैश्यः। तथा पूषणं पृथ्वीदेवतां शूद्रं च पद्भ्यां परिचरणक्षममसृजतेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। तत्र क्षत्रादिदेवतासर्गमिहानुक्तं वक्ष्यमाणमप्युक्तवदुपसंहरति सृष्टिसाकल्यानुकीर्त्यै। यथेयं श्रुतिर्व्यवस्थिता तथा प्रजापतिरेव सर्वे देवा इति निश्चितोऽर्थः। स्रष्टुरनन्यत्वात्सृष्टानाम्। प्रजापतिनैव तु सृष्टत्वाद्देवानाम्।

अथैवं प्रकरणार्थे व्यवस्थिते तत्स्तुत्यभिप्रायेणाविद्वन्मतान्तरनिन्दोपन्यासः। अन्यनिन्दाऽन्यस्तुतये। **तत्तत्र** कर्मप्रकरणे केवलयाज्ञिका यागकाले **यदिदं** वच

आहुरमुमग्निं यजामुमिन्द्रं यजेत्यादि नामशस्त्रस्तोत्रकर्मादिभिन्नत्वाद्भिन्नमेवाग्न्यादि**देवमेकैकं** मन्यमाना आहुरित्यभिप्रायः। तन्न तथा विद्यात्। यस्मा**देतस्यैव** प्रजापतेः **सा विसृष्टि**र्देवभेदः सर्व **एष उ ह्येव** प्रजापतिरेव प्राणः **सर्वे देवाः**।

अत्र विप्रतिपद्यन्ते। पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे। पर एव तु मन्त्रवर्णात्। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इति। "एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः" इति च श्रुतेः। स्मृतेश्च—

"एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" इति,
"योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥" इति च।

संसार्येव वा स्यात्। "सर्वान्पाप्मन औषत्" इति श्रुतेः। न ह्यसंसारिणः पाप्मदाहप्रसङ्गोऽस्ति। भयारतिसंयोगश्रवणाच्च। "अथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत" इति च। "हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्" इति च मन्त्रवर्णात्। स्मृतेश्च कर्मविपाकप्रक्रियायाम्—

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥" इति।

अथैवं विरुद्धार्थानुपपत्तेः प्रामाण्यव्याघात इति चेन्न। कल्पनान्तरोपपत्तेरविरोधात्। उपाधिविशेषसंबन्धाद्विशेषकल्पनान्तरमुपपद्यते।

"आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥"

इत्येवमादिश्रुतिभ्यः।

उपाधिवशात्संसारित्वं न परमार्थतः। स्वतोऽसंसार्येव। एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य। तथा सर्वजीवानाम्। "तत्त्वमसि" इति श्रुतेः। हिरण्यगर्भस्तूपाधिशुद्ध्य-

तिशयापेक्षया प्रायशः पर एवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः। संसारित्वं तु क्वचिदेव दर्शयन्ति। जीवानां तूपाधिगताशुद्धिबाहुल्यात्संसारित्वमेव प्रायशोऽभिलप्यते। व्यावृत्तकृत्स्नोपाधिभेदापेक्षया तु सर्वः परत्वेनाभिधीयते श्रुतिस्मृतिवादैः।

तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैरस्ति नास्ति कर्ताऽकर्तेत्यादि विरुद्धं बहु तर्कयद्भिराकुलीकृतः शास्त्रार्थः। तेनार्थनिश्चयो दुर्लभः। ये तु केवलशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पास्तेषां प्रत्यक्षविषय इव निश्चितः शास्त्रार्थो देवतादिविषयः।

तत्र प्रजापतेरेकस्य देवस्यान्नादिलक्षणो भेदो विवक्षित इति। तत्राग्निरुक्तोऽन्नादोऽन्नाद्यः सोम इदानीमुच्यते। **अथ यत्किंचेदं** लोके **आर्द्रं** द्रवात्मकं **तद्रेतस** आत्मनो बीजा**दसृजत**। "रेतस आपः" इति श्रुतेः। द्रवात्मकश्च सोमः।

तस्माद्यदार्द्रं प्रजापतिना रेतसः सृष्टं **तदु सोम एव**। एतावद्वा एतावदेव नातोऽधिकमिदं सर्वम्। किं तत्। **अन्नं** चैव सोमो द्रवात्मकत्वादाप्यायकम्। **अन्नादश्चाग्नि**रौष्ण्याद्रूक्षत्वाच्च। तत्रैवमवध्रियते। सोम एवान्नं यदद्यते तदेव सोम इत्यर्थः। य एवात्ता स एवाग्निः। अर्थबलाद्ध्यवधारणम्। अग्निरपि क्वचिद्धूयमानः सोमपक्षस्यैव। सोमोऽपीज्यमानोऽग्निरेवात्तृत्वात्। एवमग्नीषोमात्मकं जगदात्मत्वेन पश्यन्न केनचिद्दोषेण लिप्यते। प्रजापतिश्च भवति। **सैषा ब्रह्मणः** प्रजापते**रतिसृष्टि**रात्मनोऽप्यतिशया।

का सेत्याह—**यच्छ्रेयसः** प्रशस्यतरानात्मनः सकाशाद्यस्मा**दसृजत देवां**स्तस्माद्देवसृष्टिरतिसृष्टिः। कथं पुनरात्मनोऽतिशया सृष्टिरित्यत आह—**अथ यद्यस्मान्मर्त्यः सन्**मरणधर्मा सन्न**मृतान**मरणधर्मिणो देवान्कर्मज्ञानवह्निना सर्वानात्मनः पाप्मन ओषित्वा**ऽसृजत, तस्मादियमतिसृष्टि**रुत्कृष्टज्ञानस्य फलमित्यर्थः। तस्मादेतामतिसृष्टिं प्रजापतेरात्मभूतां **यो वेद** स **एतस्यामतिसृष्ट्यां** प्रजापतिरिव **भवति** प्रजापतिवदेव स्रष्टा भवति॥६॥

इति तृतीयाह्निकम्॥३॥

❀❀❀

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामाऽयमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्टः। आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स, प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन्वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो

वह यह (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीयमान) जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त था। वही नामरूप के योग से व्याकृत हो गया अर्थात् "यह इस नाम और इस रूप वाला है" इस प्रकार से वह अव्यक्ततत्त्व, नाम और रूप के द्वारा व्यक्त हो गया। अतः अब इस सृष्टि के समय भी यह अव्याकृत वस्तु "इस नाम और इस रूप वाला है" इसी प्रकार व्यक्त होता है। वह यह व्याकर्ता पुरुष इस वर्तमान देह में नख से शिखपर्यन्त प्रवेश किये हुए है। जैसे छुरा छुरे के अधिकरण से छिपा रहता है, या विश्व का भर्ता अग्नि अपने आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है, इसीलिए लोग उसे देख नहीं पाते। वह असम्पूर्ण है, प्राणन क्रिया का कारण होने से वह प्राण है, वदन का कारण होने से वाणी है।

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" सर्वं वैदिकं साधनं ज्ञानकर्मलक्षणं कर्त्राद्यनेककारकापेक्षं प्रजापतित्वफलावसानं साध्यमेतावदेव यदेतद्व्याकृतं जगत्संसारः। अथैतस्यैव साध्यसाधनलक्षणस्य व्याकृतस्य जगतो व्याकरणात्प्राग्बीजावस्था या, तां निर्दिदिक्षत्यङ्कुरादिकार्यानुमितामिव वृक्षस्य कर्मबीजोऽविद्याक्षेत्रो ह्यसौ संसारवृक्षः समूल उद्धर्तव्य इति। तदुद्धरणे हि पुरुषार्थपरिसमाप्तिः। तथाचोक्तम् — "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः" इति काठके। गीतासु च "ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्" इति। पुराणे च "ब्रह्मवृक्षः सनातनः" इति।

तद्धेदं तदिति बीजावस्थं जगत्प्रागुत्पत्तेस्तर्हि तस्मिन्काले परोक्षत्वात्सर्वनाम्नाऽप्रत्यक्षाभिधानेनाभिधीयते, भूतकालसंबन्धित्वादव्याकृतभाविनो जगतः। सुख-

मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते, न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिंश्लोकं विन्दते य एवं वेद॥७॥

दर्शन का कारण होने से नेत्र है, श्रवण का कारण होने से श्रोत्र है और मनन का कारण होने से मन है। ये सब इसके कर्मानुसार ही नाम हैं। अतएव इनमें से एक-एक ही उपासना जो करता है वह नहीं जानता, वस्तुतः वह असम्पूर्ण ही है। वैसी परिस्थिति में वह केवल एक-एक विशेषण से युक्त है। अतः "आत्मा है" इसी प्रकार से उस प्रजापति की उपासना करे, क्योंकि इसी आत्मा में वे सभी एक हो जाते हैं। यह जो सर्वानुभव सिद्ध आत्मा है, वही इन सब जीवों का प्राप्तव्य है। वस्तुतः यह आत्मा है और इस आत्मा के जानने से ही इस सम्पूर्ण जगत् को जानता है। जैसे खोये हुए पशु को पदचिन्हों के द्वारा प्राप्त कर लेते हैं; वैसे ही जो पुरुष ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा कीर्ति और इष्ट पुरुषों का समागम प्राप्त करता है॥७॥

ग्रहणार्थमैतिह्यप्रयोगो ह शब्दः। एवं ह तदाऽऽसीदित्युच्यमाने सुखं तां परोक्षामपि जगतो बीजावस्थां प्रतिपद्यते, युधिष्ठिरो ह किल राजाऽऽसीदित्युक्ते यद्वत्। इदमिति व्याकृतनामरूपात्मकं साध्यसाधनलक्षणं यथावर्णितमभिधीयते। तदिदंशब्दयोः परोक्षप्रत्यक्षावस्थजगद्वाचकयोः सामानाधिकरण्यादेकत्वमेव परोक्षप्रत्यक्षावस्थस्य जगतोऽवगम्यते। तदेवेदमिदमेव च तदव्याकृतमासीदिति। अथैवं सति नासत उत्पत्तिर्न सतो विनाशः कार्यस्येत्यवधृतं भवति।

तदेवंभूतं जगदव्याकृतं **सन्नामरूपाभ्यामेव** नाम्ना रूपेणैव च **व्याक्रियत**। व्याक्रियतेति कर्मकर्तृप्रयोगात्तत्स्वयमेवाऽऽत्मैव व्याक्रियत वि आ अक्रियत

अपूर्व विधि : दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत = अप्राप्ते विधि-
नियमविधि : पाक्षिके प्राप्ते : व्रीहीन् अवहन्ति। "आत्मेत्येवोपासीत"
परिसंख्याविधि : इतर व्यावर्तकम् - पं. भूतौ भार्गोपुर्येभ्यात्.

धर्म - धर्मी. संसर्ग - स्वरूप ; सोपाधिक - निरुपाधिक रज्जुमें सर्प.
स्फटिक मणि

विस्पष्टं नामरूपविशेषावधारणमर्यादं व्यक्तीभावमापद्यत। सामर्थ्यादाक्षिप्तनियन्तृकर्तृसाधनक्रियानिमित्तम्। **असौनामेति** सर्वनाम्नाऽविशेषाभिधानेन नाममात्रं व्यपदिशति। देवदत्तो यज्ञदत्त इति वा नामास्येत्य**सौनामाऽयम्**। तथे**दमिति** शुक्लकृष्णादीनामविशेषः। इदं शुक्लमिदं कृष्णं वा रूपमस्येती**दंरूपः**। **तदिदमव्याकृतं** वस्त्वेतर्ह्येतस्मिन्नपि काले **नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदंरूप इति।**

अर्थाध्यास : रजत ; ज्ञानाध्यास = रजतज्ञान.

यदर्थः सर्वशास्त्रारम्भो यस्मिन्नविद्यया स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता, यः कारणं सर्वस्य जगतो, यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छान्मलमिव फेनमव्याकृते व्याक्रियेते, यश्च ताभ्यां नामरूपाभ्यां विलक्षणःस्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, **स एषोऽ**व्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहे**ष्विह** कर्मफलाश्रयेष्वशनायादिमत्सु प्रविष्टः।

* सेश्वरवादी = योगी अनीश्वरवादी = सांख्य.

नन्वव्याकृतं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युक्तं, कथमिदमिदानीमुच्यते पर एव त्वात्माऽव्याकृतं व्याकुर्वन्निह प्रविष्ट इति? नैष दोषः। परस्याप्यात्मनोऽव्याकृतजगदात्मत्वेन विवक्षितत्वात्। आक्षिप्तनियन्तृकर्तृक्रियानिमित्तं हि जगदव्याकृतं व्याक्रियतेत्यवोचाम। इदंशब्दसामानाधिकरण्याच्चाव्याकृतशब्दस्य।

शब्द निरवयव है, प्रतिध्वनि होती है। वैसा ही निरवयव अज्ञान और आत्मा की (प्रतिबिम्ब) आभास पड़ता है॥

यथेदं जगन्नियन्त्राद्यनेककारकनिमित्तादिविशेषवदव्याकृतं, तथाऽपरित्यक्तान्यतमविशेषवदेव तदव्याकृतम्। व्याकृताव्याकृतमात्रं तु विशेषः। दृष्टश्च लोके विवक्षातः शब्दप्रयोगो ग्रामः आगतो ग्रामः शून्य इति। कदाचिद्ग्रामशब्देन निवासमात्रविवक्षायां ग्रामः शून्य इति शब्दप्रयोगो भवति, कदाचिन्निवासिजनविवक्षायां ग्रामः आगत इति कदाचिदुभयविवक्षायामपि ग्रामशब्दप्रयोगो भवति ग्रामं च न प्रविशेदिति यथा। तद्वदिहापि जगदिदमव्याकृतं व्याकृतं चेत्यभेदविवक्षायामात्मानात्मनोर्भवति व्यपदेशः। तथेदं जगदुत्पत्तिविनाशात्मकमिति केवलजगद्व्यपदेशः। तथा ''महानज आत्माऽस्थूलोऽनणुः'', ''स एष नेति नेती''त्यादि केवलात्मव्यपदेशः।

(1) असत्ख्याति माध्यमिकानाम् - बौद्ध शून्यवादि (2) असत्ख्याति : सांख्यप्रभाकराणाम् (3) अन्यथाख्याति तार्किकाणाम् (4) आत्मख्याति योगाचाराणाम् (5) अनिर्वचनीयख्याति वेदान्तीनाम्.

ननु परेण व्याकर्त्रा व्याकृतं सर्वतो व्याप्तं सर्वदा जगत्स कथमिह प्रविष्टः परिकल्प्यते। अप्रविष्टो हि देशः परिच्छिन्नेन प्रवेष्टुं शक्यते। यथा पुरुषेण ग्रामादिर्नाऽऽकाशेन किंचित्, नित्यप्रविष्टत्वात्। पाषाणसर्पादिवद्धर्मान्तरेणेति चेत्। अथापि स्यान्न पर आत्मा स्वेनैव रूपेण प्रविवेश, किं तर्हि तत्स्थ एव धर्मान्तरेणोपजायते, तेन प्रविष्ट इत्युपचर्यते। यथा पाषाणे सहजोऽन्तस्थः सर्पो, नारिकेले वा तोयम्। न। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः। यः स्रष्टा स भावान्तरमनापन्न एव कार्यं सृष्ट्वा पश्चात्प्राविशदिति हि श्रूयते।

यथा भुक्त्वा गच्छतीति भुजिगमिक्रिययोः पूर्वापरकालयोरितरेतरविच्छेदोऽविशिष्टश्च कर्ता, तद्वदिहापि स्यान्न तु तत्स्थस्यैव भावान्तरेणोपजनने एतत्संभवति। न च स्थानान्तरेण वियुज्य स्थानान्तरसंयोगलक्षणः प्रवेशो निरवयवस्यापरिच्छिन्नस्य दृष्टः।

सावयव एव प्रवेशश्रवणादिति चेन्न। "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" "निष्कलं निष्क्रियम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः, सर्वव्यपदेश्यधर्मविशेषप्रतिषेधश्रुतिभ्यश्च। प्रतिबिम्बप्रवेशवदिति चेन्न। वस्त्वन्तरेण विप्रकर्षानुपपत्तेः। द्रव्ये गुणप्रवेशवदिति चेत्। न। अनाश्रितत्वात्। नित्यपरतन्त्रस्यैवाऽऽश्रितस्य गुणस्य द्रव्ये प्रवेश उपचर्यते। न तु ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यश्रवणात्तथा प्रवेश उपपद्यते।

फले बीजवदिति चेन्न। सावयवत्ववृद्धिक्षयोत्पत्तिविनाशादिधर्मवत्त्वप्रसङ्गात्। न चैवं धर्मवत्त्वं ब्रह्मणः, "अजोऽजरः" इत्यादिश्रुतिन्यायविरोधात्। अन्य एव संसारी परिच्छिन्न इह प्रविष्ट इति चेन्न। "सेयं देवतैक्षत" इत्यारभ्य "नामरूपे व्याकरवाणि" इति तस्या एव प्रवेशव्याकरणकर्तृत्वश्रुतेः। तथा "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" "त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि" "पुरश्चक्रे द्विपदः" "रूपं रूपम्" इति च मन्त्रवर्णान्न परादन्यस्य प्रवेशः।

प्रविष्टानामितरेतरभेदात्परानेकत्वमिति चेत्। न। "एको देवो बहुधा संनिविष्टः" "एकः सन्बहुधा विचार" "त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यादिश्रुतिभ्यः। प्रवेश उपपद्यते नोपपद्यते इति तिष्ठतु तावत्, प्रविष्टानां संसारित्वात्तदनन्यत्वाच्च परस्य संसारित्वमिति चेत्। न। अशनायाद्यत्ययश्रुतेः।

सुखित्वदुःखित्वादिदर्शनान्नेति चेत्। न। "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः। प्रत्यक्षादिविरोधादयुक्तमिति चेत्। न। उपाध्याश्रयजनितविशेषविषयत्वात् प्रत्यक्षादेः। "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" "विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्" "अविज्ञातं विज्ञातृ" इत्यादिश्रुतिभ्यो नाऽऽत्मविषयं विज्ञानम्। किं तर्हि ? बुद्ध्याद्युपाध्यात्मप्रतिच्छायाविषयमेव सुखितोऽहं दुःखितोऽहमित्येवमादि प्रत्यक्षविज्ञानम्। अयमहमिति-विषयेण विषयिणः सामानाधिकरण्योपचारात् "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यन्यात्म-प्रतिषेधाच्च। देहावयवविशेष्यत्वाच्च सुखदुःखयोर्विषयधर्मत्वम्।

"आत्मनस्तु कामाय" इत्यात्मार्थत्वश्रुतेरयुक्तमिति चेन्न। "यत्र वा अन्यदिव स्याद्"इत्यविद्याविषयात्मार्थत्वाभ्युपगमात्। "तत्केन कं पश्येत्" "नेह नानाऽस्ति किंचन" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इत्यादिना विद्याविषये तत्प्रतिषेधाच्च नाऽऽत्मधर्मत्वम्।

तार्किकसमयविरोधादयुक्तमिति चेन्न। युक्त्याऽप्यात्मनो दुःखित्वानुपपत्तेः। न हि दुःखेन प्रत्यक्षविषयेणाऽऽत्मनो विशेष्यत्वं, प्रत्यक्षाविषयत्वात्। आकाशस्य शब्दगुणवत्त्ववदात्मनो दुःखित्वमिति चेन्न। एकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः। न हि सुखग्राहकेण प्रत्यक्षप्रत्ययेन नित्यानुमेयस्याऽऽत्मनो विषयीकरणमुपपद्यते। तस्य च विषयीकरणे आत्मन एकत्वाद्विषय्यभावप्रसङ्गः। एकस्यैव विषयविषयित्वं दीपवदिति चेन्न। युगपदसंभवादात्मन्यंशानुपपत्तेश्च।

एतेन विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकत्वं प्रत्युक्तम्। प्रत्यक्षानुमानविषययोश्च दुःखात्म-

नोर्गुणगुणित्वे नानुमानम्। दुःखस्य नित्यमेव प्रत्यक्षविषयत्वाद्रूपादिसामानाधिकरण्याच्च।

मनःसंयोगजत्वेऽप्यात्मनि दुःखस्य सावयवत्वविक्रियावत्त्वानित्यत्वप्रसङ्गात्। न ह्यविकृत्य संयोगि द्रव्यं गुणः कश्चिदुपयन्नपयन्वा दृष्टः क्वचित्। न च निरवयवं विक्रियमाणं दृष्टं क्वचित्, अनित्यगुणाश्रयं वा नित्यम्।

न चाऽऽकाशः आगमवादिभिर्नित्यतयाऽवगम्यते। न चान्यो दृष्टान्तोऽस्ति। विक्रियमाणमपि तत्प्रत्ययानिवृत्तेर्नित्यमेवेति चेन्न। द्रव्यस्यावयवान्यथात्वव्यतिरेकेण विक्रियानुपपत्तेः।

सावयवत्वेऽपि नित्यत्वमिति चेन्न। सावयवस्यावयवसंयोगपूर्वकत्वे सति विभागोपपत्तेः। वज्रादिष्वदर्शनान्नेति चेन्न। अनुमेयत्वात्संयोगपूर्वत्वस्य। तस्मान्नाऽऽत्मनो दुःखाद्यनित्यगुणाश्रयत्वोपपत्तिः।

परस्यादुःखित्वेऽन्यस्य च दुःखिनोऽभावे दुःखोपशमनाय शास्त्रारम्भानर्थक्यमिति चेन्न। अविद्याऽध्यारोपितदुःखित्वभ्रमापोहार्थत्वात्। आत्मनि प्रकृतसंख्यापूरणभ्रमापोहवत्कल्पितदुःख्यात्माभ्युपगमाच्च।

जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवदात्मप्रवेशश्च प्रतिबिम्बवद्व्याकृते कार्ये उपलभ्यत्वम्। प्रागुत्पत्तेरनुपलब्ध आत्मा पश्चात्कार्ये च सृष्टे व्याकृते बुद्धेरन्तरुपलभ्यमानः सूर्यादिप्रतिबिम्बवज्जलादौ कार्यं सृष्ट्वा प्रविष्ट इव लक्ष्यमाणो निर्दिश्यते "स एष इह प्रविष्टः" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इत्येवमादिभिः। न तु सर्वगतस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः कदाचिदप्युपपद्यते। न च परादात्मनोऽन्योऽस्ति "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" "नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ" इत्यादिश्रुतेरित्यवोचाम। उपलब्ध्यर्थत्वाच्च

सृष्टिप्रवेशस्थित्यप्ययवाक्यानाम्। उपलब्धेः पुरुषार्थत्वश्रवणात्। "आत्मानमेवावेत्" "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः। "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" "तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। भेददर्शनापवादाच्च सृष्ट्यादिवाक्यानामात्मैकत्वदर्शनार्थपरत्वोपपत्तिः। तस्मात्कार्यस्थस्योपलभ्यत्वमेव प्रवेश इत्युपचर्यते।

आ नखाग्रेभ्यो नखाग्रमर्यादमात्मनश्चैतन्यमुपलभ्यते। तत्र कथमिव प्रविष्ट इत्याह— **यथा** लोके **क्षुरधाने क्षुरो** धीयतेऽस्मिन्निति क्षुरधानं तस्मिन्नापितोपस्कराधाने **क्षुरो**ऽन्तःस्थ उपलभ्यते**ऽवहितः** प्रवेशितः **स्याद्यथा वा विश्वंभरो**ऽग्निर्विश्वस्य भरणाद्**विश्वंभरकुलाये** नीडेऽग्निः काष्ठादाववहितः स्यादित्यनुवर्तते। तत्र हि स मथ्यमान उपलभ्यते। यथा च क्षुरः क्षुरधानैकदेशेऽवस्थितः, यथा चाग्निः काष्ठादौ सर्वतो व्याप्यावस्थितः, एवं सामान्यतो विशेषतश्च देहं संव्याप्यावस्थित आत्मा। तत्र हि स प्राणनादिक्रियावान्दर्शनादिक्रियावांश्चोपलभ्यते। तस्मात्तत्रैवं प्रविष्टः, **तमा**त्मानं प्राणनादिक्रियाविशिष्टं **न पश्यन्ति** नोपलभन्ते।

नन्वप्राप्तप्रतिषेधोऽयं **तं न पश्यन्ती**ति दर्शनस्याप्रकृतत्वात्। नैष दोषः। सृष्ट्यादिवाक्यानामात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थपरत्वात्प्रकृतमेव तस्य दर्शनम्। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" इति मन्त्रवर्णात्।

तत्र प्राणनादिक्रियाविशिष्टस्य दर्शने हेतुमाह— **अकृत्स्नो**ऽसमस्तो **हि** यस्मात्**स** प्राणनादिक्रियाविशिष्टः। कुतः पुनरकृत्स्नत्वमिति। उच्यते। **प्राणन्नेव** प्राणनक्रियामेव कुर्वन्**प्राणो नाम** प्राणसमाख्यः प्राणाभिधानो **भवति**। प्राणनक्रियाकर्तृत्वाद्धि प्राणः प्राणितीत्युच्यते नान्यां क्रियां कुर्वन्। यथा लावकः पाचक इति। तस्मात्क्रियान्तरविशिष्टस्यानुपसंहारादकृत्स्नो हि सः।

तथा **वदन्**वदनक्रियां कुर्वन्वक्तीति **वाक्पश्यंश्चक्षुश्च** इति चक्षुर्द्रष्टा, **शृण्वञ्**शृणोतीति **श्रोत्रम्**। प्राणन्नेव प्राणो **वदन्वागि**त्याभ्यां क्रियाशक्त्युद्भवः प्रदर्शितो भवति, पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रमित्याभ्यां विज्ञानशक्त्युद्भवः प्रदर्श्यते। नामरूपविषयत्वाद्विज्ञानशक्तेः। श्रोत्रचक्षुषी विज्ञानस्य साधने, विज्ञानं तु नाम-रूपसाधनम्। न हि नामरूपव्यतिरिक्तं विज्ञेयमस्ति, तयोश्चोपलम्भे करणं चक्षुःश्रोत्रे। क्रिया च नामरूपसाध्या प्राणसमवायिनी। तस्याः प्राणाश्रयाया अभिव्यक्तौ वाक्करणम्। तथा पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। सर्वेषामुपलक्षणार्था वाक्। एतदेव हि सर्वं व्याकृतम् ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'' इति हि वक्ष्यति। **मन्वानो मनो** मनुत इति ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनो मनुतेऽनेनेति पुरुषस्तु कर्ता सन्मन्वानो मन इत्युच्यते।

तान्येतानि प्राणादीन्य**स्या**ऽऽत्मनः **कर्मनामानि** कर्मजानि नामानि कर्मनामान्ये**व,** न तु वस्तुमात्रविषयाणि। अतो न कृत्स्नात्मवस्त्ववद्योतकानि। एवं ह्यसावात्मा प्राणनादिक्रियया तत्तत्क्रियाजनितप्राणादिनामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणो-ऽवद्योत्यमानोऽपि।

स योऽतोऽस्मात्प्राणनादिक्रियासमुदाया**देकैकं** प्राणं चक्षुरिति वा विशिष्टमनुपसंहृतेतरविशिष्टक्रियात्मकं मनसाऽयमात्मेत्यु**पास्ते** चिन्त**यति न स वेद** न स जानाति ब्रह्म। कस्मात्? **अकृत्स्नो**ऽसमस्तो **हि** यस्मा**देष** आत्माऽस्मात्प्राणनादिसमुदायात्। **अतः** प्रविभक्त **एकैकेन** विशेषणेन विशिष्ट इतरधर्मान्तरानुपसंहाराद्**भवति**। यावदयमेवं वेद पश्यामि शृणोमि स्पृशामीति वा स्वभावप्रवृत्तिविशिष्टं वेद तावदञ्जसा कृत्स्नमात्मानं न वेद।

कथं पुनः पश्यन्वेदेत्याह— **आत्मेत्येवा**ऽऽत्मेति प्राणादीनि विशेषणानि यान्युक्तानि तानि यस्य, स आप्नुवंस्तान्यात्मेत्युच्यते। स तथा कृत्स्नविशेषोपसंहारी सन्कृत्स्नो भवति। वस्तुमात्ररूपेण हि प्राणाद्युपाधिविशेषक्रियाजनितानि विशेषणानि

व्याप्नोति। तथा च वक्ष्यति—"ध्यायतीव लेलायतीव" इति। तस्मा**दात्मे-त्येवोपासीत**। एवं कृत्स्नो ह्यसौ स्वेन वस्तुरूपेण गृह्यमाणो भवति। कस्मात्कृत्स्न इत्याशङ्क्याऽऽह— **अत्रा**स्मिन्नात्मनि **हि** यस्मान्निरुपाधिके जलसूर्यप्रतिबिम्बभेदा इवाऽऽदित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषाः प्राणादिकर्मजनामाभिधेया यथोक्ता **ह्येते एकमभिन्नतां भवन्ति** प्रतिपद्यन्ते।

आत्मेत्येवोपासीतेति नापूर्वविधिः, पक्षे प्राप्तत्वात्। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "कतम आत्मेति" "योऽयं विज्ञानमयः" इत्येवमाद्यात्मप्रतिपादनपराभिः श्रुतिभिरात्मविषयं विज्ञानमुत्पादितम्। तत्राऽऽत्मस्वरूपविज्ञानेनैव तद्विषयाऽनात्माभिमानबुद्धिः कारकादिक्रियाफलाध्यारोपणात्मिकाऽविद्या निवर्तिता। तस्यां निवर्तितायां कामादिदोषानुपपत्तेरनात्मचिन्तानुपपत्तिः। पारिशेष्यादात्मचिन्तैव। तस्मात्तदुपासनमस्मिन्पक्षे न विधातव्यं, प्राप्तत्वात्।

तिष्ठतु तावत्पाक्षिक्यात्मोपासनप्राप्तिर्नित्या वेति। अपूर्वविधिः स्यात्, ज्ञानोपासनयोरेकत्वे सत्यप्राप्तत्वात्। न स वेदेति विज्ञानं प्रस्तुत्याऽऽत्मेत्येवोपासीतेत्यभिधानाद्वेदोपासनशब्दयोरेकार्थताऽवगम्यते। "अनेन ह्येतत्सर्वं वेद" "आत्मानमेवावेत्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च विज्ञानमुपासनम्। तस्य चाप्राप्तत्वाद्विध्यर्हत्वम्।

न च स्वरूपान्वाख्याने पुरुषप्रवृत्तिरुपपद्यते। तस्मादपूर्वविधिरेवायम्। कर्मविधिसामान्याच्च। यथा "यजेत, जुहुयात्" इत्यादयः कर्मविधयो, न तैरस्य "आत्मेत्येवोपासीत" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्याद्यात्मोपासनविधेर्विशेषोऽवगम्यते। मानसक्रियात्वाच्च विज्ञानस्य। यथा यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्नित्याद्या मानसी क्रिया विधीयते, तथा "आत्मेत्येवोपासीत" "मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्याद्या क्रियैव विधीयते ज्ञानात्मिका। तथाऽवोचाम वेदोपासनशब्दयोरेकार्थत्वमिति।

भावनांशत्रयोपपत्तेश्च। यथा हि यजेतेत्यस्यां भावनायां किं, केन, कथमिति भाव्याद्याकाङ्क्षापनयकारणमंशत्रयमवगम्यते, तथोपासीतेत्यस्यामपि भावनायां विधीयमानायां किमुपासीत, केनोपासीत, कथमुपासीतेत्यस्यामाकाङ्क्षायामात्मानमुपासीत, मनसा, त्यागब्रह्मचर्यशमदमोपरमतितिक्षादीतिकर्तव्यतासंयुक्त, इत्यादिशास्त्रेणैव समर्थ्यतेऽंशत्रयम्।

p.390. * यथा च कृत्स्नस्य दर्शपूर्णमासादिप्रकरणस्य दर्शपूर्णमासादिविध्युद्देशत्वेनोपयोगः। एवमौपनिषदात्मोपासनप्रकरणस्याऽऽत्मोपासनविध्युद्देशत्वेनैवोपयोगः। नेति नेत्यस्थूलमेकमेवाद्वितीयमशनायाद्यतीत इत्येवमादिवाक्यानामुपास्यात्मस्वरूपविशेषसमर्पणेनोपयोगः। फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा।

अपरे वर्णयन्त्युपासनेनाऽऽत्मविषयं विशिष्टं विज्ञानान्तरं भावयेत्तेनाऽऽत्मा ज्ञायतेऽविद्यानिवर्तकं च तदेव, नाऽऽत्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति। एतस्मिन्नर्थेवचनान्यपि- ''विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'' ''द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' ''सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'' इत्यादीनि।

(+) न, अर्थान्तराभावात्। न च ''आत्मेत्येवोपासीत'' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात्? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाऽभावात्। तत्र हि विधेः साफल्यं, यत्र विधिवाक्यश्रवणमात्रजनितविज्ञानव्यतिरेकेण पुरुषप्रवृत्तिर्गम्यते। यथा ''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'' इत्येवमादौ। न हि दर्शपूर्णमासविधिवाक्यजनितविज्ञानमेव दर्शपूर्णमासानुष्ठानम्। तच्चाधिकाराद्यपेक्षानुभावि। न तु ''नेति नेति'' इत्याद्यात्मप्रतिपादकवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेण दर्शपूर्णमासादिवत्पुरुषव्यापारः संभवति। सर्वव्यापारोपशमहेतुत्वात्तद्वाक्यजनितविज्ञानस्य। न ह्युदासीनविज्ञानं प्रवृत्तिजनकम्, अब्रह्माना-

(+) शब्दज्ञानवतो विषयाभावात् (अनुष्ठेयाभावात्) (तु तत्र) विधिः सम्भवति, अविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ स्वयं फलावस्थत्वाच्च, कैवल्यं ब्रह्म मुमुक्षो

त्मविज्ञाननिवर्तकत्वाच्च "एकमेवाद्वितीयम्" "तत्त्वमसि" इत्येवमादिवाक्यानाम्। न च तन्निवृत्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते, विरोधात्।

वाक्यजनितविज्ञानमात्रान्नाब्रह्मानात्मविज्ञाननिवृत्तिरिति चेन्न। "तत्त्वमसि" P.394 "नेति नेति" "आत्मैवेदम्" "एकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्मैवेदममृतम्" "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इत्यादिवाक्यानां तद्वादित्वात्। द्रष्टव्यविधेर्विषयसमर्पकाण्येतानीति चेन्न। अर्थान्तराभावादित्युक्तोत्तरत्वात्। आत्मवस्तुस्वरूपसमर्पकैरेव वाक्यैस्तत्त्वमसीत्यादिभिः श्रवणकाले एव तद्दर्शनस्य कृतत्वाद्द्रष्टव्यविधेर्नानुष्ठानान्तरं कर्तव्यमित्युक्तोत्तरमेतत्।

आत्मस्वरूपान्वाख्यानमात्रेणाऽऽत्मविज्ञाने विधिमन्तरेण न प्रवर्तते इति चेन्न। आत्मवादिवाक्यश्रवणेनाऽऽत्मविज्ञानस्य जनितत्वात्किं भोः कृतस्य करणम्। तच्छ्रवणेऽपि न प्रवर्तत इति चेन्न। अनवस्थाप्रसङ्गात्। यथाऽऽत्मवादिवाक्यार्थश्रवणे विधिमन्तरेण न प्रवर्तते, तथा विधिवाक्यार्थश्रवणेऽपि विधिमन्तरेण न प्रवर्तिष्यत इति विध्यन्तरापेक्षा। तथा तदर्थश्रवणेऽपीत्यनवस्था प्रसज्येत। वाक्यजनितात्मज्ञानस्मृतिसंततेः श्रवणविज्ञानमात्रादर्थान्तरत्वमिति चेन्नार्थप्राप्तत्वात्। यदैवाऽऽत्मप्रतिपादकवाक्यश्रवणादात्मविषयं विज्ञानमुत्पद्यते, तदैव तदुत्पद्यमानं तद्विषयं मिथ्याज्ञानं निवर्तयदेवोत्पद्यते। आत्मविषयमिथ्याज्ञाननिवृत्तौ च तत्प्रभवाः स्मृतयो न भवन्ति स्वाभाविक्योऽनात्मवस्तुभेदविषयाः। अनर्थत्वावगतेश्च। आत्मावगतौ हि सत्यामन्यद्वस्त्वनर्थत्वेनावगम्यते, अनित्यदुःखाशुद्ध्यादिबहुदोषवत्त्वादात्मवस्तुनश्च तद्विलक्षणत्वात्। तस्मादनात्मविज्ञानस्मृतीनामात्मावगतेरभावप्राप्तिः। पारिशेष्यादात्मैकत्वविज्ञानस्मृतिसंततेरर्थत एव भावान्न विधेयत्वम्। शोकमोहभयाशनायापिपासादिदुःखदोषनिवर्तकत्वाच्च तत्स्मृतेः। विपरीतज्ञानप्रभवो हि शोकमोहादिदोषः। तथा च "तत्र को मोहः कः शोको" "विद्वान्न बिभेति

अधिष्ठानस्वरूपत्वात् (अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः)
① ~~[illegible]~~ = असंभावना ② विपरीत भावना = भ्रान्ति ③ आवरण, मल, विक्षेप

कुतश्चन'' ''अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'' ''भिद्यते हृदयग्रन्थिः'' इत्यादिश्रुतयः।

निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। अथापि स्याच्चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयाऽवगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेन्न। मोक्षसाधनत्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। ''आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्'' ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' ''स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' ''आचार्यवान्पुरुषो वेद'' ''तस्य तावदेव चिरम्'' ''अभयं हि वै ब्रह्म भवति। य एवं वेद'' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः।

अनन्यसाधनत्वाच्च निरोधस्य। न ह्यात्मविज्ञानतत्स्मृतिसंतानव्यतिरेकेण चित्तवृत्तिनिरोधस्य साधनमस्ति। अभ्युपगम्येदमुक्तं, न तु ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेणान्यन्मोक्षसाधनमवगम्यते।

आकाङ्क्षाभावाच्च भावनाभावः। यदुक्तं यजेतेत्यादौ किं, केन, कथमिति भावनाकाङ्क्षायां फलसाधनेतिकर्तव्यताभिराकाङ्क्षापनयनं यथा, तद्वदिहाप्यात्मविज्ञानविधावुपपद्यत इति। तदसत्। ''एकमेवाद्वितीयं'' ''तत्त्वमसि'' ''नेति नेति'' ''अनन्तरमबाह्यम्'' ''अयमात्मा ब्रह्म''इत्यादिवाक्यार्थविज्ञानसमकालमेव सर्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तेः। न च वाक्यार्थविज्ञाने विधिप्रयुक्तः प्रवर्तते। विध्यन्तरप्रयुक्तौ चानवस्थादोषमवोचाम। न चैकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादिवाक्येषु विधिरवगम्यते। आत्मस्वरूपान्वाख्यानेनैवावसितत्वात्।

वस्तुस्वरूपान्वाख्यानमात्रत्वादप्रामाण्यमिति चेत्। अथापि स्याद्यथा सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमित्येवमादौ वस्तुस्वरूपान्वाख्यानमात्रत्वादप्रामाण्यमेवमात्मार्थवाक्यानामपीति चेन्न। विशेषात्। न वाक्यस्य वस्त्वन्वाख्यानं क्रियान्वाख्यानं वा प्रामाण्याप्रामाण्यकारणम्। किं तर्हि ? निश्चितफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वम्। तद्यत्रास्ति तत्प्रमाणं वाक्यं, यत्र नास्ति तदप्रमाणम्।

किं च भोः पृच्छामस्त्वामात्मस्वरूपान्वाख्यानपरेषु वाक्येषु फलवन्निश्चितं च विज्ञानमुत्पद्यते न वा। उत्पद्यते चेत्कथमप्रामाण्यमिति। किंवा न पश्यस्य-विद्याशोकमोहभयादिसंसारबीजदोषनिवृत्तिं विज्ञानफलम्। न शृणोषि वा किं "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"। "मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मवित्सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु" इत्येवमाद्युपनिषद्वाक्यशतानि। एवं विद्यते किं सोऽरोदीदित्यादिषु निश्चितं फलवच्च विज्ञानम्? न चेद्विद्यते-ऽस्त्वप्रामाण्यम्, तदप्रामाण्ये सत्यपि फलवन्निश्चितविज्ञानोत्पादकस्य किमि-त्यप्रामाण्यं स्यात्। तदप्रामाण्ये च दर्शपूर्णमासादिवाक्येषु को विश्रम्भः।

ननु दर्शपूर्णमासादिवाक्यानां पुरुषप्रवृत्तिविज्ञानोत्पादकत्वात्प्रामाण्यम्। आत्म-विज्ञानवाक्येषु तन्नास्तीति। सत्यमेवम्। नैष दोषः। प्रामाण्यकारणोपपत्तेः। प्रामाण्य-कारणं च यथोक्तमेव नान्यत्। अलंकारश्चायं यत्सर्वप्रवृत्तिबीजनिरोधफलवद्वि-ज्ञानोत्पादकत्वमात्मप्रतिपादकवाक्यानां नाप्रामाण्यकारणम्।

यत्तूक्तं विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेत्यादिवचनानां वाक्यार्थविज्ञानव्यतिरेकेणो-पासनार्थत्वमिति। सत्यमेतत्। किंतु नापूर्वविध्यर्थता, पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थतैव।

कथं पुनरुपासनस्य पक्षप्राप्तिर्यावता पारिशेष्यादात्मविज्ञानस्मृतिसंत-तिर्नित्यैवेत्यभिहितम्। बाढम्। यद्यप्येवं शरीरारम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वा-त्सम्यग्ज्ञानप्राप्तावप्यवश्यंभाविनी प्रवृत्तिर्वाङ्मनःकायानाम्। लब्धवृत्तेः कर्मणो बलीयस्त्वान्मुक्तेष्वादिप्रवृत्तिवत्। तेन पक्षेप्राप्तं ज्ञानप्रवृत्तेर्दौर्बल्यम्।

तस्मात्त्यागवैराग्यादिसाधनबलावलम्बेनाऽऽत्मविज्ञानस्मृतिसंततिर्नियन्तव्या भवति; न त्वपूर्वा कर्तव्या, प्राप्तत्वादित्यवोचाम। तस्मात्प्राप्तविज्ञानस्मृतिसंताननियम-विध्यर्थानि विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेत्यादिवाक्यान्यन्यार्थासंभवात्।

अनात्मोपासनमिदमितिशब्दप्रयोगात्। यथा प्रियमित्येतदुपासीतेत्यादौ न प्रियादिगुण एवोपास्यः। किं तर्हि? प्रियादिगुणवत्प्राणाद्येवोपास्यम्। तथेहापीतिपरात्म-

शब्दप्रयोगादात्मगुणवदनात्मवस्तूपास्यमिति गम्यते। आत्मोपास्यत्ववाक्यवैलक्षण्याच्च। परेण च वक्ष्यत्यात्मानमेव लोकमुपासीतेति। तत्र च वाक्य आत्मैवोपास्यत्वेनाभिप्रेतो द्वितीयाश्रवणादात्मानमेवेति। इह तु न द्वितीया श्रूयत इतिपरश्चाऽऽत्मशब्दः "आत्मेत्येवोपासीत" इति। अतो नाऽऽत्मोपास्य आत्मगुणश्चान्य इति त्ववगम्यते। न। वाक्यशेष आत्मन उपास्यत्वेनावगमात्। अस्यैव वाक्यस्य शेषे आत्मैवोपास्यत्वेनावगम्यते। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽन्तरतरं यदयमात्माऽऽत्मानमेवावेदिति।

प्रविष्टस्य दर्शनप्रतिषेधादनुपास्यत्वमिति चेत्। यस्याऽऽत्मनः प्रवेश उक्तस्तस्यैव दर्शनं वार्यते तं न पश्यन्तीति। प्रकृतोपादानात्। तस्मादात्मनोऽनुपास्यत्वमेवेति चेन्न। अकृत्स्नत्वदोषात्। दर्शनप्रतिषेधोऽकृत्स्नत्वदोषाभिप्रायेण, नाऽऽत्मोपास्यत्वप्रतिषेधाभिप्रायेण। प्राणनादिक्रियाविशिष्टत्वेन विशेषणात्। आत्मनश्चेदुपास्यत्वमनभिप्रेतं प्राणनाद्येकैकक्रियाविशिष्टस्याऽऽत्मनोऽकृत्स्नत्ववचनमनर्थकं स्यादकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवतीति। अतोऽनेकैकविशिष्टस्त्वात्मा कृत्स्नत्वादुपास्य एवेति सिद्धम्।

यस्त्वात्मशब्दस्येतिपरः प्रयोग आत्मशब्दप्रत्यययोरात्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्। अन्यथाऽऽत्मानमुपासीतेत्येवमवक्ष्यत्। तथा चार्थादात्मनि शब्दप्रत्ययावनुज्ञातौ स्याताम्। तच्चानिष्टम् "नेति नेति" "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" "अविज्ञातं विज्ञातृ" "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादिश्रुतिभ्यः। यत्त्वात्मानमेव लोकमुपासीतेति, तदनात्मोपासनप्रसङ्गनिवृत्तिपरत्वान्न वाक्यान्तरम्।

अनिर्ज्ञातत्वसामान्यादात्मा ज्ञातव्योऽनात्मा च। तत्र कस्मादात्मोपासन एव यत्न आस्थीयते आत्मेत्येवोपासीतेति नेतरविज्ञान इति। अत्रोच्यते— **तदेतदेव प्रकृतं पदनीयं** गमनीयं नान्य**दस्य सर्वस्ये**ति निर्धारणार्था षष्ठी। अस्मिन्सर्वस्मिन्नित्यर्थः। **यदयमात्मा** यदेतदात्मतत्त्वं किं न विज्ञातव्यमेवान्यन्न? किं तर्हि? ज्ञातव्यत्वेपि न पृथग्ज्ञानान्तरमपेक्षत आत्मज्ञानात्। कस्मात्? **अनेना**ऽऽत्मना ज्ञातेन

हि यस्मा**देतत्सर्व**मनात्मजातमन्यद्यत्तत्सर्वं समस्तं **वेद** जानाति। नन्वन्यज्ञानेनान्यन्न ज्ञायत इति। अस्य परिहारं दुन्दुभ्यादिग्रन्थेन वक्ष्यामः।

कथं पुनरेतत्पदनीयमिति। उच्यते— **यथा ह वै** लोके **पदेन** गवादिखुराङ्कितो देशः पदमित्युच्यते, तेन पदेन नष्टं विवित्सितं पशुं पदेनान्वेषमाणो**ऽनुविन्देत्**लभेत। एवमात्मनि लब्धे सर्वमनुलभत इत्यर्थः। नन्वात्मनि ज्ञाते सर्वमन्यज्ज्ञायत इति ज्ञाने प्रकृते कथं लाभोऽप्रकृत उच्यत इति। न। ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात्। आत्मनो ह्यलाभोऽज्ञानमेव। तस्माज्ज्ञानमेवाऽऽत्मनो लाभो, नानात्मलाभवदप्राप्तप्राप्तिलक्षण आत्मलाभो, लब्धृलब्धव्ययोर्भेदाभावात्।

यत्र ह्यात्मनोऽनात्मा लब्धव्यो भवति, तत्राऽऽत्मा लब्धा, लब्धव्योऽनात्मा। स चाप्राप्त उत्पाद्यादिक्रियाव्यवहितः कारकविशेषोपादानेन क्रियाविशेषमुत्पाद्य लब्धव्यः। स त्वप्राप्तप्राप्तिलक्षणोऽनित्यो मिथ्याज्ञानजनितकामक्रियाप्रभवत्वात्स्वप्ने पुत्रादिलाभवत्। अयं तु तद्विपरीत आत्मा। आत्मत्वादेव नोत्पाद्यादिक्रियाव्यवहितः।

नित्यलब्धस्वरूपत्वेऽपि सत्यविद्यामात्रं व्यवधानम्। यथा स्वरूपेण गृह्यमाणाया अपि शुक्तिकाया विपर्ययेण रजताभासाया अग्रहणं विपरीतज्ञानव्यवधानमात्रं, तथा ग्रहणं ज्ञानमात्रमेव विपरीतज्ञानव्यवधानापोहार्थत्वाज्ज्ञानस्य। एवमिहाप्यात्मनोऽलाभोऽविद्यामात्रव्यवधानम्। तस्माद्विद्यया तदपोहनमात्रमेव लाभो नान्यः कदाचिदप्युपपद्यते। तस्मादात्मलाभे ज्ञानादर्थान्तरसाधनस्याऽऽनर्थक्यं वक्ष्यामः। तस्मान्निराशङ्कमेव ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वं विवक्षन्नाह— ज्ञानं प्रकृत्यानुविन्देदिति। विन्दतेर्लाभार्थत्वात्।

गुणविज्ञानफलमिदमुच्यते— यथाऽयमात्मा नामरूपानुप्रवेशेन ख्यातिं गत आत्मेत्यादिनामरूपाभ्यां प्राणादिसंहतिं च **श्लोकं** प्राप्तवानित्ये**वं यो वेद स कीर्तिं** ख्यातिं **श्लोकं** च संघातमिष्टैः सह **विन्दते** लभते। यद्वा यथोक्तं वस्तु यो वेद मुमुक्षूणामपेक्षितं कीर्तिशब्दितमैक्यज्ञानं तत्फलं श्लोकशब्दितां मुक्तिमाप्नोतीति मुख्यमेव फलम्॥७॥

व्याकृते जगति ताभ्यामाख्यातस्तथा यथोक्तात्मज्ञानादधिकृतो नरो
नामरूपाभ्याम्		नित्यसिद्धां ख्यातिमेति। कीर्तिर्यस्य स जीवति।

नीलकण्ठ महाराज एवं गोविन्दानन्द जी विचार माण्डूक्य कारिका पुस्तक हाथ में लेकर कर रहे थे। भागवतानन्द नहीं 'सपञ्जाङ्गन दोनों' का विचार। महाभाष्य में कुण्ड लिया है। उन सब को कैयट ने तोड़ा और अर्थ भी बतलाया

(सर्वाधिक प्रिय रूप से आत्मा की उपासना)

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्स- अधिक
र्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः
प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह कहनेवाला
तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य
आत्मानमेव प्रियमुपास्ते, न हास्य प्रियं
प्रमायुकं भवति॥८॥ चित्तवृत्ति निरोध से विवेक उत्पन्न होती है
मरण शील प्रि के स्थान में प्र - प्र+ईयसुन = प्रेयः

वह यह आत्मतत्त्व (लोकप्रसिद्ध प्रिय) पुत्र से अधिक प्रिय है। सुवर्णादि रूप से अधिक प्रिय है और लोक में प्रियरूप से प्रसिद्ध अन्य सभी वस्तु से भी प्रियतर है, क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अत्यन्त समीपवर्ती है। वह जो आत्मा को प्रिय देखने वाला है, यदि आत्मा से भिन्न अनात्मा को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जाएगा' तो वैसा ही हो जाएगा, क्योंकि वह ऐसा कहने में समर्थ है। अतः (सम्पूर्ण अनात्मवस्तु का परित्याग कर) आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करे। जो पुरुष आत्मरूप प्रिय की उपासना करता है अर्थात् आत्मा ही प्रिय है, अन्य लौकिक पदार्थ प्रिय होने पर भी अप्रिय ही हैं; ऐसा निश्चय करके चिन्तन करता है, उसका अत्यन्त प्रिय मरणशील नहीं हो सकता॥८॥

कुतश्चाऽऽत्मतत्त्वमेव ज्ञेयमनादृत्यान्यदित्याह— **तदेतदात्मतत्त्वं प्रेयः** प्रियतरं **पुत्रात्**। पुत्रो हि लोके प्रियः प्रसिद्धस्तस्मादपि प्रियतरमिति निरतिशयप्रियत्वं दर्शयति। तथा **वित्ता**द्धिरण्यरत्नादेस्तथा**ऽन्यस्मा**द्यल्लोके प्रियत्वेन प्रसिद्धं तस्मात्**सर्वस्मा**दित्यर्थः। तत्कस्मादात्मतत्त्वमेव सर्वस्मात्प्रियतरं, न प्राणादीति। उच्यते— **अन्तरतरं** बाह्यात्पुत्रवित्तादेः प्राणपिण्डसमुदायो ह्यान्तरोऽभ्यन्तरः संनिकृष्ट आत्मनः। तस्मादप्यन्तरादन्तरतरं **यदयमात्मा** यदेतदात्मतत्त्वम्। यो हि लोके निरतिशयप्रियः, स सर्वप्रयत्नेन लब्धव्यो भवति। तथाऽयमात्मा सर्वलौकिकप्रियेभ्यः प्रियतमः। तस्मात्तल्लाभे महान्यत्न आस्थेय इत्यर्थः। कर्तव्यताप्राप्तमप्यन्यप्रियलाभे यत्नमुज्झित्वा।

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते। किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति॥९॥

(उसके विषय में ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले ब्राह्मणों ने) यह कहा है कि ब्रह्मविद्या के द्वारा मनुष्य "हम सर्वरूप हो जायेंगे" ऐसा मानते हैं। उसके विषय में यह प्रश्न होता है कि उस ब्रह्म ने क्या जाना; जिस विज्ञान से वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया?॥९॥

कस्मात्पुनरात्मानात्मप्रिययोरन्यतरप्रियहानेनेतरप्रियोपादानप्राप्तावात्मप्रियोपादानेनैवेतरहानं क्रियते, न विपर्ययः इति। उच्यते— **स यः** कश्चिदन्यमनात्मविशेषं पुत्रादिकं प्रियतरमात्मनः सकाशाद**ब्रुवाणं ब्रूया**दात्मप्रियवादी। किम्? **प्रियं** तवाभिमतं पुत्रादिलक्षणं **रोत्स्यत्या**वरणं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति विनङ्क्ष्यतीति। स कस्मादेवं ब्रवीति? यस्मा**दीश्वरः** समर्थः पर्याप्तोऽसावेवं वक्तुं **ह** यस्मात्तस्मा**त्तथैव स्याद्य**त्तेनोक्तं प्राणसंरोधं प्राप्स्यति। यथाभूतवादी हि सः। तस्मात्स ईश्वरो वक्तुम्। ईश्वरशब्दः क्षिप्रवाचीति केचित्। भवेद्यदि प्रसिद्धिः स्यात्। तस्मादुज्झित्वाऽन्यत्प्रिय**मात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते** आत्मैव प्रियो नान्योऽस्तीति प्रतिपद्यतेऽन्यल्लौकिकं प्रियमप्यप्रियमेवेति निश्चित्योपास्ते चिन्तयति, **न हास्यैवंविदः प्रियं प्रमायुकं** प्रमरणशीलं **भवति।** नित्यानुवादमात्रमेतदात्मविदोऽन्यस्य प्रियस्याप्रियस्य चाभावात्। आत्मप्रियग्रहणस्तुत्यर्थं वा प्रियगुणफलविधानार्थं वा मन्दात्मदर्शिनस्ताच्छील्यप्रत्ययोपादानात्॥८॥

सूत्रिता ब्रह्मविद्याऽऽत्मेत्येवोपासीतेति यदर्थोपनिषत्कृत्स्नाऽपि। तस्यैतस्य सूत्रस्य व्याचिख्यासुः प्रयोजनाभिधित्सयोपोजिघांसति— **तदिति** वक्ष्यमाणमनन्तरवाक्यावद्योत्यं वस्त्वा**हु**र्ब्राह्मणा ब्रह्मविविदिषवो जन्मजरामरणप्रबन्धचक्रभ्रमणकृतायासदुःखोदकापारमहोदधिप्लवभूतं गुरुमासाद्य तत्तीरमुत्तितीर्षवो धर्मा-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्।
अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो
यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभव-

उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ"। इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से भी (जिस जिसने

धर्मसाधनतत्फललक्षणात्साध्यसाधनरूपान्निर्विण्णास्तद्विलक्षणनित्यनिरतिशयश्रेयः-प्रतिपित्सवः। किमाहुरित्याह—**यद्ब्रह्मविद्यया** ब्रह्म परमात्मा, तद्यया वेद्यते स ब्रह्मविद्या तया ब्रह्मविद्यया **सर्वं** निरवशेषं **भविष्यन्तो** भविष्याम इत्येवं **मनुष्या यन्मन्यन्ते**। मनुष्यग्रहणं विशेषतोऽधिकारज्ञापनार्थम्। मनुष्या एव हि विशेषतोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनेऽधिकृता इत्यभिप्रायः। यथा कर्मविषये फलप्राप्तिं ध्रुवां कर्मभ्यो मन्यन्ते, तथा ब्रह्मविद्यायाः सर्वात्मभावफलप्राप्तिं ध्रुवामेव मन्यन्ते। वेदप्रामाण्यस्योभयत्राविशेषात्।

तत्र विप्रतिषिद्धं वस्तु लक्ष्यतेऽतः पृच्छामः—**किमु तद्ब्रह्म** यस्य विज्ञानात्सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते। तत्किम**वेद्यस्माद्विज्ञानात्तद्ब्रह्म सर्वमभवत्**। ब्रह्म च सर्वमिति श्रूयते। तद्यद्यविज्ञाय किंचित्सर्वमभवत्तथाऽन्येषामप्यस्तु, किं ब्रह्मविद्यया? अथ विज्ञाय सर्वमभवद्विज्ञानसाध्यत्वात्कर्मफलेन तुल्यमेवेत्यनित्यत्वप्रसङ्गः सर्वभावस्य ब्रह्मविद्याफलस्य। अनवस्थादोषश्च तदप्यन्यद्विज्ञाय सर्वमभवत्ततः पूर्वमप्यन्यद्विज्ञाय ततः पूर्वतरमप्यन्यद्विज्ञायेति। न तावदविज्ञाय सर्वमभवत्, शास्त्रार्थवैरूप्यदोषात्। फलानित्यत्वदोषस्तर्हि? नैकोऽपि दोषोऽर्थविशेषोपपत्तेः ॥९॥

इति चतुर्थाह्निकम् ॥४॥

❀❀❀

यदि किमपि विज्ञायैव तद्ब्रह्म सर्वमभवत्पृच्छामः किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति? एवं चोदिते सर्वदोषानागन्धितं प्रतिवचनमाह— ब्रह्मापरं

त्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳ स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्। यथा

उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्मरूप हो गया) ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना कि "मैं ही मनु और सूर्य भी हुआ था", इस प्रकृतब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार से जानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो वह इस विज्ञान से सर्वरूप हो जाता है। ऐसे तत्त्ववेत्ता का पराभव करने में द्योतनशील देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओं का भी आत्मा हो जाता है। यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञानी परमार्थतत्त्व को नहीं जानता। जैसे लोक में भारवाही पशु होता है, वैसे ही वह भेदवादी देवताओं का पशु है। जैसे लोक में बहुत से पशु जीविकाप्रदाता का भार वहन करते हुए पालन करते हैं, वैसे ही हविष्यान्न प्रदान कर

सर्वभावस्य साध्यत्वोपपत्तेः। न हि परस्य ब्रह्मणः सर्वभावापत्तिर्विज्ञानसाध्या। विज्ञानसाध्या च सर्वभावापत्तिमाह, "तस्मात्तत्सर्वमभवदिति"। **तस्माद् ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि**त्यपरं ब्रह्मेह भवितुमर्हति। मनुष्याधिकाराद्वा तद्भावी ब्राह्मणः स्यात्। सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्त इति हि मनुष्याः प्रकृतास्तेषां चाभ्युदयनिःश्रेयससाधने विशेषतोऽधिकार इत्युक्तम्। न परस्य ब्रह्मणो नाप्यपरस्य प्रजापतेः। अतो द्वैतैकत्वापरब्रह्मविद्यया कर्मसहितयाऽपरब्रह्मभावमुपसंपन्नो भोज्यादपावृत्तः

ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः
पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमा-
नेऽप्रियं भवति, किमु बहुषु, तस्मादेषां तन्न
प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥१०॥

एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। उनमें से एक पशु का भी अपहरण किये जाने पर मनुष्य को अप्रिय जान पड़ता है, फिर भला बहुतों के अपहरण किये जाने पर तो कहना ही क्या? अतः यह देवताओं को सर्वथा प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व को जानें ॥१०॥

सर्वप्राप्त्योच्छिन्नकामकर्मबन्धनः परब्रह्मभावी ब्रह्मविद्याहेतोर्ब्रह्मेत्यभिधीयते। दृष्टश्च लोके भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य शब्दप्रयोगो, यथौदनं पचतीति, शास्त्रे च परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणामित्यादिस्तथेहेति केचिद्ब्रह्म ब्रह्मभावी पुरुषो ब्राह्मण इति व्याचक्षते। तन्न, सर्वभावापत्तेरनित्यत्वदोषात्। न हि सोऽस्ति लोके परमार्थतो यो निमित्तवशाद्भावान्तरमापद्यते नित्यश्चेति। तथा ब्रह्मविज्ञाननिमित्तकृता चेत्सर्वभावापत्तिर्नित्या चेति विरुद्धम्। अनित्यत्वे च कर्मफलतुल्यतेत्युक्तो दोषः।

अविद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तिं चेत्सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं मन्यसे, ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना व्यर्था स्यात्। प्राग्ब्रह्मविज्ञानादपि सर्वो जन्तुर्ब्रह्मत्वान्नित्यमेव सर्वभावापन्नः परमार्थतोऽविद्ययात्वब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाध्यारोपितं, यथा शुक्तिकायां रजतं, व्योम्नि वा तलमलवत्त्वादि, तथेह ब्रह्मण्यध्यारोपितमविद्ययाऽब्रह्मत्वमसर्वत्वं च ब्रह्मविद्यया निवर्त्यत इति मन्यसे यदि, तदा युक्तं यत्परमार्थत आसीत्परं ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थभूतं ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यस्मिन्वाक्य उच्यत इति

वक्तुम्, यथाभूतार्थवादित्वाद्वेदस्य। न त्वियं कल्पना युक्ता ब्रह्मशब्दार्थविपरीतो ब्रह्मभावी पुरुषो ब्रह्मेत्युच्यत इति। श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

महत्तरे प्रयोजनान्तरेऽसत्यविद्याकृतव्यतिरेकेणाब्रह्मत्वमसर्वत्वं च विद्यत एवेति चेन्न। तस्य ब्रह्मविद्ययाऽपोहानुपपत्तेः। न हि क्वचित्साक्षाद्वस्तुधर्मस्यापोढ्री दृष्टा, कर्त्री वा ब्रह्मविद्या, अविद्यायास्तु सर्वत्रैव निवर्तिका दृश्यते। तथेहाप्यब्रह्मत्वमसर्वत्वं चाविद्याकृतमेव निवर्त्यतां ब्रह्मविद्यया। न तु पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निवर्तयितुं वाऽर्हति ब्रह्मविद्या। तस्माद्व्यर्थैव श्रुतहान्यश्रुतकल्पना।

ब्रह्मण्यविद्यानुपपत्तिरिति चेन्न। ब्रह्मणि विद्याविधानात्। न हि शुक्तिकायां रजताध्यारोपणेऽसति शुक्तिकात्वं ज्ञाप्यते, चक्षुर्गोचरापन्नायामियं शुक्तिका न रजतमिति। तथा "सदेवेदं सर्वं" "ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वं" "नेदं द्वैतमस्त्यब्रह्म" इति ब्रह्मण्येकत्वविज्ञानं न विधातव्यं ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपणायामसत्याम्। न ब्रूमः शुक्तिकायामिव ब्रह्मण्यतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति। किं तर्हि? न ब्रह्म स्वात्मन्यतद्धर्माध्यारोपनिमित्तमविद्याकर्तृ चेति।

भवत्वेवं नाविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म। किंतु नैवाब्रह्माविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्य इष्यते। "नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता" "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" "तत्त्वमसि" "आत्मानमेवावेत्" "अहं ब्रह्मास्मि" "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्मृतिभ्यश्च— "समं सर्वेषु भूतेषु" "अहमात्मा गुडाकेश" "शुनि चैव श्वपाके च" "यस्तु सर्वाणि भूतानि" "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि" इति च मन्त्रवर्णात्।

नन्वेवं शास्त्रोपदेशानर्थक्यमिति। बाढमेवम्, अवगतेऽस्त्वेवाऽऽनर्थक्यम्। अवगमानर्थक्यमपीति चेन्न। अनवगमनिवृत्तेर्दृष्टत्वात्। तन्निवृत्तेरप्यनुपपत्तिरेकत्व इति चेन्न। दृष्टविरोधात्। दृश्यते ह्येकत्वविज्ञानादेवानवगमनिवृत्तिः। दृश्यमानमप्य-

नुपपन्नमिति ब्रुवतो दृष्टविरोधः स्यात्। न च दृष्टविरोधः केनचिदप्यभ्युपगम्यते। न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, दृष्टत्वादेव। दर्शनानुपपत्तिरिति चेत्तत्राप्येषैव युक्तिः।

"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति" "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" "मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः परस्माद्विलक्षणोऽन्यः संसार्यवगम्यते। तद्विलक्षणश्च परः "स एष नेति नेति" "अशनायाद्यत्येति" "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" इत्यादिश्रुतिभ्यः। कणादाक्षपादादितर्कशास्त्रेषु च संसारिविलक्षण ईश्वर उपपत्तितः साध्यते। संसारदुःखापनयार्थित्वप्रवृत्तिदर्शनात्स्फुटमन्यत्वमीश्वरात्संसारिणोऽवगम्यते। "अवाक्यनादरः" "न मे पार्थास्ति" इति श्रुतिस्मृतिभ्यः। "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" "तं विदित्वा न लिप्यते" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतत्" "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा" "तमेव धीरो विज्ञाय" "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते" इत्यादिकर्मकर्तृनिर्देशाच्च।

मुमुक्षोश्च गतिमार्गविशेषदेशोपदेशात्। असति भेदे कस्य कुतो गतिः स्यात्तदभावे च दक्षिणोत्तरमार्गविशेषानुपपत्तिर्गन्तव्यदेशानुपपत्तिश्चेति। भिन्नस्य तु परस्मादात्मनः सर्वमेतदुपपन्नम्। कर्मज्ञानसाधनोपदेशाश्च। भिन्नश्चेद्ब्रह्मणः संसारी स्याद्युक्तस्तं प्रत्यभ्युदयनिःश्रेयससाधनयोः कर्मज्ञानयोरुपदेशो, नेश्वरस्याऽऽप्तकामत्वात्। तस्माद्युक्तं ब्रह्मेति ब्रह्मभावी पुरुष उच्यते इति चेन्न। ब्रह्मोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गात्। संसारी चेद्ब्रह्मभाव्यब्रह्म सन्विदित्वाऽऽत्मानमेवाहं ब्रह्मास्मीति सर्वमभवत्तस्य संसार्यात्मविज्ञानादेव सर्वात्मभावस्य फलस्य सिद्धत्वात्परब्रह्मोपदेशस्य ध्रुवमानर्थक्यं प्राप्तम्।

तद्विज्ञानस्य क्वचित्पुरुषार्थसाधनेऽविनियोगात्संसारिण एवाहंब्रह्मास्मीति

ब्रह्मत्वसंपादनार्थ उपदेश इति चेत्। अनिर्ज्ञाते हि ब्रह्मस्वरूपे किं संपादयेदहं ब्रह्मास्मीति। निर्ज्ञातलक्षणे हि ब्रह्मणि शक्या संपत्कर्तुम्। न, "अयमात्मा ब्रह्म" "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "य आत्मा" "तत्सत्यं स आत्मा" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रकृत्य "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इति सहस्रशो ब्रह्मात्मशब्दयोः सामानाधिकरण्यादेकार्थत्वमेवेत्यवगम्यते। अन्यस्य ह्यन्यत्वे संपत्क्रियते नैकत्वे। "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति च प्रकृतस्यैव द्रष्टव्यस्याऽऽत्मन एकत्वं दर्शयति। तस्मान्नाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वसंपदुपपत्तिः।

न चाप्यन्यत्प्रयोजनं ब्रह्मोपदेशस्य गम्यते "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" "अभयं हि वै ब्रह्म भवति" इति च तदापत्तिश्रवणात्। संपत्तिश्चेत्तदापत्तिर्न स्यात्। नह्यन्यस्यान्यभाव उपपद्यते। वचनात्संपत्तेरपि तद्भावापत्तिः स्यादिति चेन्न। संपत्तेः प्रत्ययमात्रत्वात्। विज्ञानस्य च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यतिरेकेणाकारकत्वमित्यवोचाम। न च वचनं वस्तुनः सामर्थ्यजनकम्। ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति स्थितिः। स एष इह प्रविष्ट इत्यादिवाक्येषु च परस्यैव प्रवेश इति स्थितम्। तस्माद् ब्रह्मेति न ब्रह्मभाविपुरुषकल्पना साध्वी।

इष्टार्थबाधनाच्च। सैन्धवघनवदनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः काण्डद्वयेऽप्यन्तेऽवधारणादवगम्यते इत्यनुशासनमेतावदरे खल्वमृतत्वमिति। तथा सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः। तत्र यदि संसारी ब्रह्मणोऽन्य आत्मानमेवावेदिति कल्प्येत, इष्टस्यार्थस्य बाधनं स्यात्। तथा च शास्त्रमुपक्रमोपसंहारयोर्विरोधादसमञ्जसं कल्पितं स्यात्। व्यपदेशानुपपत्तेश्च। यदि चाऽऽत्मानमेवावेदिति संसारी कल्प्येत, ब्रह्मविद्येतिव्यपदेशो न स्यात्। आत्मानमेवावेदिति संसारिण एव वेद्यत्वोपपत्तेः।

आत्मेति वेदितुरन्यदुच्यत इति चेन्न। अहं ब्रह्मास्मीति विशेषणात्। अन्यश्चेद्वेद्यः स्यादयमसाविति वा विशेष्येत नत्वहमस्मीति। अहमस्मीति विशेषणा–

दात्मानमेवावेदिति चावधारणान्निश्चितमात्मैव ब्रह्मेत्यवगम्यते। तथा च सत्युपपन्नो ब्रह्मविद्याव्यपदेशो, नान्यथा। संसारिविद्या ह्यन्यथा स्यात्। न च ब्रह्मत्वाब्रह्मत्वे ह्येकस्योपपन्ने परमार्थतस्तमःप्रकाशाविव भानोर्विरुद्धत्वात्।

न चोभयनिमित्तत्वे ब्रह्मविद्येति निश्चितो व्यपदेशो युक्तस्तदा ब्रह्मविद्या संसारिविद्या च स्यात्। न च वस्तुनोऽर्धजरतीयत्वं कल्पयितुं युक्तं तत्त्वज्ञान-विवक्षायाम्। श्रोतुः संशयो हि तथा स्यात्। निश्चितं च ज्ञानं पुरुषार्थसाधनमिष्यते "यस्य स्यादृद्धा न विचिकित्साऽस्ति" "संशयात्मा विनश्यति" इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। अतो न संशयितो वाक्यार्थो वाच्यः परहितार्थिना।

ब्रह्मणि साधकत्वकल्पनाऽस्मदादिष्विवापेशला, तदात्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्व-मभवदिति चेन्न। शास्त्रोपालम्भात्। न ह्यस्मत्कल्पनेयं, शास्त्रकृता तु। तस्मा-च्छास्त्रस्यायमुपालम्भः। न च ब्रह्मण इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया स्वार्थपरित्यागः कार्यः।

न चैतावत्येवाक्षमा युक्ता भवतः। सर्वं हि नानात्वं ब्रह्मणि कल्पितमेव "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" "नेह नानाऽस्ति किंचन" "यत्र हि द्वैतमिव भवति" "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिवाक्यशतेभ्यः। सर्वो हि लोकव्यवहारो ब्रह्मण्येव कल्पितो न परमार्थः सन्नित्यल्पमिदमुच्यत इयमेव कल्पनाऽपेशलेति।

तस्माद्यत्प्रविष्टं स्त्रष्टृ, तद्ब्रह्म। वैशब्दोऽवधारणार्थः। इदं शरीरस्थं यद्गृह्यतेऽग्रे प्राक्प्रतिबोधादपि ब्रह्मैवाऽऽसीत्सर्वं चेदम्। किंत्वप्रतिबोधादब्रह्मा-स्म्यसर्वं चेत्यात्मन्यध्यारोपात्कर्ताऽहं क्रियावान्फलानां च भोक्ता सुखी दुःखी संसारीति चाध्यारोपयति। परमार्थतस्तु ब्रह्मैव तद्विलक्षणं सर्वं च तत्कथंचिदाचार्येण दयालुना प्रतिबोधितं नासि संसारीत्यात्मानमेवावेत्स्वाभाविकम्। अविद्याध्यारोपितविशेष-वर्जितमित्येवशब्दस्यार्थः।

ब्रूहि कोऽसावात्मा स्वाभाविको, यमात्मानं विदितवद्ब्रह्म। ननु न स्मरस्यात्मानं, दर्शितो ह्यसौ य इह प्रविश्य प्राणित्यपानिति व्यानित्युदानिति समानितीति। नन्वसौ गौरसावश्व इत्येवमसौ व्यपदिश्यते भवता, नाऽऽत्मानं प्रत्यक्षं दर्शयसि। एवं तर्हि द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता स आत्मेति।

नन्वत्रापि दर्शनादिक्रियाकर्तुः स्वरूपं न प्रत्यक्षं दर्शयसि। न हि गमिरेव गन्तुः स्वरूपं छिदिर्वा छेत्तुः। एवं तर्हि दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता स आत्मेति।

नन्वत्र को विशेषो द्रष्टरि। यदि दृष्टेर्द्रष्टा यदि वा घटस्य द्रष्टा सर्वथाऽपि द्रष्टैव, द्रष्टव्य एव तु भवान्विशेषमाह दृष्टेर्द्रष्टेति। द्रष्टा तु यदि दृष्टेर्यदि वा घटस्य द्रष्टा द्रष्टैव। न, विशेषोपपत्तेः। अस्त्यत्र विशेषो यो दृष्टेर्द्रष्टा स दृष्टिश्चेद्भवति नित्यमेव पश्यति दृष्टिं न कदाचिदपि दृष्टिर्न दृश्यते द्रष्ट्रा तत्र द्रष्टुर्दृष्ट्या नित्यया भवितव्यम्। अनित्या चेद्द्रष्टुर्दृष्टिस्तत्र दृश्या या दृष्टिः सा कदाचिन्न दृश्येतापि, यथाऽनित्यया दृष्ट्या घटादि वस्तु। न च तद्वद्दृष्टेर्द्रष्टा कदाचिदपि न पश्यति दृष्टिम्।

किं द्वे दृष्टी द्रष्टुर्नित्याऽदृश्याऽन्याऽनित्या दृश्येति? बाढम्। प्रसिद्धा तावदनित्या दृष्टिरन्धानन्धत्वदर्शनात्। नित्यैव चेत्सर्वोऽनन्ध एव स्यात्। द्रष्टुस्तु नित्या दृष्टिः "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेरनुमानाच्च। अन्धस्यापि घटाद्याभासविषया स्वप्ने दृष्टिरुपलभ्यते। सा तर्हीतरदृष्टिनाशे न नश्यति सा द्रष्टुर्दृष्टिस्तयाऽविपरिलुप्तया नित्यया दृष्ट्या स्वरूपभूतया स्वयंज्योतिःसमाख्ययेतरामनित्यां दृष्टिं स्वप्नबुद्धान्तयोर्वासनाप्रत्ययरूपां नित्यमेव पश्यन्दृष्टेर्द्रष्टा भवति। एवं च सति दृष्टिरेव स्वरूपमस्याग्न्यौष्ण्यवन्न काणादादीनामिव दृष्टिव्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो द्रष्टा।

तद्ब्रह्माऽऽत्मानमेव नित्यदृग्रूपमध्यारोपितानित्यदृष्ट्यादिवर्जितमेवावेद्वि-

दितवत्। ननु विप्रतिषिद्धम्। "न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" इति श्रुतेर्विज्ञातुर्विज्ञानम्। न, एवं विज्ञानान्न विप्रतिषेधः। एवं दृष्टेर्द्रष्टेति विज्ञायते एव। अन्यज्ञानानपेक्षत्वाच्च। न च द्रष्टुर्नित्यैव दृष्टिरित्येवं विज्ञाते द्रष्टृविषयां दृष्टिमन्यामाकाङ्क्षते। निवर्तते हि द्रष्टुर्विषयदृष्ट्याकाङ्क्षा, तदसंभवादेव। न ह्यविद्यमाने विषय आकाङ्क्षा कस्यचिदुपजायते। न च दृश्या दृष्टिर्द्रष्टारं विषयीकर्तुमुत्सहते। यतस्तामाकाङ्क्षेत। न च स्वरूपविषयाकाङ्क्षा स्वस्यैव। तस्मादज्ञानाध्यारोपणनिवृत्तिरेवाऽऽत्मानमेवावेदित्युक्तं, नाऽऽत्मनो विषयीकरणम्।

तत्कथमवेदित्याह— **अहं** दृष्टेर्द्रष्टाऽऽत्मा **ब्रह्मास्मि** भवामीति। ब्रह्मेति यत्साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्माऽशनायाद्यतीतो नेति नेत्यस्थूलमनण्वित्येवमादिलक्षणं तदेवाहमस्मि नान्यः संसारी यथा भवानाहेति। **तस्मादेवं** विज्ञाना**त्तद्ब्रह्म सर्वमभवत्**। अब्रह्माध्यारोपणापगमात्तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्त्या सर्वमभवत्। तस्माद्युक्तमेव मनुष्या मन्यन्ते यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्याम इति। यत्पृष्टं किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति तन्निर्णीतं "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदिति।

तत्त्र यो **यो देवानां** मध्ये **प्रत्यबुध्यत** प्रतिबुद्धवानात्मानं यथोक्तेन विधिना, **स एव** प्रतिबुद्ध आत्मा **तद्ब्रह्माभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां** च मध्ये। देवानामित्यादि लोकदृष्ट्यपेक्षया न ब्रह्मत्वबुद्ध्योच्यते। पुरः पुरुष आविशदिति सर्वत्र ब्रह्मैवानुप्रविष्टमित्यवोचाम। अतः शरीराद्युपाधिजनितलोकदृष्ट्यपेक्षया देवानामित्याद्युच्यते। परमार्थतस्तु तत्र-तत्र ब्रह्मैवाग्रे आसीत्प्राक्प्रतिबोधाद्देवादिशरीरेष्वन्यथैव विभाव्यमानम्। तदात्मानमेवावेत्तथैव च सर्वमभवत्।

अस्या ब्रह्मविद्यायाः सर्वभावापत्तिः फलमित्येतस्यार्थस्य द्रढिम्ने मन्त्रानुदाहरति श्रुतिः। कथम्। **तद्ब्रह्मैतदा**त्मानमेवाहमस्मीति **पश्यन्ने**तस्मादेव ब्रह्मणो दर्शना**दृषिर्वामदेवाख्यः प्रतिपेदे ह** प्रतिपन्नवान्किल। स एतस्मिन्ब्रह्मात्मदर्शनेऽवस्थितः

एतान्मन्त्रान्ददर्श— "**अहं मनुरभवं सूर्यश्च**" इत्यादीन्। तदेतद्ब्रह्म पश्यन्निति ब्रह्मविद्या परामृश्यते। अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादिना सर्वभावापत्तिं ब्रह्मविद्याफलं परामृशति। पश्यन्सर्वात्मभावं फलं प्रतिपेदे इत्यस्मात्प्रयोगाद्ब्रह्मविद्याऽसहायसाधनसाध्यं मोक्षं दर्शयति। भुञ्जानस्तृप्यतीति यद्वत्।

सेयं ब्रह्मविद्यया सर्वभावापत्तिरासीन्महतां देवादीनां वीर्यातिशयान्नेदानीमैदंयुगीनानां विशेषतो मनुष्याणामल्पवीर्यत्वादिति स्यात्कस्यचिद्बुद्धिस्तद्व्युत्थापनायाऽऽह— **तदिदं** प्रकृतं ब्रह्म यत्सर्वभूतानुप्रविष्टं दृष्टिक्रियादिलिङ्ग**मेतर्ह्येतस्मिन्नपि** वर्तमानकाले **यः** कश्चिद्व्यावृत्तबाह्यौत्सुक्य आत्मा**नमेवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति** अपोह्योपाधिजनितभ्रान्तिविज्ञानाध्यारोपितान्विशेषान्संसारधर्मानागन्धितमनन्तरमबाह्यं ब्रह्मैवाहमस्मि केवलमिति। **सोऽ**विद्याकृतासर्वत्वनिवृत्तेर्ब्रह्मविज्ञाना**दिदं सर्वं भवति**। न हि महावीर्येषु वामदेवादिषु हीनवीर्येषु वा वार्तमानिकेषु मनुष्येषु ब्रह्मणो विशेषस्तद्विज्ञानस्य वाऽस्ति।

वार्तमानिकेषु पुरुषेषु तु ब्रह्मविद्याफलेऽनैकान्तिकता शङ्क्यते इत्यत आह—**तस्य ह** ब्रह्मविज्ञातुर्यथोक्तेन विधिना **देवा** महावीर्याश्च**नाप्यभूत्या** अभवनाय ब्रह्मसर्वभावस्य **नेशते न** पर्याप्ताः, किमुतान्ये।

ब्रह्मविद्याफलप्राप्तौ विघ्नकरणे देवादय ईशत इति का शङ्केति। उच्यते— देवादीन्प्रति ऋणवत्त्वान्मर्त्यानाम्। "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" इति हि जायमानमेवर्णवन्तं पुरुषं दर्शयति श्रुतिः। पशुनिदर्शनाच्चाथो अयं वा इत्यादिलोकश्रुतेश्चाऽऽत्मनो वृत्तिपरिपिपालयिषयाऽधमर्णानिव देवाः परतन्त्रान्मनुष्यान्प्रत्यमृतत्वप्राप्तिं प्रति विघ्नं कुर्युरिति न्याय्यैवैषा शङ्का।

स्वपशून्स्वशरीराणीव च रक्षन्ति देवाः। महत्तरां हि वृत्तिं कर्माधीनां दर्शयिष्यति देवादीनां बहुपशुसमतयैकैकस्य पुरुषस्य। "तस्मादेषां तन्न प्रियं

यदेतन्मनुष्या विद्युः'' इति हि वक्ष्यति। ''यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति'' इति च। ब्रह्मवित्त्वे पारार्थ्यनिवृत्तेर्न स्वलोकत्वं पशुत्वं चेत्यभिप्रायोऽप्रियारिष्टिवचनाभ्यामवगम्यते। तस्माद्ब्रह्मविदो ब्रह्मविद्याफलप्राप्तिं प्रति कुर्युरेव विघ्नं देवाः। प्रभाववन्तश्च हि ते।

नन्वेवं सत्यन्यास्वपि कर्मफलप्राप्तिषु देवानां विघ्नकरणं पेयपानसमम्। हन्त तर्ह्यविस्रम्भोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधनानुष्ठानेषु। तथेश्वरस्याचिन्त्यशक्तित्वाद्विघ्नकरणे प्रभुत्वम्। तथा कालकर्ममन्त्रौषधितपसामेषां हि फलसंपत्तिविपत्तिहेतुत्वं शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम्। अतोऽप्यनाश्वासः शास्त्रार्थानुष्ठाने।

न, सर्वपदार्थानां नियतनिमित्तोपादानाज्जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च। स्वभावपक्षे च तदुभयानुपपत्तेः। सुखदुःखादिफलनिमित्तं कर्मेत्येतस्मिन्पक्षे स्थिते वेदस्मृतिन्याय-लोकपरिगृहीते देवेश्वरकालास्तावन्न कर्मफलविपर्यासकर्तारः। कर्मणा काङ्क्षित-कारकत्वात्। कर्म हि शुभाशुभं पुरुषाणां देवकालेश्वरादिकारकमनपेक्ष्य नाऽऽत्मानं प्रति लभते। लब्धात्मकमपि फलदानेऽसमर्थम्। क्रियाया हि कारकाद्यनेकनिमित्तो-पादानस्वाभाव्यात्। तस्मात्क्रियानुगुणा हि देवेश्वरादय इति कर्मसु तावन्न फलप्राप्तिं प्रत्यविस्रम्भः।

कर्मणामप्येषां वशानुगत्वं क्वचित्स्वसामर्थ्यस्याप्रणोद्यत्वात्। कर्मकालदैवद्र-व्यादिस्वभावानां गुणप्रधानभावस्त्वनियतो दुर्विज्ञेयश्चेति तत्कृतो मोहो लोकस्य। कर्मैव कारकं नान्यत्फलप्राप्ताविति केचित्। दैवमेवेत्यपरे। काल इत्येके। द्रव्यादिस्वभाव इति केचित्। सर्वे एते संहता एवेत्यपरे। तत्र कर्मणः प्राधान्य-मङ्गीकृत्य वेदस्मृतिवादाः ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'' इत्यादयः। यद्यप्येषां स्वविषये कस्यचित्प्राधान्योद्भव इतरेषां तत्कालीनप्राधा-न्यशक्तिस्तम्भस्तथाऽपि न कर्मणः फलप्राप्तिं प्रत्यनैकान्तिकत्वम्। शास्त्रन्यायनिर्धा-रितत्वात्कर्मप्राधान्यस्य।

सकलाम्नाय सिद्धान्त.

न, अविद्यापगममात्रत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफलस्य। यदुक्तं ब्रह्मप्राप्तिफलं प्रति देवा विघ्नं कुर्युरिति तत्र न देवानां विघ्नकरणे सामर्थ्यम्। कस्मात्? विद्याकालानन्तरितत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफलस्य। कथम्? यथा लोके द्रष्टुश्चक्षुष आलोकेन संयोगो यत्कालस्तत्काले एव रूपाभिव्यक्तिः। एवमात्मविषयं विज्ञानं यत्कालं, तत्काल एव तद्विषयाज्ञानतिरोभावः स्यात्। अतो ब्रह्मविद्यायां सत्यामविद्या कार्यानुपपत्तेः, प्रदीप इव तमः कार्यस्य। तत्केन कस्य विघ्नं कुर्युर्देवाः। यत्राऽऽत्मत्वमेव देवानां ब्रह्मविदः।

तदेतदाह— **आत्मा** स्वरूपं ध्येयं यत्तत्सर्वशास्त्रैर्विज्ञेयं ब्रह्म **हि** यस्मा**देषां** देवानां **स** ब्रह्मवि**द्भवति**। ब्रह्मविद्यासमकालमेवाविद्यामात्रव्यवधानापगमाच्छुक्तिकाया इव रजताभासायाः शुक्तिकात्वमित्यवोचाम। अतो नाऽऽत्मनः प्रतिकूलत्वे देवानां प्रयत्नः संभवति। यस्य ह्यनात्मभूतं फलं देशकालनिमित्तान्तरितं, तत्रानात्मविषये सफलः प्रयत्नो विघ्नाचरणाय देवादीनाम्। न त्विह विद्यासमकाल आत्मभूते देशकालनिमित्तानन्तरितेऽवसरानुपपत्तेः।

एवं तर्हि विद्याप्रत्ययसंतत्यभावाद्विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादन्त्ये एवाऽऽत्मप्रत्ययोऽविद्यानिवर्तको, न तु पूर्व इति? न, प्रथमेनानैकान्तिकत्वात्। यदि हि प्रथम आत्मविषयः प्रत्ययोऽविद्यां न निवर्तयति, तथाऽन्त्योऽपि तुल्यविषयत्वात्।

एवं तर्हि संततोऽविद्यानिवर्तको, न विच्छिन्न इति? न। जीवनादौ सति संतत्यनुपपत्तेः। न हि जीवनादिहेतुके प्रत्यये सति विद्याप्रत्ययसंततिरुपपद्यते, विरोधात्। अथ जीवनादिप्रत्ययतिरस्करणेनैवाऽऽमरणान्ताद्विद्यासंततिरिति चेन्न। प्रत्ययेयत्तासंतानानवधारणाच्छास्त्रार्थानवधारणदोषात्, इयतां प्रत्ययानां संततिरविद्याया निवर्तिकेत्यनवधारणाच्छास्त्रार्थो नावध्रियेत। तच्चानिष्टम्।

संततिमात्रत्वेऽवधारित एवेति चेत्। न, आद्यन्तयोरविशेषात्। प्रथमा विद्याप्रत्ययसंततिर्मरणकालान्ता वेति विशेषाभावादाद्यन्तयोः प्रत्यययोः पूर्वोक्तौ दोषौ प्रसज्येयाताम्। एवं तर्ह्यनिवर्तक एवेति चेन्न, "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः। "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "तत्र को मोहः" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

अर्थवाद इति चेन्न। सर्वशाखोपनिषदामर्थवादत्वप्रसङ्गात्। एतावन्मात्रार्थत्वोपक्षीणा हि सर्वशाखोपनिषदः। प्रत्यक्षप्रमितात्मविषयत्वादस्त्येवेति चेन्न, उक्तपरिहारत्वात्। अविद्याशोकमोहभयादिदोषनिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वादिति चोक्तः परिहारः। तस्मादाद्योऽन्त्यः संततोऽसंततश्चेत्यचोद्यमेतत्। अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलावसानत्वाद्विद्यायाः। य एवाविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्यय आद्योऽन्त्य संततोऽसंततो वा, स एव विद्येत्यभ्युपगमान्न चोद्यस्यावतारगन्धोऽप्यस्ति।

यत्तूक्तं विपरीतप्रत्ययतत्कार्ययोश्च दर्शनादिति। न। तच्छेषस्थितिहेतुत्वात्। येन कर्मणा शरीरमारब्धं तद्विपरीतप्रत्ययदोषनिमित्तत्वात्तस्य तथाभूतस्यैव विपरीतप्रत्ययदोषसंयुक्तस्य फलदाने सामर्थ्यमिति यावच्छरीरपातस्तावत्फलोपभोगाङ्गतया विपरीतप्रत्ययं रागादिदोषं च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव। मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तद्धेतुकस्य कर्मणः।

तेन न तस्य निवर्तिका विद्या, अविरोधात्। किं तर्हि? स्वाश्रयादेव स्वात्मविरोध्यविद्याकार्यं यदुत्पित्सु तन्निरुणद्ध्यनागतत्वादतीतं हीतरत्।

किं च न च विपरीतप्रत्ययो विद्यावत उत्पद्यते, निर्विषयत्वात्। अनवधृतविषयविशेषस्वरूपं हि सामान्यमात्रमाश्रित्य विपरीतप्रत्ययोऽवभासमानः उत्पद्यते। यथा शुक्तिकायां रजतमिति। स च विषयविशेषावधारणवतोऽशेषविपरीतप्रत्ययाशयस्योपमर्दितत्वान्न पूर्ववत्संभवति। शुक्तिकादौ सम्यक्प्रत्ययोत्पत्तौ पुनरदर्शनात्।

क्वचित्तु विद्यायाः पूर्वोत्पन्नविपरीतप्रत्ययजनितसंस्कारेभ्यो विपरीतप्रत्ययावभासाः स्मृतयो जायमाना विपरीतप्रत्ययभ्रान्तिमकस्मात्कुर्वन्ति। यथा विज्ञातदिग्विभागस्याप्यकस्माद्दिग्विपर्ययविभ्रमः।

सम्यग्ज्ञानवतोऽपि चेत्पूर्ववद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते, सम्यग्ज्ञानेऽप्यविस्रम्भाच्छास्त्रार्थविज्ञानादौ प्रवृत्तिरसमञ्जसा स्यात्सर्वं च प्रमाणमप्रमाणं संपद्येत, प्रमाणाप्रमाणयोर्विशेषानुपपत्तेः। एतेन सम्यग्ज्ञानानन्तरमेव शरीरपाताभावः कस्मादित्येतत्परिहृतम्।

ज्ञानोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं तत्कालजन्मान्तरसंचितानां च कर्मणामप्रवृत्तफलानां विनाशः सिद्धो भवति, फलप्राप्तिविघ्ननिषेधश्रुतेरेव। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" "तस्य तावदेव चिरम्" "सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन" "एतमु हैवैते न तरतः" "नैनं कृताकृते तपतः" "एतं ह वाव न तपति" "न बिभेति कुतश्चन" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च।

यत्तु ऋणैः प्रतिबध्यत इति। तन्न, अविद्याविषयत्वात्। अविद्यावान्ह्यृणी। तस्य कर्तृत्वाद्युपपत्तेः। यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदिति हि वक्ष्यति। अनन्यत्सद्वस्त्वात्माख्यं यत्राविद्यायां सत्यामन्यदिव स्यात्तिमिरकृतद्वितीयचन्द्रवत्तत्राविद्याकृतानेककारकापेक्षं दर्शनादिकर्म तत्कृतं फलं च दर्शयति, तत्रान्योऽन्यत्पश्येदित्यादिना। यत्र पुनर्विद्यायां सत्यामविद्याकृतानेकत्वभ्रमप्रहाणं, तत्केन कं पश्येदिति कर्मासंभवं दर्शयति। तस्मादविद्यावद्विषये एव ऋणित्वं कर्मसंभवान्नेतरत्र।

एतच्चोत्तरत्र व्याचिख्यासिष्यमाणैरेव वाक्यैर्विस्तरेण प्रदर्शयिष्यामः। तद्यथेहैव तावत्— **अथ यः कश्चिदब्रह्मविदन्यामात्मनो** व्यतिरिक्तां यां कांचिद्**देवता-**

मुपास्ते स्तुतिनमस्कारयागबल्युपहारप्रणिधानध्यानादिनोपास्ते तस्या गुणभावमुपगम्याऽऽस्ते। **अन्योऽसावनात्मा मत्तः पृथगन्योऽहमस्म्यधिकृता मयाऽस्मा** ऋणिवत्प्रतिकर्तव्यमित्येवंप्रत्ययः सन्नुपास्ते, **न स** इत्थंप्रत्ययो **वेद** विजानाति तत्त्वं, न स केवलमेवंभूतोऽविद्वानविद्यादोषवानेव। किं तर्हि? **यथा पशुर्गवादि**-र्वाहनदोहनाद्युपकारैरुपभुज्यते **एवं स** इज्याद्यनेकोपकारैरुपभोक्तव्यत्वादेकैकेन **देवादीनाम्**। अतः पशुरिव सर्वार्थेषु कर्मस्वधिकृतः इत्यर्थः।

एतस्य ह्यविदुषो वर्णाश्रमादिप्रविभागवतोऽधिकृतस्य कर्मणो विद्यासहितस्य केवलस्य च शास्त्रोक्तस्य कार्यं मनुष्यत्वादिको ब्रह्मान्तः उत्कर्षः। शास्त्रोक्तविपरीतस्य च स्वाभाविकस्य कार्यं मनुष्यत्वादिक एव स्थावरान्तोऽपकर्षः। यथा चैतत्तथा "अथ त्रयो वाव लोका" इत्यादिना वक्ष्यामः कृत्स्नेनैवाध्यायशेषेण। विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावापत्तिरित्येतत्संक्षेपतो दर्शितम्। सर्वा हीयमुपनिषद्विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेनैवोपक्षीणा। यथा चैषोऽर्थः कृत्स्नस्य शास्त्रस्य, तथा प्रदर्शयिष्यामः।

यस्मादेवं तस्मादविद्यावन्तं पुरुषं प्रति देवा ईशते एव विघ्नं कर्तुमनुग्रहं चेत्येतद्दर्शयति— **यथा ह वै** लोके **बहवो** गोअश्वादयः **पशवो मनुष्यं** स्वामिनमात्मनोऽधिष्ठातारं **भुञ्ज्युः** पालयेयु**रेवं** बहुपशुस्थानीय **एकैकोऽविद्वान्पुरुषो** देवान्देवानिति पदं पित्राद्युपलक्षणार्थं **भुनक्ति** पालयतीति। इमे इन्द्रादयोऽन्ये मत्तो ममेशितारो भृत्य इवाहमेषां स्तुतिनमस्कारेज्यादिनाऽऽराधनं कृत्वाऽभ्युदयं निःश्रेयसं च तत्प्रत्तं फलं प्राप्स्यामीत्येवमभिसंधिः।

तत्र लोके बहुपशुमतोऽपि यथैक**स्मिन्नेव पशावादीयमाने** व्याघ्रादिनाऽपह्रियमाणे महद**प्रियं भवति** तथा बहुपशुस्थानीये एकस्मिन्पुरुषे पशुभावाद्व्युत्तिष्ठत्यप्रियं भवतीति किं चित्रं देवानां बहुपश्वपहरणे इव कुटुम्बिनः। **तस्मादेषां** देवानां **तन्न प्रियम्**। किं? **तद्यदेतद्**ब्रह्मात्मतत्त्वं कथंचन **मनुष्या विद्युर्**विजानीयुः। तथा च स्मरणमनुगीतासु भगवतो व्यासस्य—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्त्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्त्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात्क्षत्त्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्त्रिय-

आरम्भ में यह अद्वितीय ब्रह्म ही था। वह अकेला (क्षत्रियादि पालनकर्ता के न होने से) विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ न हो सका। तब उस ब्रह्म ने (मैं ब्राह्मण हूँ—मेरा यह कर्तव्य है, ऐसी विशेषता से) 'क्षत्र' इस प्रशस्तरूप की रचना की अर्थात् देवताओं में ये जो क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु तथा ईशानादि हैं; इन्हीं

"क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरि वर्तनम्॥" इति।

अतो देवाः पशूनिव व्याघ्रादिभ्यो ब्रह्मविज्ञानाद्विघ्नमाचिकीर्षन्ति। अस्मदुपभोग्यत्वान्मा, व्युत्तिष्ठेयुरिति। यं तु मुमोचयिषन्ति तं श्रद्धादिभिर्योक्ष्यन्ति विपरीतमश्रद्धादिभिः। तस्मान्मुमुक्षुर्देवाराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः प्रणेयोऽप्रमादी स्याद्विद्याप्राप्तिं प्रति विद्यां प्रतीति वा काक्वैतत्प्रदर्शितं भवति देवाप्रियवाक्येन॥१०॥

सूत्रितः शास्त्रार्थ आत्मेत्येवोपासीतेति। तस्य च व्याचिख्यासितस्य सार्थवादेन तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्ययेत्यादिना संबन्धप्रयोजने अभिहिते। अविद्यायाश्च संसाराधिकारकारणत्वमुक्तमथ योऽन्यां देवतामुपास्त इत्यादिना। तत्राविद्वानृणी पशुवद्देवादिकर्मकर्तव्यतया परतन्त्र इत्युक्तम्। किं पुनर्देवादिकर्मकर्तव्यत्वे निमित्तम्? वर्णा आश्रमाश्च। तत्र के वर्णा इत्यत इदमारभ्यते। यन्निमित्तसंबद्धेषु कर्मस्वयं परतन्त्र एवाधिकृतः संसरतीत्येतस्यैवार्थस्य प्रदर्शनायाग्निसर्गानन्तरमिन्द्रादिसर्गो नोक्तः। अग्नेस्तु सर्गः प्रजापतेः सृष्टिपरिपूरणाय प्रदर्शितः। अयं चेन्द्रादिसर्गस्तत्रैव द्रष्टव्यस्तच्छेषत्वात्। इह तु स एवाभिधीयतेऽविदुषः कर्माधिकारहेतुप्रदर्शनाय।

मधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्त्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति, स्वां योनिं, य उ एनꣳ हिनस्ति, स्वाꣳ स योनिमृच्छति, स पापीयान्भवति, यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा॥११॥

के लिये उस (देवक्षत्रसृष्टि) को उत्पन्न किया। अतएव क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है। इसीलिये राजसूययज्ञ में ब्राह्मणजाति वाले नीचे बैठकर क्षत्रियजाति की उपासना करते हैं। वे क्षत्रिय में ही 'ब्रह्म' इस नामरूप अपने यश को स्थापित करते हैं। वह जो ब्रह्म है; क्षत्रिय की योनि है। अतः यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है; फिर भी राजसूय यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण को पीड़ा पहुँचाता है, वह मानो अपनी योनि का ही नाश करता है। जैसे श्रेष्ठपुरुष की हिंसा करने से वह पापी होता है, वैसे ही वह पुरुष भी पापी होता है॥११॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्यदग्निं सृष्ट्वाऽग्निरूपापन्नं ब्रह्म ब्राह्मणजात्यभिमानाद्ब्रह्मेत्यभिधीयते। वा इदं क्षत्त्रादिजातं ब्रह्मैवाभिन्नमासीदेकमेव। नाऽऽसीत्क्षत्त्रादिभेदः। **तद्ब्रह्मैकं** क्षत्त्रादिपरिपालयित्रादिशून्यं **सन्न व्यभवन्न** विभूतवत्कर्मणे नालमासीदित्यर्थः। **ततस्तद्ब्रह्म** ब्राह्मणोऽस्मि ममेत्थं कर्तव्यमिति ब्राह्मणजातिनिमित्तं कर्म चिकीर्षुरात्मनः कर्मकर्तृत्वविभूत्यै **श्रेयोरूपं** प्रशस्तरूपम**त्यसृजत**ातिशयेनासृजत सृष्टवत्। किं पुनस्तद्यत्सृष्टं, **क्षत्त्रं** क्षत्त्रियजातिः, तद्व्यक्तिभेदेन प्रदर्शयति—**यान्येतानि** प्रसिद्धानि लोके देवत्रा देवेषु **क्षत्त्राणीति**। जात्याख्यायां पक्षे बहुवचनस्मरणाद्व्यक्तिबहुत्वाद्वा भेदोपचारेण बहुवचनम्।

कानि पुनस्तानीत्याह तत्राभिषिक्ता एव विशेषतो निर्दिश्यन्ते। **इन्द्रो** देवानां राजा। **वरुणो** यादसाम्। **सोमो** ब्राह्मणानाम्। **रुद्रः** पशूनाम्।

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि

(धनोपार्जन करने वाले का अभाव होने के कारण) वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने वैश्यजाति की उत्पत्ति की। जो ये वस्तु रुद्र,

---

पर्जन्यो विद्युदादीनाम्। **यमः** पितॄणाम्। **मृत्यू** रोगादीनाम्। **ईशानो** भासा-मित्येवमादीनि देवेषु क्षत्त्राणि। तदन्विन्द्रादिक्षत्रदेवताधिष्ठितानि मनुष्यक्षत्त्राणि सोमसूर्यवंश्यानि पुरूरवःप्रभृतीनि सृष्टान्येव द्रष्टव्यानि। तदर्थ एव हि देवक्षत्र-सर्गः प्रस्तुतः।

यस्माद्ब्रह्मणाऽतिशयेन सृष्टं क्षत्रं **तस्मात्क्षत्त्रात्परं नास्ति** ब्राह्म-णजातेरपि नियन्तृ। **तस्माद्ब्राह्मणः** कारणभूतोऽपि क्षत्रियस्य **क्षत्त्रि-यमधस्ताद्**व्यवस्थितः सन्नुपरि स्थित**मुपास्ते**। क्व? **राजसूये**। **क्षत्त्रे एव तदात्मीयं यशः** ख्यातिरूपं ब्रह्मेति **दधाति** स्थापयति। राजसूयाभिषि-क्तेनाऽऽसन्द्यां स्थितेन राज्ञाऽऽमन्त्रितो ब्रह्मन्निति ऋत्विक्पुनस्तं प्रत्याह — त्वं राजन्ब्रह्मासीति। तदेतदभिधीयते क्षत्त्र एव एतद्यशो दधातीति।

सैषा प्रकृता **क्षत्त्रस्य योनिरेव यद्ब्रह्म**। **तस्माद्यद्यपि राजा परमतां** राजसूयाभिषेकगुणं **गच्छत्या**प्नोति **ब्रह्मैव** ब्राह्मणजातिमेवा-**न्ततोऽन्ते** कर्मपरिसमाप्ता**वुपनिश्रयत्या**श्रयति **स्वां योनिं,** पुरोहितं पुरो निधत्त इत्यर्थः। यस्तु पुनर्बलाभिमानात्स्वां योनिं ब्राह्मणजातिं ब्राह्मणं **य उ एनं हिनस्ति** हिंसति न्यग्भावेन पश्यति **स्वामा**त्मीयामेव **स योनिमृच्छति** स्वं प्रसवं विच्छिनत्ति विनाशयति। **स** एतत्कृत्वा **पापीयान्**पापतरो **भवति**। पूर्वमपि क्षत्रियः पाप एव क्रूरत्वादात्मप्रसवहिंसया सुतराम्। **यथा** लोके **श्रेयांसं** प्रशस्ततरं **हिंसित्वा** परिभूय पापतरो भवति तद्वत्॥११॥

क्षत्त्रे सृष्टेऽपि **स नैव व्यभवत्**कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवद्वित्तोपार्ज-

देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥१२॥

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं पृथिवी वै पूषेयथं हीदथं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥१३॥

आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण एक-एक गणरूप से कहे जाते हैं, इन्हें उतपन्न किया॥१२॥

(सेवक के न रहने से फिर भी) वह ब्रह्म विभूतियुक्तकर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने शूद्रवर्ण को रचा। पूषादेव शूद्रवर्ण है, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ है; उस सबका यही पोषण करती है॥१३॥

यितुरभावात्। **स विशमसृजत** कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय। कः पुनरसौ विट्। **यान्येतानि देवजातानि,** स्वार्थे निष्ठा, य एते देवजातिभेदा इत्यर्थः। **गणशो** गणं गणमा**ख्यायन्ते** कथ्यन्ते। गणप्राया हि विशः। प्रायेण संहता हि वित्तोपार्जने समर्था नैकैकशः। **वसवो**ऽष्टसंख्यो गणस्तथैकादश **रुद्रा** द्वादशाऽऽ**दित्या विश्वेदेवा**स्त्रयोदश विश्वाया अपत्यानि, सर्वे वा देवा **मरुतः** सप्त सप्त गणाः॥१२॥

स परिचारकाभावात्पुनरपि **नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत।** शूद्र एव शौद्रः स्वार्थेऽणि वृद्धिः। कः पुनरसौ शूद्रो वर्णो यः सृष्टः? **पूषणं** पुष्यतीति पूषा। कः पुनरसौ पूषेति विशेषतस्तन्निर्दिशति— **इयं पृथिवी पूषा।** स्वयमेव निर्वचनमाह— **इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥१३॥**

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदे-तत्क्षत्त्रस्य क्षत्त्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण, यथा राज्ञैवं, यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति॥१४॥

(चारों वर्णों को रचकर भी) वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उसने विशेषता से कल्याणप्रदरूप धर्म को उत्पन्न किा। यह जो श्रेयोरूप धर्म है, यही क्षत्रिय का भी नियामक है। अतः धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अतएव जैसे राजा की सहायता से (साधारण कुटुम्बी पुरुष) अपने से अधिक बलवान् को पराभव करना चाहता है, वैसे ही धर्म के द्वारा दुर्बल पुरुष भी बलवान् को जीतना चाहता है। जो धर्म है, वह निःसन्देह सत्य ही है। इसीलिये सत्य बोलने वाले को यह धर्म बोलता है तथा धर्मभाषण करने वाले को कहते हैं कि यह सत्यभाषण करता है, क्योंकि ये दोनों धर्म ही हैं। (अतः ज्ञान और अनुष्ठान के अनुरूप धर्म, शास्त्रज्ञ तथा अशास्त्रज्ञ सबका नियन्ता होने से क्षत्रिय का भी नियामक है)॥१४॥

स चतुरः सृष्ट्वाऽपि वर्णान्**नैव व्यभवदु**ग्रत्वात्क्षत्त्रस्यानियताशङ्कया **तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत** किं तद्**धर्मं तदेत**च्छ्रेयोरूपं सृष्टं **क्षत्त्रस्य क्षत्त्रं** क्षत्त्रस्यापि नियन्तृ। उग्रादप्युग्रम्। **यद्धर्मो** यो धर्मस्**तस्मा**त्क्षत्त्रस्यापि नियन्तृत्वा**द्धर्मात्परं नास्ति**। तेन हि नियम्यन्ते सर्वे। तत्कथमिति। उच्यते– **अथो** अप्य**बलीया**न्दुर्बलतरोऽपि **बलीयांसमा**त्मनो बलवत्तरमप्या**शंसते** कामयते जेतुं **धर्मेण** बलेन। **यथा** लोके कश्चिद्**राज्ञा** सर्वबलवत्तमेनापि कुटुम्बिक **एवं**। तस्मात्सिद्धं धर्मस्य सर्वबलवत्तरत्वात्सर्वनियन्तृत्वम्। **यो वै स धर्मो** व्यवहारलक्षणो लौकिकैर्व्यवह्रियमाणः **सत्यं वै तत्**सत्यमिति यथा-शास्त्रार्थता। स एवानुष्ठीयमानो धर्मनामा भवति। शास्त्रार्थत्वेन ज्ञायमानस्तु सत्यं भवति। यस्मादेवं **तस्मात्सत्यं** यथाशास्त्रं **वदन्तं** व्यवहारकाले **आहुः** समीपस्था उभयविवेकज्ञा **धर्मं वदतीति** प्रसिद्धं लौकिकं न्यायं वदतीति। तथा

तदेतद्ब्रह्म क्षत्त्रं विट्शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्मा-भवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्त्रियेण क्षत्त्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳ हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननुक्तो-

वे ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। इनका स्रष्टा ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं में ब्राह्मणजाति हुआ। यही ब्रह्म मनुष्यों में ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण, क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हो गया। इसीलिए अग्नि में ही देवताओं के बीच में कर्म करते हुए कर्मफल की इच्छा करते हैं, क्योंकि इन्हीं अग्नि तथा ब्राह्मण दोनों रूपों से ब्रह्म प्रकट हुआ था। जो भी कोई पुरुष आत्मा को जाने बिना ही इस लोक से चला जाता है; वह इस अज्ञात आत्मलोक का शोकादिनिवृत्ति के द्वारा पालन

विपर्ययेण **धर्मं वा** लौकिकं व्यवहारं **वदन्तमाहुः सत्यं वदति**। शास्त्रादनपेतं वदतीति। **एतद्यदुक्तमुभयं** ज्ञायमानमनुष्ठीयमानं चैतद्धर्म एव **भवति**। तस्मात्स धर्मो ज्ञानानुष्ठानलक्षणः शास्त्रज्ञानितरांश्च सर्वानेव नियमयति। तस्मात्स क्षत्त्रस्यापि क्षत्त्रमतस्तदभिमानोऽविद्वांस्तद्विशेषानुष्ठानाय ब्रह्मक्षत्त्रविट्शूद्रनिमित्तविशेषमभि-मन्यते। तानि च निसर्गत एव कर्माधिकारनिमित्तानि॥१४॥

तदेतच्चातुर्वर्ण्यं सृष्टं **ब्रह्म क्षत्त्रं विट्शूद्र** इत्युत्तरार्थ उपसंहारः। यत्तत्स्रष्टृ ब्रह्म **तदग्निनैव** नान्येन रूपेण **देवेषु ब्रह्म** ब्राह्मणजाति**रभवद्ब्राह्मणो** ब्राह्मणस्वरूपेण **मनुष्येषु** ब्रह्माभवदितरेषु वर्णेषु विकारान्तरं प्राप्य **क्षत्त्रियेण क्षत्त्रियो**ऽभवदिन्द्रादिदेवताधिष्ठितो **वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः**। यस्मात्क्षत्त्रादिषु विकारापन्नमग्नौ ब्राह्मण एव चाविकृतं स्रष्टृ

ऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवाऽऽत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते॥१५॥

नहीं करता, जैसे अध्ययन के बिना स्वरूपतः वेद, या अनुष्ठान के बिना स्वरूपतः कोई अन्य कर्म, पुरुष का पालन नहीं करता; वैसे ही आत्मा को न जानने वाला पुरुष यदि इस लोक में कोई महान् पुण्य करता भी हो तो अन्त में उसका वह सुकृत नष्ट हो ही जाता है। अतः जो आत्मलोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म नष्ट नहीं होता। इस आत्मा से ही पुरुष जिस-जिस को चाहता है, उस-उस को बना लेता है॥१५॥

ब्रह्म, **तस्मादग्नावेव देवेषु** देवानां मध्ये **लोकं** कर्मफल**मिच्छन्त्य**ग्निसंबद्धं कर्म कृत्वेत्यर्थः। तदर्थमेव हि तद्ब्रह्म कर्माधिकरणत्वेनाग्निरूपेण व्यवस्थितम्। तस्मात्तस्मिन्नग्नौ कर्म कृत्वा तत्फलं प्रार्थयन्ते इत्येतदुपपन्नम्।

ब्राह्मणे मनुष्येषु मनुष्याणां पुनर्मध्ये कर्मफलेच्छायां नाग्न्यादिनिमित्तक्रियापेक्षा, किं तर्हि जातिमात्रस्वरूपप्रतिलम्भेनैव पुरुषार्थसिद्धिः। यत्र तु देवाधीना पुरुषार्थसिद्धिस्तत्रैवाग्न्यादिसंबद्धक्रियापेक्षा। स्मृतेश्च— "जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति। पारिव्राज्यदर्शनाच्च। तस्माद्ब्राह्मणत्वे एव मनुष्येषु लोकं कर्मफलमिच्छन्ति। यस्माद**ेताभ्यां हि** ब्राह्मणाग्नि**रूपाभ्यां** कर्मकर्त्रधिकरणरूपाभ्यां यत्स्रष्टृ **ब्रह्म** साक्षाद**भवत्**।

अत्र तु परमात्मलोकमग्नौ ब्राह्मणे चेच्छन्तीति केचित्। तदसत्। अविद्याधिकारे कर्माधिकारार्थं वर्णविभागस्य प्रस्तुतत्वात्परेण च विशेषणात्। यदि

ह्यत्र लोकशब्देन पर एवाऽऽत्मोच्येत, परेण विशेषणमनर्थकं स्यात्स्वं लोकमदृष्ट्वेति। स्वलोकव्यतिरिक्तश्चेदग्न्यधीनतया प्रार्थ्यमानः प्रकृतो लोकस्ततः स्वमिति युक्तं विशेषणं प्रकृतपरलोकनिवृत्त्यर्थत्वात्। स्वत्वेन चाव्यभिचारात्परमात्मलोकस्य। अविद्याकृतानां च स्वत्वव्यभिचारात्। ब्रवीति च कर्मकृतानां व्यभिचारं ''क्षीयत एव''इति।

ब्रह्मणा सृष्टा वर्णाः कर्मार्थम्। तच्च कर्म धर्माख्यं सर्वानेव कर्तव्यतया नियन्तृ पुरुषार्थसाधनं च। तस्मात्तेनैव चेत्कर्मणा स्वो लोकः परमात्माख्योऽविदितोऽपि प्राप्यते, किं तस्यैव पदनीयत्वेन क्रियते इत्यत आह— **अथेति** पूर्वपक्षविनिवृत्त्यर्थः। **यः कश्चिद्ध वा अस्मात्**सांसारिकात्पिण्डग्रहणलक्षणादविद्याकामकर्महेतुकादग्न्यधीनकर्माभिमानतया वा ब्राह्मणजातिमात्रकर्माभिमानतया वाऽऽगन्तुकादस्वरूपभूता**ल्लोकात्स्वं लोक**मात्माख्यमात्मत्वेनाव्यभिचारित्वा**ददृष्ट्वा**ऽहं ब्रह्मास्मीति **प्रैति** म्रियते। **स** यद्यपि स्वो लोको**ऽविदितो**ऽविद्यया व्यवहितोऽस्व इवाज्ञात **एनं** संख्यापूरणे इव लौकिक आत्मानं **न भुनक्ति** न पालयति शोकमोहभयादिदोषापनयेन। **यथा च** लोके **वेदोऽननुक्तो**ऽनधीतः कर्माद्यवबोधकत्वेन न भुनक्त्य**न्यद्वा** लौकिकं कृष्यादि **कर्माकृतं** स्वात्मनाऽनभिव्यञ्जितमात्मीयफलप्रदानेन न भुनक्त्येवमात्मा स्वो लोकः स्वेनैव नित्यात्मस्वरूपेणानभिव्यञ्जितोऽविद्यादिप्रहाणेन न भुनक्त्येव।

Fixedness, stability, duration, certainty.

ननु किं स्वलोकदर्शननिमित्तपरिपालनेन? कर्मणः फलप्राप्तिध्रौव्यादिष्टफलनिमित्तस्य च कर्मणो बाहुल्यात्तन्निमित्तं पालनमक्षयं भविष्यति, तन्न। कृतकस्य क्षयवत्त्वादित्येतदाह— **यदिह वै** संसारेऽद्भुतवत्कश्चिन्महात्मा**ऽप्यनेवंवित्स्वं** लोकं यथोक्तेन विधिनाऽविद्वा**न्महद्**ब्रह्मश्वमेधादि **पुण्यं कर्मे**ष्टफलमेव नैरन्तर्येण **करोत्य**नेनैवाऽऽनन्त्यं मम भविष्यतीति। **तत्कर्म हास्या-**

विद्यावतोऽविद्याजनितकामहेतुत्वात्स्वप्नदर्शनविभ्रमोद्भूतविभूतिवद्**न्ततो**ऽन्ते फलोपभोगस्य **क्षीयत एव**। तत्कारणयोरविद्याकामयोश्चलत्वात्कृतक्षयध्रौव्योपपत्तिस्तस्मान्न पुण्यकर्मफलपालनानन्त्याशाऽस्त्येव।

अत **आत्मानमेव** स्वं **लोक**मात्मानमिति स्वं लोकमित्यस्मिन्नर्थे स्वं लोकमिति प्रकृतत्वादिह च स्वशब्दस्याप्रयोगाद**ुपासीत। स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते**। तस्य किमित्युच्यते— **न हास्य कर्म क्षीयते**। कर्माभावादेवेति नित्यानुवादः। यथाऽविदुषः कर्मक्षयलक्षणं संसारदुःखं संततमेव, न तथा तदस्य विद्यते इत्यर्थः। ''मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन'' इति यद्वत्।

स्वात्मलोकोपासकस्य विदुषो विद्यासंयोगात्कर्मैव न क्षीयत इत्यपरे वर्णयन्ति। लोकशब्दार्थं च कर्मसमवायिनं द्विधा परिकल्पयन्ति किल, एको व्याकृतावस्थः कर्माश्रयो लोको हैरण्यगर्भाख्यस्तं कर्मसमवायिनं लोकं व्याकृतं परिच्छिन्नं य उपास्ते तस्य किल परिच्छिन्नकर्मात्मदर्शिनः कर्म क्षीयते। तमेव कर्मसमवायिनं लोकमव्याकृतावस्थं कारणरूपमापाद्य यस्तूपास्ते, तस्यापरिच्छिन्नकर्मात्मदर्शित्वात्तस्य कर्म न क्षीयत इति। भवतीयं शोभना कल्पना, न तु श्रौती। स्वलोकशब्देन प्रकृतस्य परमात्मनोऽभिहितत्वात्। स्वं लोकमिति प्रस्तुत्य स्वशब्दं विहायाऽऽत्मशब्दप्रक्षेपेण पुनस्तस्यैव प्रतिनिर्देशादात्मानमेव लोकमुपासीतेति। तत्र कर्मसमवायिलोककल्पनाया अनवसर एव।

परेण च केवलविद्याविषयेण विशेषणात्किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। पुत्रकर्मापरविद्याकृतेभ्यो हि लोकेभ्यो विशिनष्टययमात्मा नो लोक इति। ''न हास्य केनचन कर्मणा लोको मीयत एषोऽस्य परमो लोकः'' इति च। तैः सविशेषणैरस्यैकवाक्यता युक्ता। इहापि स्वं लोकमिति विशेषणदर्शनात्।

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी - सकल जीव जग दीन दुखारी ।
भक्ति हीन नर सोहै कैसे । लवन बिना बहु व्यञ्जन जैसे ।

अधिकारी जीव किन कर्मों से सम्पूर्ण प्राणियों का लोक माना गया है ॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन

यह जो (कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप) आत्मा है, वह समस्त जीवों का भोग्य है। वह जो होम, यज्ञ करता है, उससे देवताओं का वह भोग्य बन जाता है; जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियों का; जो पितरों के लिये पिण्ड देता है तथा सन्तान को चाहता है, उससे पितरों का; जो मनुष्यों को निवासस्थान और भोजन देता है, इससे मनुष्यों का; एवं जो पशुओं को तृण-जलादि देता है, उससे पशुओं का भोग्य हो जाता है। अतः

अस्मात्कामयत इत्ययुक्तमिति चेदिह स्वो लोकः परमात्मा तदुपासनात्स एव भवतीति स्थिते **यद्यत्कामयते तत्तदस्मादात्मनः सृजते** इति तदात्मप्राप्तिव्यतिरेकेण फलवचनमयुक्तमिति चेन्न। स्वलोकोपासनस्तुतिपरत्वात्। स्वस्मादेव लोकात्सर्वमिष्टं संपद्यते इत्यर्थो नान्यदतः प्रार्थनीयमाप्तकामत्वात्। ''आत्मतः प्राण आत्मत आशा'' इत्यादि श्रुत्यन्तरे यथा। सर्वात्मभावप्रदर्शनार्थो वा पूर्ववत्।

यदि हि पर एवाऽऽत्मा संपद्यते, तदा युक्तोऽस्माद्ध्येवाऽऽत्मन इत्यात्मशब्दप्रयोगः, स्वस्मादेव प्रकृतादात्मनो लोकादित्येवमर्थः। अन्यथाऽव्याकृतावस्थात्कर्मणो लोकादिति सविशेषणमवक्ष्यत्प्रकृतपरमात्मलोकव्यावृत्तये व्याकृतावस्थाव्यावृत्तये च। न ह्यस्मिन्प्रकृते विशेषितेऽश्रुतान्तरालावस्था प्रतिपत्तुं शक्यते॥१५॥

इति पञ्चमाह्निकम्॥५॥

❀❀❀

अथो अयं वा आत्मा। अत्राविद्वान्वर्णाश्रमाद्यभिमानो धर्मेण नियम्य-

पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥१६॥

इस मुमुक्षु के घर में कुत्ते बिल्ली आदि जो श्वापद पक्षी और चींटीपर्यन्त जीवजन्तु उसके आश्रित होकर जीते हैं; इसी से यह उनका भोग्य होता है। जैसे लोक में सभी अपने शरीर का नाश नहीं चाहते हैं; वैसे ही ऐसा जानने वाले को सभी जीव अविनाशीरूप से देखना चाहते हैं। उस इस कर्म की नित्य अनुष्ठेयता पंचमहायज्ञ प्रसंग से ज्ञात होती है, तथा अवदान प्रकरण में इसकी व्याख्या की गयी है॥१६॥

मानो देवादिकर्मकर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्रः इत्युक्तम्। कानि पुनस्तानि कर्माणि, यत्कर्तव्यतया पशुवत्परतन्त्रो भवति। के वा ते देवादयो, येषां कर्मभिः पशुवदुपकरोतीति? तदुभयं प्रपञ्चयति—

अथो इत्ययं वाक्योपन्यासार्थः। **अयं** यः प्रकृतो गृही कर्माधिकृतोऽविद्वाञ्छरीरेन्द्रियसंघातविशिष्टः पिण्डः **आत्मे**त्युच्यते। **सर्वेषां** देवादीनां पिपीलिकान्तानां **भूतानां लोको** भोग्य आत्मेत्यर्थः। सर्वेषां वर्णाश्रमादिविहितैः कर्मभिरुपकारित्वात्।

कैः पुनः कर्मविशेषैरुपकुर्वन्केषां भूतविशेषाणां लोक इत्युच्यते— **स** गृही **यज्जुहोति यद्यजते**। यागो देवतामुद्दिश्य स्वत्वपरित्यागः। स एवाऽऽसेचनावधिको होमस्तेन होमयागलक्षणेन कर्मणाऽवश्यकर्तव्यत्वेन **देवानां** पशुवत्परतन्त्रत्वेन प्रतिबद्ध इति **लोकोऽथ यदनुब्रूते** स्वाध्यायमधीतेऽहरहस्तेन **ऋषीणां** लोकोऽथ **यत्पितृभ्यो निपृणाति** प्रयच्छति पिण्डोदकादि। **यच्च प्रजामिच्छते** प्रजार्थमुद्यमं करोतीच्छा चोत्पत्त्युपलक्षणार्था प्रजां चोत्पादय-

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै कामो, नेच्छꣳश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ

(स्त्री सम्बन्ध होने से) पहले यह एक देहेन्द्रियसंघातरूप आत्मा ही था। उसने (अविद्याजनित वासना से युक्त होकर) कामना की, कि कर्माधिकार की हेतुरूपा स्त्री मुझ कर्ता को प्राप्त होवे अर्थात् कर्माधिकार की प्राप्ति के लिये मुझे स्त्री मिले, फिर मैं प्रजारूप से

तीत्यर्थः। तेन कर्मणाऽवश्यकर्तव्यत्वेन **पितृणां** लोकः पितृणां भोग्यत्वेन परतन्त्रो लोकः। **अथ यन्मनुष्यान्वासयते** भूम्युदकादिदानेन गृहे, यच्च तेभ्यो वसद्भ्योऽवसद्भ्यो वाऽर्थिभ्योऽ**शनं ददाति तेन मनुष्याणाम्। अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति** लंभयति **तेन पशूनाम्। यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांसि च पिपीलिकाभिः सह** कणबलिभाण्डक्षालनाद्युपजीवन्ति, **तेन तेषां लोकः।**

यस्मादयमेतानि कर्माणि कुर्वन्नुपकरोति देवादिभ्यस्तस्माद्**यथा ह वै लोके स्वाय लोकाय** स्वस्मै देहाया**रिष्टि**मविनाशं स्वत्वभावाप्रच्युतिमिच्छेत्स्वत्वभावप्रच्युतिभयात्पोषणरक्षणादिभिः सर्वतः परिपालयेदेवं हैवंविदे सर्वभूतभोग्योऽहमनेन प्रकारेण मयाऽवश्यमृणिवत्प्रतिकर्तव्यमित्येवमात्मानं परिकल्पितवते सर्वाणि भूतानि देवादीनि यथोक्तान्य**रिष्टि**मविनाश**मिच्छन्ति** स्वत्वाप्रच्युत्यै सर्वतः संरक्षन्ति कुटुम्बिन इव पशूंस्तस्मादेषां तन्न प्रियमित्युक्तम्। **तद्वा एतत्त**देतद्यथोक्तानां कर्मणामृणवदवश्यकर्तव्यत्वं पञ्चमहायज्ञप्रकरणे **विदितं** कर्तव्यतया **मीमांसितं** विचारितं चावदानप्रकरणे॥१६॥

आत्मैवेदमग्र आसीत्। ब्रह्म-विद्वांश्चेत्तस्मात्पशुभावात्कर्तव्यताबन्धन-

वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्माऽऽत्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद॥१७॥

॥ इति प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

स्वयं ही उत्पन्न होऊँ तथा मुझे गवादिरूपधन हो। फिर मैं (अभ्युदय एवं कल्याण का साधनरूप) कर्म करूँ। बस इतने विषय से परिच्छिन्न ही काम है। इच्छा करने पर इससे अधिक कोई नहीं पाता। अतएव अब भी अकेला पुरुष पहले यही कामना करता है कि मुझे स्त्री मिले, फिर मैं संतानरूप से उत्पन्न होऊँ और धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जब तक इनमें से एक-एक को प्राप्त नहीं कर लेता; तब तक वह अपने को अधूरा ही मानता है, उसकी पूर्णता इस प्रकार कही गयी है। (ब्राह्य साधन के अभाव में) मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, क्योंकि मनरूप स्वामी का अनुकरण वाणीरूप स्त्री ही करती है। प्राण संतान है और नेत्र मानुषवित्त है, क्योंकि वह पुरुष नेत्र से ही गवादि मानुषवित्त को जानता है। श्रोत्र दैववित्त है, क्योंकि श्रोत्र से ही वह पुरुष दैववित्तरूप कर्म को सुनता है। शरीर ही इसका कर्म है, क्योंकि शरीररूप आत्मा से ही यह कर्म करता है। वह यह यज्ञ पाङ्क्त है; मन, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों से सम्पादित कर्म को पाङ्क्त कहते हैं। पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है' विशेष क्या यह कर्म का साधन और फल सभी पाङ्क्त है। 'सभी पाङ्क्त है' जो कोई ऐसा जानता है, (भावना करता है) वह इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मरूप से प्राप्त कर लेता है॥१७॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

रूपात्प्रतिमुच्यते। केनायं कारितः कर्मबन्धनाधिकारेऽवश इव प्रवर्तते न पुनस्त-

द्विमोक्षणोपाये विद्याधिकार इति। ननूक्तं देवा रक्षन्तीति। बाढम्। कर्माधिकारस्वगोचरारूढानेव तेऽपि रक्षन्ति। अन्यथाऽकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात्। न तु सामान्यं पुरुषमात्रं विशिष्टाधिकारानारूढम्। तस्माद्भवितव्यं तेन, येन प्रेरितोऽवश एव बहिर्मुखीभवति स्वस्माल्लोकात्। नन्वविद्या साऽविद्यावान्हि बहिर्मुखीभूतः प्रवर्तते। साऽपि नैव प्रवर्तिका। वस्तुस्वरूपावरणात्मिका हि सा। प्रवर्तकबीजत्वं तु प्रतिपद्यतेऽन्धत्वमिव गर्तादिपतनप्रवृत्तिहेतुः। एवं तर्ह्युच्यतां किं तद्यत्प्रवृत्तिहेतुरिति। तदिहाभिधीयत एषणा कामः सः, ''स्वाभाविक्यामविद्यायां वर्तमाना बालाः पराचः कामाननुयन्ति'' इति काठकश्रुतौ। स्मृतौ च— ''काम एष क्रोध एषः'' इत्यादि। मानवे च सर्वा प्रवृत्तिः कामहैतुक्येवेति। स एषोऽर्थः सविस्तरः प्रदर्श्यते इहाऽऽध्यायपरिसमाप्तेः।

आत्मैवेदमग्र आसीत्। **आत्मैव** स्वाभाविकोऽविद्वान्कार्यकरणसंघातलक्षणो वर्ण्य**ग्रे** प्राग्दारसंबन्धादात्मेत्यभिधीयते। तस्मादात्मनः पृथग्भूतं काम्यमानं जायादिभेदरूपं नाऽऽसीत्स **एवैक** आसीज्जायाद्येषणाबीजभूताविद्यावानेक एवाऽऽसीत्। स्वाभाविक्या स्वात्मनि कर्त्रादिकारकक्रियाफलात्मकताध्यारोपलक्षणयाऽविद्यावासनया वासितः **सोऽकामयत** कामितवान्। कथम्? **जाया** कर्माधिकारहेतुभूता **मे** मम कर्तुः **स्यात्तया** विनाऽहमनधिकृत एव कर्मण्यतः कर्माधिकारसंपत्तये भवेज्जाया। **अथाहं प्रजायेय** प्रजारूपेणाहमेवोत्पद्येय। **अथ वित्तं मे स्यात्**कर्मसाधनं गवादिलक्षणमथाहमभ्युदयनिःश्रेयससाधनं **कर्म कुर्वीय**। येनाहमनृणी भूत्वा देवादीनां लोकान्प्राप्नुयां तत्कर्म कुर्वीय।

काम्यानि च पुत्रवित्तस्वर्गादिसाधनान्येतावान्वै काम एतावद्विषयपरिच्छिन्न इत्यर्थः। **एतावानेव** हि कामयितव्यो विषयो, यदुत जायापुत्रवित्तकर्माणि साधनलक्षणैषणा। लोकाश्च त्रयो मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोको इति फलभूताः साधनैषणायाश्चास्याः। तदर्था हि जायापुत्रवित्तकर्मलक्षणा साधनैषणा। तस्मा-

त्सैकैवैषणा या लोकैषणा सैकैव सत्येषणा साधनापेक्षेति द्विधाऽतोऽवधारयिष्यत्युभे ह्येते एषणे एवेति।

फलार्थत्वात्सर्वारम्भस्य लोकैषणाऽर्थप्राप्तोक्तैवेत्येतावान्वा एतावानेव काम इत्यवध्रियते। भोजनेऽभिहिते तृप्तिर्न हि पृथगभिधेया। तदर्थत्वाद्भोजनस्य। ते एते एषणे साध्यसाधनलक्षणे कामो, येन प्रयुक्तोऽविद्वानवशः एव कोशकारवदात्मानं वेष्टयति कर्ममार्गे एवाऽऽत्मानं प्रणिदधद्बहिर्मुखीभूतो न स्वं लोकं प्रतिजानाति। तथा च तैत्तिरीयके— "अग्निमुग्धो हैव धूमतान्तः स्वं लोकं न प्रतिजानाति" इति।

कथं पुनरेतावत्त्वमवधार्यते कामानामनन्तत्वादनन्ता हि कामा इत्येतदाशङ्क्य हेतुमाह— यस्मान्**नेच्छंश्चनेच्छन्नप्यतो**ऽस्मात्फलसाधनलक्षणाद्**भूयो**ऽधिकतरं न **विन्देन्न** लभेत। न हि लोके फलसाधनव्यतिरिक्तं दृष्टमदृष्टं वा लब्धव्यमस्ति। लब्धव्यविषयो हि कामस्तस्य चैतद्व्यतिरेकेणाभावाद्युक्तं वक्तुमेतावान्वै काम इति। एतदुक्तं भवति— दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा साध्यसाधनलक्षणमविद्यावत्पुरुषाधिकारविषयमेषणाद्वयं कामोऽतोऽस्माद्विदुषा व्युत्थातव्यमिति।

यस्मादेवमविद्वानात्मा कामी पूर्वः कामयामास, तथा पूर्वतरोऽप्येषा लोकस्थितिः। प्रजापतेश्चैवमेष सर्ग आसीत्सोऽबिभेदविद्यया, ततः कामप्रयुक्त एकाक्यरममाणोऽरत्युपघाताय स्त्रियमैच्छत्तां समभवत्ततः सर्गोऽयमासीदिति ह्युक्तम्। **तस्मात्तत्सृष्टावेतर्ह्येतस्मिन्नपि** काले **एकाकी** सन्प्राग्दारक्रियातः **कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीये**त्युक्तार्थं वाक्यम्। **स** एवं कामयमानः संपादयंश्च जायादीन्यावत्समस्तान्स **एतेषां** यथोक्तानां जायादीना**मेकैकमपि न प्राप्नोत्यकृत्स्नो**ऽसंपूर्णोऽहमित्येव **तावदात्मानं मन्यते**। पारिशेष्यात्समस्तानेवैतान्संपादयति यदा, तदा तस्य कृत्स्नता।

यदा तु न शक्नोति कृत्स्नतां संपादयितुं, तदाऽस्य कृत्स्नत्वसंपादना-

याऽऽह— **तस्यो** तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिनः **कृत्स्नतेयमेवं** भवति। कथम्? अयं कार्यकरणसंघातः प्रविभज्यते तत्र मनोनुवृत्ति हीतरत्सर्वं कार्यकरणजात-मिति **मनः** प्रधानत्वादात्मेवाऽऽत्मा। यथा जायादीनां कुटुम्बपतिरात्मैव तदनु-कारित्वाज्जायादिचतुष्टयस्य। एवमिहापि **मन आत्मा** परिकल्पते कृत्स्नतायै। तथा **वाग्जाया** मनोनुवृत्तित्वसामान्याद्वाचः। वागिति शब्दश्चोदनादिलक्षणो मनसा श्रोत्रद्वारेण गृह्यतेऽवधार्यते प्रयुज्यते चेति मनसो जायेव वाक्। ताभ्यां च वाङ्मन-साभ्यां जायापतिस्थानीयाभ्यां प्रसूयते प्राणः कर्मार्थमिति **प्राणः प्रजेव**। तत्र प्राणचेष्टादिलक्षणं कर्म चक्षुर्दृष्टवित्तसाध्यं भवतीति **चक्षुर्मानुषं वित्तम्**। तद्द्विविधं वित्तं मानुषमितरच्चातो विशिनष्टीतरवित्तनिवृत्त्यर्थं मानुषमिति। गवादि हि मनुष्यसंबन्धिवित्तं चक्षुर्ग्राह्यं कर्मसाधनं तस्मात्तत्स्थानीयम्। तेन संबन्धाच्चक्षुर्मानुषं वित्तम्। **चक्षुषा हि** यस्मात्तन्मानुषं वित्तं **विन्दते** गवाद्युपलभते इत्यर्थः।

किं पुनरितरद्वित्तम्? **श्रोत्रं दैवं**, देवविषयत्वाद्विज्ञानस्य। विज्ञानं दैवं वित्तं, तदिह श्रोत्रमेव संपत्तिविषयम्। कस्मात्? **श्रोत्रेण हि** यस्मात्तद्दैवं वित्तं विज्ञानं **शृणोति**। अतः श्रोत्राधीनत्वाद्विज्ञानस्य श्रोत्रमेव तदिति। किं पुनरेतैरात्मादि-वित्तान्तैरिह निर्वर्त्यं कर्मेत्युच्यते— **आत्मैवाऽऽत्मे**ति शरीरमुच्यते। कथं पुनरात्मा कर्मस्थानीयोऽस्य कर्महेतुत्वात्। कथं कर्महेतुत्वम्? **आत्मना हि** शरीरेण यतः **कर्म करोति**। तस्याकृत्स्नत्वाभिमानिन एवं कृत्स्नता संपन्ना। यथा बाह्यजाया-दिलक्षणैवम्। तस्मात्स **एष पाङ्क्तः** पञ्चभिर्निर्वृत्तः पाङ्क्तो **यज्ञो** दर्शन-मात्रनिर्वृत्तोऽकर्मिणोऽपि।

कथं पुनरस्य पञ्चत्वसंपत्तिमात्रेण यज्ञत्वम्? उच्यते— यस्माद्बाह्योऽपि यज्ञः पशुपुरुषसाध्यः, स च पशुः पुरुषश्च पाङ्क्तः एव। यथोक्तमनआदिपञ्चत्वयोगात्। तदाह— **पाङ्क्तः पशुर्**गवादिः **पाङ्क्तः पुरुषः** पशुत्वेऽप्यधिकृतत्वेनास्य

।अथ प्रथमाध्यास्य सप्तान्ननामपञ्चमं ब्राह्मणम्।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणम्। द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत। पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः॥१॥

प्रजापति ने विज्ञान तथा कर्म से जिन सात अन्नों की सृष्टि की है, उनमें से यवादिरूप एक अन्न इसका साधारण है, अर्थात् वह सभी प्राणियों का भोग्य है। (हुत और प्रहुतरूप) दो अन्न उसने देवताओं को विभाग करके दे दिया है। तीन अन्न उसने अपने रक्खे। दुग्धरूप एक अन्न पशुओं को दिया। उस पशु अन्न में वे सभी प्रतिष्ठित हैं, जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं। ये अन्न सदा सर्वदा खाये जाने पर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो कोई इस अन्न के अविनश्वरभाव को जानता है, वह मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न खाता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है तथा अमृत का जीवनार्थ आश्रय लेता है। इस विषय में ये मन्त्र हैं॥१॥

विशेषः पुरुषस्येति पृथक्पुरुषग्रहणम्। किं बहुना, **पाङ्क्तमिदं सर्वं** कर्मसाधनं फलं च **यदिदं किंच** यत्किंचिदिदं सर्वमेवं पाङ्क्तं यज्ञमात्मानं यः संपादयति स **तदिदं सर्वं** जगदात्मत्वेनाऽऽ**प्नोति य एवं** वेद॥१७॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्यायेचतुर्थं ब्राह्मणम्॥४॥

यत्सप्तान्नानि मेधया। अविद्या प्रस्तुता। तत्राविद्वानन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति सवर्णाश्रमाभिमानः कर्मकर्तव्यतया नियतो जुहोत्यादिकर्मभिः कामप्रयुक्तो देवादीनामुपकुर्वन्सर्वेषां भूतानां लोक इत्युक्तम्। यथा च स्वकर्मभिरेकैकेन सर्वैर्भूतैरसौ लोको भोज्यत्वेन सृष्टः। एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभिः सर्वाणि भूतानि

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनु-

यह बात प्रसिद्ध है कि पिता ने ज्ञान और कर्म के द्वारा ही सप्तान्न की सृष्टि की। उनमें से एक अन्न उसका साधारण है जोकि यह खाया जाता है; यही इसका साधारण अन्न है। जो इस साधारण अन्न की उपासना करता है, वह पाप से दूर नहीं होता क्योंकि यह अन्न समस्त प्राणियों का मिला जुला है। उस परमेश्वर ने हुत और प्रहुतरूप दो अन्न देवताओं को विभाग करके दिये। इसीलिये गृहस्थ पुरुष देवताओं के लिये वहन और बलि भेंट करते हैं। कुछ लोगों ने दर्श और पूर्णमास को देवताओं के दो अन्न कहे हैं। इसलिये सकाम इष्टियों के यजन में प्रवृत्त न हों। वह दुग्ध नामक एक अन्न पशुओं को दिया। अतः मनुष्य और पशु पहले दुग्ध के ही आश्रय जीते हैं। इसीलिये सद्योजात बालक को

सर्वं च जगदात्मभोज्यत्वेनासृजत। एवमेकैकः स्वकर्मविद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्यं च सर्वस्य, सर्वः कर्ता कार्यं चेत्यर्थः। एतदेव च विद्याप्रकरणे मधुविद्यायां वक्ष्यामः। सर्वं सर्वस्य कार्यं मध्वित्यात्मैकत्वविज्ञानार्थम्। यदसौ जुहोतीत्यादिना पाङ्क्तेन काम्येन कर्मणाऽऽत्मभोज्यत्वेन जगदसृजत विज्ञानेन च, तज्जगत्सर्वं सप्तधा प्रविभज्यमानं कार्यकारणत्वेन सप्तान्नान्युच्यन्ते, भोज्यत्वात्तेनासौ पिता तेषामन्नानाम्। एतेषामन्नानां सविनियोगानां सूत्रभूताः संक्षेपतः प्रकाशकत्वादिमे मन्त्राः।

यत्सप्तान्नानि यदजनयदितिक्रियाविशेषणं **मेधया** प्रज्ञया विज्ञानेन **तपसा** च कर्मणा ज्ञानकर्मणी एव हि मेधातपःशब्दवाच्ये, तयोः प्रकृतत्वान्नेतरे मेधातपसी

धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्वꣳ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स

घृत चटाते हैं या स्तन्यपान कराते हैं, इसी से उत्पन्न हुए बछड़े को भी तृणभक्षण न करने वाला कहा करते हैं। जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते हैं; वे सब पश्वन्न दुग्ध में ही प्रतिष्ठित हैं। अतः एक वर्ष तक दुग्ध से हवन करने वाला पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता है- ऐसा नहीं समझना चाहिये; तथ्य तो यह है कि वह जिस दिन दुग्ध से हवन करता है, उसी दिन अपमृत्यु को जीत लेता है, एक वर्ष तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार की उपासना करने वाला पुरुष देवताओं को सम्पूर्ण भक्ष्य प्रदान करता है। फिर सदा खाये जाने पर भी वे अन्न नष्ट क्यों नहीं होते? इसका एकमात्र यही कारण है कि इसका जनक पुरुष अविनाशी है। अतः वही बारम्बार आवश्यकतानुसार उसे उत्पन्न कर देता है। अन्न के इस अविनाशीभाव को जो भी जानता है अर्थात् पुरुष

अप्रकरणात्। पाङ्क्तं हि कर्म जायादिसाधनं य एवं वेदेति चानन्तरमेव ज्ञानं प्रकृतम्। तस्मान्न प्रसिद्धयोर्मेधातपसोराशङ्का कार्या। अतो यानि सप्तान्नानि ज्ञानकर्मभ्यां जनितवान्पिता तानि प्रकाशयिष्याम इति वाक्यशेषः॥१॥

तत्र मन्त्राणामर्थस्तिरोहितत्वात्प्रायेण दुर्विज्ञेयो भवतीति तदर्थव्याख्यानाय ब्राह्मणं प्रवर्तते। तत्र **यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेत्यस्य** कोऽर्थः? उच्यत इति हिशब्देनैव व्याचष्टे प्रसिद्धार्थावद्योतकेन। प्रसिद्धो ह्यस्य मन्त्रस्यार्थ इत्यर्थः। यदजनयदिति चानुवादस्वरूपेण मन्त्रेण प्रसिद्धार्थतैव प्रकाशिता। अतो ब्राह्मणमविशङ्क्यैवाऽऽह— **मेधया हि तपसाऽजनयत्पितेति।**

हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा॥२॥

ही अविनाशी है; वही इस अन्न को ज्ञान एवं कर्म से उत्पन्न कर देता है। यदि वह पुरुष इसे उत्पन्न नहीं करता तो वह अन्न भक्षण किये जाने पर नष्ट हो जाता। ऐसा जो जानता है, वह मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है और अमृत के आश्रित जीता है। ऐसी फलश्रुति प्रशंसामात्र के लिये है॥२॥

ननु कथं प्रसिद्धताऽस्यार्थस्येति, उच्यते— जायादिकर्मान्तानां लोकफलसाधनानां पितृत्वं तावत्प्रत्यक्षमेव, अभिहितं च जाया मे स्यादित्यादिना। तत्र च दैवं वित्तं विद्या कर्म पुत्रश्च फलभूतानां लोकानां साधनं स्रष्टृत्वं प्रतीत्यभिहितम्। वक्ष्यमाणं च प्रसिद्धमेव। तस्माद्युक्तं वक्तुं मेधयेत्यादि।

एषणा हि फलविषया प्रसिद्धैव च लोके। एषणा च जायादीत्युक्तं **एतावान्वै कामः** इत्यनेन। ब्रह्मविद्याविषये च सर्वैकत्वात्कामानुपपत्तेः। एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोभ्यां स्वाभाविकाभ्यां जगत्स्रष्टृत्वमुक्तमेव भवति।

स्थावरान्तस्य चानिष्टफलस्य कर्मविज्ञाननिमित्तत्वात्। विवक्षितस्तु शास्त्रीय एव साध्यसाधनभावो ब्रह्मविद्याविधित्सया तद्वैराग्यस्य विवक्षितत्वात्। सर्वो ह्ययं व्यक्ताव्यक्तलक्षणः संसारोऽशुद्धोऽनित्यः साध्यसाधनरूपो दुःखोऽविद्याविषय इत्येतस्माद्विरक्तस्य ब्रह्मविद्याऽऽरब्धव्येति।

तत्रान्नानां विभागेन विनियोग उच्यते— **एकमस्य साधारणमिति** मन्त्रपदं तस्य व्याख्यानमि**दमेवास्य तत्साधारणमन्न**मित्युक्तमस्य भोक्तृसमुदायस्य, किं

तद्यदिदमद्यते भुज्यते सर्वैः प्राणिभिरहन्यहनि तत्साधारणं सर्वभोक्त्रर्थमकल्पयत्पिता सृष्ट्वाऽन्नम्।

स य एतत्साधारणं सर्वप्राणभृत्स्थितिकरं भुज्यमानमन्न**मुपास्ते** तत्परो भवतीत्यर्थः। उपासनं हि नाम तात्पर्यं दृष्टं लोके "गुरुमुपास्ते" "राजानमुपास्ते" इत्यादौ। तस्माच्छरीरस्थित्यर्थान्नोपभोगप्रधानो नादृष्टार्थकर्मप्रधान इत्यर्थः। **स** एवंभूतो **न पाप्मनोऽ**धर्मा**द्व्यावर्तते** न विमुच्यत इत्येतत्। तथाच मन्त्रवर्णः— "मोघमन्नं विन्दते" इत्यादिः। स्मृतिरपि— "नाऽऽत्मार्थं पाचयेदन्नम्" "अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः" "अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि" इत्यादिः।

कस्मात्पुनः पाप्मनो न व्यावर्तते? **मिश्रं ह्येतत्**सर्वेषां हि स्वं तदप्रविभक्तं तत्प्राणिभिर्भुज्यते। सर्वभोज्यत्वादेव यो मुखे प्रक्षिप्यमाणोऽपि ग्रासः परस्य पीडाकरो दृश्यते ममेदं स्यादिति हि सर्वेषां तत्राऽऽशा प्रतिबद्धा। तस्मान्न परमपीडयित्वा ग्रसितुमपि शक्यते। "दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठते। यो हि यस्यान्नमश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्" इत्यादिस्मरणाच्च।

गृहिणा वैश्वदेवाख्यमन्नं यदहन्यहनि निरूप्यत इति केचित्। तन्न, सर्वभोक्तृसाधारणत्वं वैश्वदेवाख्यस्यान्नस्य न सर्वप्राणभृद्भुज्यमानान्नवत्प्रत्यक्षम्। नापि यदिदमद्यत इति तद्विषयं वचनमनुकूलम्। सर्वप्राणभृद्भुज्यमानान्नान्तःपातित्वाच्च वैश्वदेवाख्यस्य युक्तं श्वचाण्डालाद्याद्यस्यान्नस्य ग्रहणं, वैश्वदेवव्यतिरेकेणापि श्वचाण्डालाद्याद्यान्नदर्शनात्तत्र युक्तं यदिदमद्यत इति वचनम्।

यदि हि तन्न गृह्येत साधारणशब्देन पित्राऽसृष्टत्वाविनियुक्तत्वे तस्य, प्रसज्येयाताम्। इष्यते हि तत्सृष्टत्वं तद्विनियुक्तत्वं च सर्वस्यान्नजातस्य। न च वैश्वदेवाख्यं शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वतः पाप्मनोऽविनिवृत्तिर्युक्ता। न च तस्य प्रतिषेधोऽस्ति। न च मत्स्यबन्धनादिकर्मवत्स्वभावजुगुप्सितमेतच्छिष्टनिर्वर्त्यत्वादकरणे च प्रत्यवायश्रवणादितरत्र च प्रत्यवायोपपत्तेः। "अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" इति मन्त्रवर्णात्।

द्वे देवानभाजयदिति मन्त्रपदं, ये द्वे अन्ने सृष्ट्वा देवानभाजयत्। के ते द्वे इत्युच्येते—**हुतं च प्रहुतं च**। हुतमित्यग्नौ हवनम्। प्रहुतं हुत्वा बलिहरणम्। यस्माद्द्वे एते अन्ने हुतप्रहुते देवानभाजयत्पिता। **तस्मादे**तर्ह्यपि गृहिणः काले **देवेभ्यो जुह्वति** देवेभ्य इदमन्नमस्माभिर्दीयमानमिति मन्वाना जुह्वति **प्रजुह्वति** हुत्वा बलिहरणं **च** कुर्वत इत्यर्थः। **अथो** अप्यन्य **आहुर्द्वे** अन्ने पित्रा देवेभ्यः प्रत्ते न हुतप्रहुते किं तर्हि **दर्शपूर्णमासावि**ति। द्वित्वश्रवणाविशेषादत्यन्तप्रसिद्ध-त्वाच्च हुतप्रहुते इति प्रथमः पक्षः।

यद्यपि द्वित्वं हुतप्रहुतयोः संभवति, तथाऽपि श्रौतयोरेव तु दर्शपूर्णमासयो-र्देवान्नत्वं प्रसिद्धतरं, मन्त्रप्रकाशितत्वात्। गुणप्रधानप्राप्तौ च प्रधाने प्रथमतराऽवगतिः। दर्शपूर्णमासयोश्च प्राधान्यं हुतप्रहुतापेक्षया। तस्मात्तयोरेव ग्रहणं युक्तं द्वे देवानभा-जयदिति।

यस्माद्देवार्थमेते पित्रा प्रक्लृप्ते दर्शपूर्णमासाख्ये अन्ने **तस्मात्त**योर्देवार्थत्वा-विघाताय **नेष्टियाजुक** इष्टियजनशीलः। इष्टिशब्देन किल काम्या इष्टयः शातपथीयं प्रसिद्धिस्ताच्छील्यप्रत्ययप्रयोगात्काम्येष्टियजनप्रधानो न **स्यादि**त्यर्थः। प्रजापतिः

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति यत्पशुभ्य एकं प्रायच्छत्पिता किं पुनस्तदन्नं **तत्पयः**। कथं पुनरवगम्यते? पशवोऽस्यान्नस्य स्वामिन इत्यत आह—**पयो ह्यग्रे** प्रथमं यस्मा**न्मनुष्याश्च पशवश्च** पय **एवोपजीवन्ती**ति। उचितं हि तेषां तदन्न-मन्यथा कथं तदेवाग्रे नियमेनोपजीवेयुः।

कथमग्रे तदेवोपजीवन्तीति? उच्यते— मनुष्याश्च पशवश्च यस्मात्तेनैवान्नेन वर्तन्तेऽद्यत्वेऽपि, यथा पित्राऽऽदौ विनियोगः कृतस्**तस्मात्कुमारं** बालं **जातं घृतं वा** त्रैवर्णिका जातकर्मणि जातरूपसंयुक्तं **प्रतिलेहयन्ति** प्राशयन्ति **स्तनं वाऽनुधापयन्ति** पश्चात्पाययन्ति। यथासंभवमन्येषां स्तनमेवाग्रे धापयन्ति मनुष्ये-भ्योऽन्येषां पशूनाम्। **अथ वत्सं जातमाहुः** कियत्प्रमाणो वत्स इत्येवं पृष्टाः सन्तो**ऽतृणाद इति**। नाद्यापि तृणमत्त्यतीव बालः पयसैवाद्यापि वर्तत इत्यर्थः।

यच्चाग्रे जातकर्मादौ घृतमुपजीवन्ति यच्चेतरे पय एव तत्सर्वथाऽपि पय एवोपजीवन्ति। घृतस्यापि पयोविकारत्वात्पयस्त्वमेव। कस्मात्पुनः सप्तमं सत्पश्वन्नं चतुर्थत्वेन व्याख्यायते? कर्मसाधनत्वात्। कर्म हि पयः साधनाश्रयमग्निहोत्रादि। तच्च कर्म साधनं वित्तसाध्यं वक्ष्यमाणस्यान्नत्रयस्य साध्यस्य। यथा दर्शपूर्णमासौ पूर्वोक्तावन्ने। अतः कर्मपक्षत्वात्कर्मणा सह पिण्डीकृत्योपदेशः।

साधनत्वाविशेषादर्थसबन्धादानन्तर्यमकारणमिति च। व्याख्याने प्रतिपत्तिसौकर्याच्च। सुखं हि नैरन्तर्येण व्याख्यातुं शक्यन्तेऽन्नानि, व्याख्यातानि च सुखं प्रतीयन्ते।

तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न इत्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते—तस्मिन्पश्वन्ने पयसि सर्वमध्यात्माधिभूताधिदैवलक्षणं कृत्स्नं जगत्**प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति** प्राणचेष्टावद्यच्च **न** स्थावरं शैलादि। तत्र **हि**शब्देनैव प्रसिद्धावद्योतकेन व्याख्यातम्।

कथं पयोद्रव्यस्य सर्वप्रतिष्ठात्वम्? कारणत्वोपपत्तेः। कारणत्वं चाग्निहोत्रादिकर्मसमवायित्वमग्निहोत्राद्याहुतिविपरिणामात्मकं च जगत्कृत्स्नमिति श्रुतिस्मृतिवादाः शतशो व्यवस्थिताः। अतो युक्तमेव हिशब्देन व्याख्यानम्।

यत्तद्ब्राह्मणान्तरेष्विदमाहुः— **संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति**। संवत्सरेण किल त्रीणि षष्टिशतान्याहुतीनां सप्त च शतानि विंशतिश्चेति याजुष्मतीरिष्टका अभिसंपद्यमानाः संवत्सरस्य चाहोरात्राणि। संवत्सरमग्निं प्रजापतिमाप्नुवन्ति।

एवं कृत्वा संवत्सरं जुह्वदपजयति पुनर्मृत्युमितः प्रेत्य देवेषु संभूतः पुनर्न म्रियते इत्यर्थः।

इत्येवं ब्राह्मणवादा आहु**र्न तथा विद्यान्न** तथा द्रष्टव्यम्। **यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति** न संवत्सराभ्यासमपेक्षत **एवं विद्वान्सन्**। यदुक्तं पयसि हीदं **सर्वं** प्रतिष्ठितं पयआहुतिविपरिणामात्मकत्वात्सर्वस्येति। तदेके-

नैवाह्ना जगदात्मत्वं प्रतिपद्यते। तदुच्यतेऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा विद्वाञ्छरीरेण वियुज्य सर्वात्मा भवति, न पुनर्मरणाय परिच्छिन्नं शरीरं गृह्णातीत्यर्थः।

कः पुनर्हेतुः सर्वात्माप्त्या मृत्युमपजयतीति। उच्यते— **सर्वं** समस्तं **हि** यस्मा**द्देवेभ्यः** सर्वेभ्योऽन्नाद्यमन्नमेव तदाद्यं च सायंप्रातराहुतिप्रक्षेपेण **प्रयच्छति**। तद्युक्तं सर्वमाहुतिमयमात्मानं कृत्वा सर्वदेवान्नरूपेण सर्वैर्देवैरेकात्मभावं गत्वा सर्वदेवमयो भूत्वा पुनर्न म्रियत इति। अथैतदप्युक्तं ब्राह्मणेन— ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चाऽऽत्मनीति तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चाऽऽत्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैदिति।

कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति। यदा पित्राऽन्नानि सृष्ट्वा सप्त पृथक्पृथग्भोक्तृभ्यः प्रत्तानि तदा प्रभृत्येव तैर्भोक्तृभिरद्यमानानि। तन्निमित्तत्वात्तेषां स्थितेः सर्वदा नैरन्तर्येण। कृतक्षयोपपत्तेश्च युक्तस्तेषां क्षयः। न च तानि क्षीयमाणानि, जगतोऽविभ्रष्टरूपेणैवावस्थानदर्शनात्। भवितव्यं चाक्षयकारणेन। तस्मात्कस्मात्पुनस्तानि न क्षीयन्त इति प्रश्नः।

तस्येदं प्रतिवचनम्— **पुरुषो वा अक्षितिर्**यथाऽसौ पूर्वमन्नानां स्रष्टाऽऽसीत्पिता मेधया जायादिसंबन्धेन च पाङ्क्तकर्मणा भोक्ता च तथा येभ्यो दत्तान्यन्नानि तेऽपि तेषामन्नानां भोक्तारोऽपि सन्तः पितर एव मेधया तपसा च यतो जनयन्ति तान्यन्नानि। तदेतदभिधीयते पुरुषो वै योऽन्नानां भोक्ता सोऽक्षितिरक्षयहेतुः। कथमस्याक्षितित्वमित्युच्यते— **स हि** यस्मा**दिदं** भुज्यमानं सप्तविधं कार्यकरणलक्षणं क्रियाफलात्मकं **पुनः पुनर्**भूयो भूयो **जनयते** उत्पादयति धिया-धिया तत्तत्कालभाविन्या तया तया प्रज्ञया कर्मभिश्च वाङ्मनःकायचेष्टितैर्यद्यदि ह यद्येतत्सप्तविधमन्नमुक्तं क्षणमात्रमपि न कुर्यात्प्रज्ञया कर्मभिश्च ततो विच्छिद्येत भुज्यमानत्वात्सातत्येन क्षीयेत ह। तस्माद्यथैवायं पुरुषो भोक्ताऽन्नानां नैरन्तर्येण, यथाप्रज्ञं यथाकर्म च करोत्यपि। तस्मात्पुरुषोऽक्षितिः, सातत्येन कर्तृत्वात्। तस्माद्भुज्यमानान्यप्यन्नानि न क्षीयन्त इत्यर्थः।

(आत्मा के तीन अन्नों की आध्यात्मिक व्याख्या)

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं

उस पिता ने तीन अन्न अपने लिये बनाया अर्थात् मन, वाणी और प्राण इन्हें प्रजापति ने अपने लिए सुरक्षित रखा। मेरा मन अन्य कहीं था; अतः मैं देख न सका। मेरा मन अन्यत्र था; इसीलिये मैं सुन न सका। मनुष्य की इस उक्ति से यही निश्चय होता है,

---

अतः प्रज्ञाक्रियालक्षणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः साध्यसाधनलक्षणः क्रियाफलात्मकः संहतानेकप्राणिकर्मवासनासंतानावष्टब्धत्वात्क्षणिकोऽशुद्धोऽसारो नदीस्त्रोतःप्रदीपसंतानकल्पः कदलीस्तम्भवदसारः फेनमायामरीच्यम्भःस्वप्नादिसमस्तदात्मगतदृष्टीनामविकीर्यमाणो नित्यः सारवानिव लक्ष्यते। तदेतद्वैराग्यार्थमुच्यते— धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति। विरक्तानां ह्यस्माद्ब्रह्मविद्याऽऽरब्धव्या चतुर्थप्रमुखेने-(णे)ति।

यो वैतामक्षितिं वेदेति वक्ष्यमाणान्यपि त्रीण्यन्नान्यस्मिन्नवसरे व्याख्यातान्येवेति कृत्वा तेषां याथात्म्यविज्ञानफलमुपसंह्रियते— यो वैतामक्षितिमक्षयहेतुं यथोक्तं वेद **पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया-धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेत्यस्यार्थ** उच्यते-**मुखं** मुख्यत्वं प्राधान्यमित्येतत्। प्राधान्येनैवान्नानां पितुः पुरुषस्याक्षितित्वं यो वेद सोऽन्नमत्ति, नान्नं प्रति गुणभूतः सन्यथाऽज्ञो, न तथा विद्वानन्नानामात्मभूतो भोक्तैव भवति न भोज्यतामापद्यते। **स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवति** देवानपिगच्छति देवात्मभावं प्रतिपद्यते ऊर्जममृतं चोपजीवतीति यदुक्तं सा **प्रशंसा** नापूर्वार्थोऽन्योऽस्ति॥२॥

पाङ्क्तस्य कर्मणः फलभूतानि यानि त्रीण्यन्नान्युपक्षिप्तानि, तानि कार्य-

मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा। एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥३ ॥

वह मन से ही देखता है और मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, आस्तिक्य-बुद्धि-श्रद्धा, तद्विपरीत अश्रद्धा, धारणशक्ति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन ही हैं। इसीलिए पृष्ठभाग में स्पर्श किये जाने पर मानव मन से जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है, वह वाक्रूप ही है; क्योंकि वह अपने वाच्य अर्थ के पर्यवसान में अनुगत है। इसीलिए वह प्रकाश्य नहीं है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान और अन ये सब प्राण ही हैं अर्थात् प्राण के ही पाँच भेद हैं। यह शरीररूप आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है॥३॥

त्वाद्विस्तीर्णविषयत्वाच्च पूर्वेभ्योऽन्नेभ्यः पृथगुत्कृष्टानि तेषां व्याख्यानार्थ उत्तरो ग्रन्थ आ ब्राह्मणपरिसमाप्तेः। **त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति**। कोऽस्यार्थः ? इत्युच्यते—मनोवाक्प्राणा एतानि त्रीण्यन्नानि तानि **मनो वाचं प्राणं** चाऽऽत्मने आत्मार्थमकुरुत कृतवान्सृष्ट्वाऽऽदौ पिता।

तेषां मनसोऽस्तित्वं स्वरूपं च प्रति संशय इत्यत आह—अस्ति तावन्मनः श्रोत्रादिबाह्यकरणव्यतिरिक्तम्। यत एवं प्रसिद्धं बाह्यकरणविषयात्मसंबन्धे सत्यप्यभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति, किं दृष्टवानसीदं रूपमित्युक्तो वदत्यन्यत्र मे गतं मन आसीत्सोऽहमन्यत्रमना आसं नादर्शम्। तथेदं श्रुतवानसि मदीयं वचः इत्युक्तोऽन्य-

त्रमना अभूवं नाश्रौषं न श्रुतवानस्मीति। तस्माद्यस्यासंनिधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतश्चक्षुरादेश्च स्वस्वविषयसंबन्धे रूपशब्दादिज्ञानं न भवति, यस्य च भावे भवति, तदन्यदस्ति मनो नामान्तःकरणं सर्वकरणविषययोगीत्यवगम्यते। तस्मात्सर्वो हि लोको मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, तद्व्यग्रत्वे दर्शनाद्यभावात्।

अस्तित्वे सिद्धे मनसः स्वरूपार्थमिदमुच्यते-**कामः** स्त्रीव्यतिकराभिलाषादिः। **संकल्पः** प्रत्युपस्थितविषयविकल्पनं शुक्लनीलादिभेदेन। **विचिकित्सा** संशयज्ञानम्। **श्रद्धा**ऽदृष्टार्थेषु कर्मस्वास्तिक्यबुद्धिर्देवतादिषु च। **अश्रद्धा** तद्विपरीता बुद्धिः। **धृतिर्धा**रणं देहाद्यवसादे उत्तम्भनम्। **अधृतिस्त**द्विपर्ययः। **ह्रीर्ल**ज्जा। **धीः** प्रज्ञा। **भीर्भयमित्येतदे**वमादिकं **सर्वं मन एव**, मनसोऽन्तःकरणस्य रूपाण्येतानि। मनोस्तित्वं प्रत्यन्यच्च कारणमुच्यते। **तस्मान्म**नो नामास्त्यन्तःकरणम्। यस्माच्चक्षुषो ह्यगोचरे **पृष्ठतोऽप्युपस्पृष्टः** केनचिद्धस्तस्यायं स्पर्शो, जानोरयमिति विवेकेन प्रतिपद्यते। यदि विवेककृन्मनो नाम नास्ति, तर्हि त्वङ्मात्रेण कुतो विवेकप्रतिपत्तिः स्यात्। यत्तद्विवेकप्रतिपत्तिकारणं तन्मनः।

अस्ति तावन्मनः स्वरूपं च तस्याधिगतम्। त्रीण्यन्नानीह फलभूतानि कर्मणां मनोवाक्प्राणाख्यान्यध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च व्याचिख्यासितानि। तत्राऽऽध्यात्मिकानां वाङ्मनःप्राणानां मनो व्याख्यातम्। अथेदानीं वागवक्तव्येत्यारम्भः— यः कश्च लोके शब्दो ध्वनिस्ताल्वादिव्यङ्ग्यः प्राणिभिर्वर्णादिलक्षण इतरो वा वादित्रमेघादिनिमित्तः सर्वो ध्वनिर्वागेव सा।

इदं तावद्वाचः स्वरूपमुक्तम्। अथ तस्याः कार्यमुच्यते— एषा वाग्घि यस्मादन्तमभिधेयावसानमभिधेयनिर्णयमायत्ताऽनुगता। एषा पुनः स्वयं नाभिधेयवत्प्रकाश्याऽभिधेयप्रकाशिकैव प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपादिवत्। न हि प्रदीपादि-

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्ष-लोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

भूः, भुवः और स्वः नाम के यही तीनों लोक हैं। उनमें वाणी ही यह लोक हैं, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है ॥४॥

प्रकाशः प्रकाशान्तरेण प्रकाश्यते, तद्वद्वाक्प्रकाशिकैव स्वयं न प्रकाश्येत्यनवस्थां श्रुतिः परिहरत्येषा हि न प्रकाश्या, प्रकाशकत्वमेव वाचः कार्यमित्यर्थः।

अथ प्राण उच्यते— **प्राणो** मुखनासिकासंचार्या हृदयवृत्तिः प्रणयनात्प्राणः। अपनयनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्तिरानाभिस्थानः। **व्यानो** व्यायमनकर्मा व्यानः प्राणापानयोः संधिर्वीर्यवत्कर्महेतुश्च। **उदान** उत्कर्षोर्ध्वगमनादिहेतुरापादतलमस्तकस्थान ऊर्ध्ववृत्तिः। **समानः** समं नयनाद्भुक्तस्य पीतस्य च कोष्ठस्थानोऽन्नपक्ता। **अन** इत्येषां वृत्तिविशेषाणां सामान्यभूता सामान्यदेहचेष्टाभिसंबन्धिनी वृत्तिः। एवं यथोक्तं प्राणादिवृत्तिजातमे**तत्सर्वं प्राण एव**।

प्राण इति वृत्तिमानाध्यात्मिकोऽन उक्तः। कर्म चास्य वृत्तिभेदप्रदर्शनेनैव व्याख्यातम्। व्याख्यातान्याध्यात्मिकानि मनोवाक्प्राणख्यान्यन्नान्य**ेतन्मय** एतद्विकारः प्राजापत्यैरेतैर्वाङ्मनःप्राणैरारब्धः। कोऽसावयं कार्यकरणसंघात आत्मा पिण्ड आत्मस्वरूपत्वेनाभिमतोऽविवेकिभिः। अविशेषेणैतन्मय इत्युक्तस्य विशेषेण **वाङ्मयो मनोमयः प्राणमय** इति स्फुटीकरणम् ॥३॥

तेषामेव प्राजापत्यानामन्नानामाधिभौतिको विस्तारोऽभिधीयते—

त्रयो लोका भूर्भुवःस्वरित्याख्या **एत एव** वाङ्मनःप्राणास्तत्र विशेषो **वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः** ॥४॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥६॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥८॥

यही तीनों वेद हैं; वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है॥५॥

देवता पितृगण और मनुष्य भी यही हैं। वाक् देवता है, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य है॥६॥

पिता, माता तथा प्रजा भी यही हैं। वाक् माता है, मन ही पिता है और प्राण प्रजा है॥७॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात भी यही हैं। जो कुछ विस्पष्टरूप से ज्ञात है; वह वाक् का रूप है (प्रकाशक होने के कारण) वाक् ही विज्ञाता है। (इस प्रकार वाक् की विशेषता को जानने के लिए फल बतलाया गया है) इस जानने वाले की रक्षा वाक् विज्ञात होकर करती है॥८॥

तथा **त्रयो वेदा** इत्यादीनि वाक्यानि ऋज्वर्थानि॥५॥ ॥६॥ ॥७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेते एव तत्र विशेषो **यत्किंच विज्ञातं** विस्पष्टं ज्ञातं **वाचस्तद्रूपम्**। तत्र स्वयमेव हेतुमाह— **वाग्घि विज्ञाता** प्रकाशात्मकत्वात्कथमविज्ञाता भवेद्याऽन्यानपि विज्ञापयति "वाचा वै सम्राड्बन्धुः

यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति॥९॥

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति॥१०॥

जो कुछ विस्पष्टरूप से जानने योग्य अभीष्ट है, वह सब मन का रूप है क्योंकि (मन ही संशयरूप होने के कारण) विजिज्ञास्य है। मन की इस विभूति को जानने वाले की रक्षा मन ही विजिज्ञास्य होकर करता है॥९॥

जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का ही रूप है क्योंकि प्राण ही अविज्ञात होकर अपनी विभूति को जानने वाले की रक्षा करता है॥१०॥

प्रज्ञायते'' इति हि वक्ष्यति। वाग्विशेषविद इदं फलमुच्यते—**वागेवैनं** यथोक्तवाग्विभूतिविदं **तद्विज्ञातं भूत्वाऽवति** पालयति विज्ञातरूपेणैवास्यान्नं भोज्यतां प्रतिपद्यत इत्यर्थः॥८॥

तथा **यत्किंच विजिज्ञास्यं** विस्पष्टं ज्ञातुमिष्टं विजिज्ञास्यं **तत्सर्वं मनसो रूपं मनो हि** यस्मात्संदिह्यमानाकारत्वा**द्विजिज्ञास्यम्**। पूर्ववन्मनोविभूतिविदः फलं **मन एनं तद्**विजिज्ञास्यं **भूत्वाऽवति** विजिज्ञास्यस्वरूपेणैवान्नत्वमापद्यते॥९॥

तथा **यत्किंचाविज्ञातं** विज्ञानागोचरं न च संदिह्यमानं **प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातो**ऽविज्ञातरूपो हि यस्मात्प्राणोऽनिरुक्तश्रुतेः। विज्ञातविजिज्ञास्याविज्ञातभेदेन वाङ्मनःप्राणविभागे स्थिते त्रयो लोका इत्यादयो वाचनिका एव। सर्वत्र विज्ञातादिरूपदर्शनाद्वचनादेव नियमः स्मर्तव्यः। **प्राण एनं तद्भूत्वाऽवत्य**विज्ञातरूपेणैवास्य प्राणोऽन्नं भवतीत्यर्थः। शिष्यपुत्रादिभिः संदिह्यमानाविज्ञातोपकारका अप्याचार्यपित्रादयो दृश्यन्ते। तथा मनःप्राणयोरपि संदिह्यमानाविज्ञातयोरन्नत्वोपपत्तिः॥१०।

**तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्या-
वत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥**

**अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्त-
द्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथु-
नꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो**

(प्रजापति के अन्नरूप से प्रस्तुत हुए) उस वाक् का पृथिवी बाह्य-आधार और पृथिवी का आधेयस्वरूप यह पार्थिव अग्नि ज्योतिरूप प्रकाशात्मक कारण है उनमें जितने परिणामवाली (अध्यात्म और अधिभूत भेदवाली) वाक् है, उतनी ही उसके आधाररूप से व्यवस्थित पृथिवी है और उतना ही उस पृथिवी में ज्योतिरूप से अनुप्रविष्ट आधेय एवं कारण यह अग्नि है॥११॥

तथा प्राजापत्य अन्नरूप से कहे हुए इस मन का द्युलोक शरीर (आधार) है। ज्योतिरूप वह आदित्य है। वहाँ पर जितना मन है, उतना ही आदित्य है। वे आदित्य और अग्नि

व्याख्यातो वाङ्मनःप्राणानामाधिभौतिको विस्तारोऽथायमाधिदैविकार्थ आरम्भः-

तस्यैतस्या वाचः प्रजापतेरन्नत्वेन प्रस्तुतायाः **पृथिवी शरीरं** बाह्य आधारो **ज्योतीरूपं** प्रकाशात्मकं करणं पृथिव्या आधेयभूत**मयं** पार्थिवो**ऽग्निः**। द्विरूपा हि प्रजापतेर्वाक्कार्यमाधारोऽप्रकाशकः करणं चाऽऽधेयं प्रकाशस्तदुभयं पृथिव्यग्नी वागेव प्रजापतेः। तत्तत्र यावत्येव यावत्परिमाणैवाध्यात्माधिभूतभेदभिन्ना सती वाग्भवति, तत्र सर्वत्र आधारत्वेन पृथिवी व्यवस्थिता, तावत्येव भवति कार्य-भूता। तावानयमग्निराधेयः करणरूपो ज्योतीरूपेण पृथिवीमनुप्रविष्टस्तावानेव भवति समानमुत्तरम्॥११॥

अथैतस्य प्राजापत्यान्नोक्तस्यैव **मनसो द्यौ**र्द्युलोकः **शरीरं** कार्यमाधारो **ज्योतीरूपं** करणमाधेयो**ऽसावादित्यः**। **तत्तत्र यावत्**परिमाणमेवाध्यात्म-

यह १५ स्थान वाल्मीकी जी राम से कहे। चौदह जग ये खन (कठपुतली) तुम्ह देखन हारे। विधि हरि शंभु नचावनि हारे। तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और

तुम्हहिं को जाननि हारा (जानन वाला) सोइ जानहिं जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥ सुनहु राम अब कहउँ निकेता जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥

द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद॥१२॥ (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव-) (आत्मा के अन्नों की उपासना का फल)

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्त-द्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्ते एते

(बिना दिन रात स्मरण, तत्परता नहीं रहता।) → वाक्, मन, प्राणाः

परस्पर संसर्ग को प्राप्त हुए। उससे प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है और शत्रुहीन है क्योंकि अपने से भिन्न ही शत्रु हुआ करता है। जो इस रहस्य को जानता है; उस विद्वान् का कोई प्रतिपक्षी नहीं होता॥१२॥

एवं इस प्राण का, जल शरीर (आधार) है; वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है। वहाँ पर आध्यात्मिक भेद से जितने परिणाम वाला प्राण है; उतना ही परिणामवाला आधेयभूत जल भी है। एवं उतना ही वह चन्द्रमा है। वे ये (वाक्, मन और प्राण) सभी समान हैं

मधिभूतं वा **मनस्तावती** तावद्विस्तारा तावत्परिमाणा मनसो ज्योतीरूपस्य करणस्याऽऽधारत्वेन व्यवस्थिता **द्यौस्तावानसावादित्यो** ज्योतीरूपं करण-माधेयं तावग्न्यादित्यौ वाङ्मनसे आधिदैविके मातापितरौ **मिथुनं** मैथुन्यमितरेत-रसंसर्गं **समैतां** समगच्छेताम्। मनसाऽऽदित्येन प्रसूतं पित्रा वाचाऽग्निना मात्रा प्रकाशितं कर्म करिष्यामीत्यन्तरा रोदस्योः। **ततस्तयोरेवं** संगमनात्**प्राणो** वायुर-**जायत** परिस्पन्दाय कर्मणे। यो जातः **स इन्द्रः** परमेश्वरो न केवलमिन्द्र **एवासपत्नोऽ**विद्यमानः सपत्नो यस्य कः पुनः सपत्नो नाम **द्वितीयो वै** प्रतिपक्ष-त्वेनोपगतः स द्वितीयः **सपत्न** इत्युच्यते। तेन द्वितीयत्वेऽपि सति वाङ्मनसे न सपत्नत्वं भजेते प्राणं प्रति गुणभावोपगते एव हि ते अध्यात्ममिव। तत्र प्रासङ्गिकासपत्नविज्ञानफलमिदं—**नास्य** विदुषः **सपत्नः** प्रतिपक्षो **भवति य एवं** यथोक्तं प्राणमसपत्नं वेद॥१२॥

इति षष्ठाह्निकम्॥६॥

❀❀❀

अथैतस्य प्रकृतस्य प्राजापत्यान्नस्य **प्राणस्य** न प्रजोक्तस्यानन्तरनि-र्दिष्टस्या**ऽऽपः शरीरं** कार्यं करणाधारः पूर्ववज्**ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्**तत्र

सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति॥१३॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स

और सभी (संसार की स्थितिपर्यन्त रहने वाले होने से) अनन्त हैं। जो कोई इन्हें परिच्छिन्न समझकर उपासना करता है, वह परिच्छिन्नलोक पर विजय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है, वह अनन्तलोक पर विजय प्राप्त करता है॥१३॥

वह यह तीन अन्नरूप संवत्सर प्रजापति सोलह कलाओं वाला है। उसकी रात्रियां ही पन्द्रह कलाएँ हैं। तथा उस प्रजापति की सोलहवीं कला कभी भी क्षीण नहीं होने

यावानेव प्राणो यावत्परिमाणोऽध्यात्मादिभेदेषु तावद्व्याप्तिमत्य **आपस्तावत्परिमाणास्तावानसौ चन्द्रो**ऽबाधेयस्तास्वप्स्वनुप्रविष्टः करणभूतोऽध्यात्ममधिभूतं च, तावद्व्याप्तिमानेव। तान्येतानि पित्रा पाङ्क्तेन कर्मणा सृष्टानि त्रीण्यन्नानि वाङ्मनःप्राणाख्यानि। अध्यात्ममधिभूतं च जगत्समस्तमेतैर्व्याप्तं, नैतेभ्योऽन्यदतिरिक्तं किंचिदस्ति कार्यात्मकं करणात्मकं वा। समस्तानि त्वेतानि प्रजापतिस्ते **एते** वाङ्मनःप्राणाः **सर्व एव समा**स्तुल्यव्याप्तिमन्तो यावत्प्राणिगोचरं साध्यात्माधिभूतं व्याप्य व्यवस्थिता अत **एवानन्ता** यावत्संसारभाविनो हि ते। न हि कार्यकरणप्रत्याख्यानेन संसारोऽवगम्यते। कार्यकरणात्मका हि ते इत्युक्तम्। **स यः** कश्चिद्धैतान्प्रजापतेरात्मभूता**नन्तवतः** परिच्छिन्नानध्यात्मरूपेण वाऽधिभूतरूपेण वो**पास्ते**, स च तदुपासनानुरूपमेव फल**मन्तवन्तं लोकं जयति** परिच्छिन्न एव जायते नैतेषामात्मभूतो भवतीत्यर्थः। **अथ पुनर्यो हैताननन्तान्**सर्वात्मकान्सर्वप्राण्यात्मभूतानपरिच्छिन्ना**नुपास्ते सोऽनन्तमेव लोकं जयति**॥१३॥

पिता पाङ्क्तेन कर्मणा सप्तान्नानि सृष्ट्वा त्रीण्यन्नान्यात्मार्थमकरोदित्युक्तं

रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥१४॥

से नित्य ही है। वह संवत्सर प्रजापति रात्रियों से ही शुक्लपक्ष में बढ़ता है तथा कृष्णपक्ष में क्षीण होता है। अमावस्या की रात्रि में वह संवत्सररूप प्रजापति इस सोलहवीं कला से इन समस्त प्राणियों में अनुप्रवेश कर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल द्वितीया कला से संयुक्त होकर उत्पन्न होता है। अतः इस रात्रि में किसी प्राणी के प्राणविच्छेद न करें। यहाँ तक कि इस संवत्सररूप देवता की पूजा के लिए इस अमावस्या की रात्रि में गिरगिट को भी न मारे (अमङ्गलरूपी पापी गिरगिट को स्वभाव से लोग मार डालते हैं। इसे मारने का भी निषेध इस रात्रि में किया जाता है)॥१४॥

तान्येतानि पाङ्क्तकर्मफलभूतानि व्याख्यातानि। तत्र कथं पुनः पाङ्क्तस्य कर्मणः फलमेतानीति। उच्यते — यस्मात्तेष्वपि त्रिष्वन्नेषु पाङ्क्तताऽवगम्यते। वित्तकर्मणोरपि तत्र संभवात्। तत्र पृथिव्यग्नी माता। दिवादित्यौ पिता। योऽयमनयोरन्तरा प्राणः स प्रजेति व्याख्यातम्। तत्र वित्तकर्मणी संभावयितव्ये इत्यारम्भः—

स एष संवत्सरो योऽयं त्र्यन्नात्मा **प्रजापतिः** प्रकृतः, स एष संवत्सरात्मना विशेषतो निर्दिश्यते। **षोडशकलः** षोडश कला अवयवा अस्य सोऽयं षोडशकलः संवत्सरः संवत्सरात्मा कालरूपः। तस्य च कालात्मनः प्रजापते **रात्रय एवा**होरात्राणि तिथय इत्यर्थः। **पञ्चदश कलाः। ध्रुवैव** नित्यैव व्यवस्थिता**ऽस्य** प्रजापतेः **षोडशी** षोडशानां पूरणी **कला। स रात्रिभिरेव** तिथिभिः कलोक्ताभि**रापूर्यते चापक्षीयते** च। प्रतिपदाद्याभिर्हि चन्द्रमाः प्रजापतिः शुक्लपक्षे आपूर्यते कलाभिरुपचीयमानाभिर्वर्धते यावत्संपूर्णमण्डलः पौर्णमास्याम्। ताभिरे-

(अन्न के उपासक ही षोडशकल संवत्सर प्रजापति हैं)

यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स, योऽय-मेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला, आत्मै-

जो भी वह सोलह कलाओं वाला संवत्सर प्रजापति है; वह यही है। जो इस प्रकार

वापचीयमानाभिः कलाभिरपक्षीयते कृष्णपक्षे यावद्ध्रुवैका कला व्यवस्थिताऽमावास्यायाम्।

स प्रजापतिः कालात्मा**ऽमावास्याम**मावास्यायां **रात्रिं** रात्रौ या व्यवस्थिता ध्रुवा कलोक्ता**तया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृ**त्प्राणिजात**मनुप्रविश्य** यदपः पिबति यच्चौषधीरश्नाति तत्सर्वमेवौषध्यात्मना सर्वं व्याप्यामावास्यां रात्रिमवस्थाय **ततो**ऽपरेद्युः **प्रातर्जायते** द्वितीयया कलया संयुक्तः। एवं पाङ्क्तात्मकोऽसौ प्रजापतिः। दिवादित्यौ मनः पिता। पृथिव्यग्नी वाग्जाया माता। तयोश्च प्राणः प्रजा। चान्द्रमस्यस्तिथयः कला वित्तमुपचयापचयधर्मित्वाद्वित्तवत्तासां च कलानां कालावयवानां जगत्परिणामहेतुत्वं कर्म। एवमेष कृत्स्नः प्रजापति-र्जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येषणानुरूप एव पाङ्क्तस्य कर्मणः फलभूतः संवृत्तः। कारणानुविधायि हि कार्यमिति लोकेऽपि स्थितिः।

यस्मादेष चन्द्र **एतां रात्रिं** सर्वप्राणिजातमनुप्रविष्टो ध्रुवया कलया वर्तते, तस्माद्धेतोरेताममावास्यां रात्रिं प्राणभृतः प्राणिनः **प्राणं न विच्छिन्द्यात्**प्राणिनं न प्रमापयेदित्येत**दपि कृकलासस्य**। कृकलासो हि पापात्मा स्वभावेनैव हिंस्यते प्राणिभिर्दृष्टोऽप्यमङ्गल इति कृत्वा। ननु प्रतिषिद्धैव प्राणिहिंसा ''न हिंस्यात्सर्वा भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य'' इति। बाढं प्रतिषिद्धा, तथाऽपि नामावास्याया अन्यत्र प्रतिप्रसवार्थं वचनं हिंसायाः कृकलासविषये वा किं तर्ह्येतस्याः **सोमदेवताया अपचित्यै** पूजार्थम्॥१४॥

यो वै परोक्षाभिहितः **संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः** स

वास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं, तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥१५॥

(अन्न त्रयरूप) प्रजापति को जानने वाला पुरुष है; वित्त ही उनकी पन्द्रह कलाएँ हैं तथा शरीर ही उस रहस्यवेत्ता की सोलहवीं कला है। वह चन्द्रमा के समान गौ-अश्वादि वित्त से ही बढ़ता है और क्षीण होता है। यह जो शरीर है वह रथचक्र की नाभिरूप है और वित्त रथचक्र के बाहर का घेरारूप नेमि है। अतः सर्वस्व नष्ट हो जाने के कारण यदि पुरुष हीन हो जाय, पर शरीर से जीवित रहे तो यही कहते हैं कि केवल प्रधि (नेमि) से ही क्षीण हुआ है, अर्थात् धनाभाव हो जाने पर भी जीवित पुरुष पुनः धन को प्राप्त कर सुखी हो जाता है॥१५॥

नैवात्यन्तं परोक्षो मन्तव्यो, यस्मादयमेव स प्रत्यक्ष उपलभ्यते। कोऽसावयं **यो** यथोक्तं त्र्यन्नात्मकं प्रजापतिमात्मभूतं वेत्ति **स एवंवित्पुरुषः**। केन सामान्येन प्रजापतिरिति? तदुच्यते— **तस्यैवंविदः** पुरुषस्य गवादिवित्त**मेव पञ्चदश कला** उपचयापचयधर्मित्वाद्वित्तसाध्यं च कर्म। तस्य कृत्स्नताया **आत्मैव** पिण्ड **एवास्य** विदुषः **षोडशी कला** ध्रुवास्थानीया, स चन्द्रवद्**वित्तेनैवाऽऽपूर्यते चापक्षीयते च**। तदेतल्लोके प्रसिद्धम्। **तदेतन्नभ्यं** नाभ्यै हितं नभ्यं नाभिं वाऽर्हतीति। किं **तद्यदयं** योऽयम**ात्मा** पिण्डः, **प्रधिर्वित्तं** परिवारस्थानीयं बाह्यं चक्रस्येवारनेम्यादि। **तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं** सर्वस्वापहरणं **जीयते** हीयते ग्लानिं प्राप्नोत्य**ात्मना** चक्रनाभिस्थानीयेन **चेद्यदि जीवति प्रधिना** बाह्येन परिवारेणाय**मगात्**क्षीणोऽयं यथा चक्रमरनेमिविमुक्तमेव**माहु**र्जीवंश्चेदरनेमिस्थानीयेन वित्तेन पुनरुपचीयते इत्यभिप्रायः॥१५॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति ॥१६ ॥

मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक यही तीन हैं। उनमें से वह यह मनुष्यलोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है; किसी अन्य कर्म से नहीं। तथा कर्म से पितृलोक और उपासना से देवलोक जीते जा सकते हैं। इन लोकें में देवलोक ही श्रेष्ठ है। इसीलिए देवलोकप्राप्ति के साधनभूत विद्या की प्रशंसा करते हैं॥१६॥

एवं पाङ्क्तेन दैववित्तविद्यासंयुक्तेन कर्मणा त्र्यन्नात्मकः प्रजापतिर्भवतीति व्याख्यातमनन्तरं च जायादिवित्तं परिवारस्थानीयमित्युक्तम्। तत्र पुत्रकर्मापरविद्यानां लोकप्राप्तिसाधनत्वमात्रं सामान्येनावगतं, न पुत्रादीनां लोकप्राप्तिफलं प्रति विशेष-संबन्धनियमः। सोऽयं पुत्रादीनां साधनानां साध्यविशेषसंबन्धो वक्तव्य इत्युत्तर-कण्डिका प्रणीयते—

अथेति वाक्योपन्यासार्थः। **त्रयो वावेत्यवधारणार्थः।** त्रय एव शास्त्रोक्त-साधनार्हा **लोका** न न्यूना नाधिका वा। के ते इत्युच्यते— **मनुष्यलोकः पितृ-लोको देवलोक** इति। तेषां **सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव** साधनेन **जय्यो** जेतव्यः साध्यो यथा च पुत्रेण जेतव्यस्तथोत्तरत्र वक्ष्यामो **नान्येन कर्मणा** विद्यया वेति वाक्यशेषः। **कर्मणा**ऽग्निहोत्रादिलक्षणेन केवलेन **पितृलोको** जेतव्यो न पुत्रेण नापि विद्यया। **विद्यया देवलोको** न पुत्रेण नापि कर्मणा। **देवलोको वै लोकानां** त्रयाणां **श्रेष्ठः** प्रशस्यतमः। **तस्मात्तत्साधनत्वाद्विद्यां प्रशंसन्ति** ॥१६ ॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंवि-

अब इसके बाद संप्रत्ति कर्म कहा जाता है। (मरण-चिन्ह को देखकर) जब पिता यह समझता है कि अब मैं मरने वाला हूँ, उस समय पुत्र को बुला कर कहता है "तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है" इस प्रकार पिता से शिक्षा प्राप्त कर वह पुत्र प्रत्युत्तर में कहता है 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ'। (इन तीनों वाक्यों की व्याख्या स्वयं श्रुति करती है) जो कुछ भी अनूक्त स्वाध्याय है; उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी न किया हुआ यज्ञ है; उन सबकी 'यज्ञ' यह एकता है और जो कुछ भी ज्ञातव्यलोक है; उन सबकी 'लोक' यह एकता है। बस! यह इतना ही गृहस्थपुरुष का सम्पूर्ण पालनीय कर्त्तव्य है। (फिर पिता यह समझता है कि) मेरे अधीन इस सम्पूर्णभार को यह अपने ऊपर लेकर इस लोक से जाने पर मेरा पालन करेगा। अतः इस प्रकार उस अनुशासन किए हुए पुत्र को लोकप्राप्ति में हितकर होने से 'लोक्य' कहते हैं। इसी

एवं साध्यलोकत्रयफलभेदेन विनियुक्तानि पुत्रकर्मविद्याख्यानि त्रीणि साधनानि। जाया तु पुत्रकर्मार्थत्वान्न पृथक्साधनमिति पृथङ्नाभिहिता। वित्तं च कर्मसाधनत्वान्न पृथक्साधनम्। विद्याकर्मणोर्लोकजयहेतुत्वं स्वात्मप्रतिलाभेनैव भवतीति प्रसिद्धम्। पुत्रस्य त्वक्रियात्मकत्वात्केन प्रकारेण लोकजयहेतुत्वमिति न ज्ञायतेऽतस्तद्वक्तव्यमित्यथानन्तरमारभ्यते— **संप्रत्तिः** संप्रदानम्। संप्रत्तिरिति वक्ष्यमाणस्य कर्मणो नामधेयम्। पुत्रे हि स्वात्मव्यापारसंप्रदानं करोत्यनेन प्रकारेण पिता, तेन

दस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनꣳ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति॥१७॥

से पिता उसको शिक्षा देता है। ऐसे विज्ञान वाला वह पिता जब इस लोक से जाता है, तो अपने उन्हीं प्राणों के साथ पुत्र में व्याप्त हो जाता है। किसी असावधानी से उस पिता के द्वारा कोई कर्तव्यकर्म पूर्ण नहीं हुआ होता, तो उस कर्म से उसका पुत्र उसे मुक्त कर देता है। उसका पुत्र नाम इसीलिए है, क्योंकि अपूर्णकर्म की पूर्ति के द्वारा वह पिता का त्राण करता है। वह पिता पुत्र के द्वारा ही इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। फिर उस पिता में ये वागादि हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमरणधर्मा प्राण प्रवेश करते हैं॥१७॥

संप्रत्तिसंज्ञकमिदं कर्म। तत्कस्मिन्काले कर्तव्यमित्याह— स पिता **यदा** यस्मिन्काले प्रैष्यन्मरिष्यन्मरिष्यामीत्यरिष्टादिदर्शनेन **मन्यतेऽथ** तदा **पुत्रमाहूयाऽऽह— त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक** इति। **स** एवमुक्तः **पुत्रः प्रत्याह** स तु पूर्वमेवानुशिष्टो जानाति मयैतत्कर्तव्यमिति तेनाऽऽहाहं ब्रह्माहं **यज्ञोऽहं लोक** इति। एतद्वाक्यत्रयम्।

एतस्यार्थस्तिरोहित इति मन्वाना श्रुतिर्व्याख्यानाय प्रवर्तते-**यद्वै किंच** यत्किंचावशिष्टम**नूक्तम**धीतमनधीतं च, **तस्य सर्वस्यैव ब्रह्मेत्ये**तस्मिन्पदे **एकतै**कत्वं योऽध्ययनव्यापारो मम कर्तव्य आसीदेतावन्तं कालं वेदविषयः, स इत ऊर्ध्वं त्वं ब्रह्म त्वत्कर्तृकोऽस्त्वित्यर्थः। तथा **ये वै के च यज्ञा** अनुष्ठेयाः सन्तो मयाऽनुष्ठिताश्चाननुष्ठिताश्च, **तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्ये**तस्मिन्पदे **एकतैकत्वं** मत्कर्तृका यज्ञा य आसंस्त इत ऊर्ध्वं त्वं यज्ञस्त्वत्कर्तृका भवन्त्वित्यर्थः। **ये वै के च लोका** मया जेतव्याः सन्तो जिता अजिताश्च, **तेषां सर्वेषां लोक**

इत्येतस्मिन्पदे **एकता**। इत ऊर्ध्वं त्वं लोकस्त्वया जेतव्यास्ते। इत ऊर्ध्वं मयाऽध्ययनयज्ञलोकजयकर्तव्यक्रतुस्त्वयि समर्पितोऽहं तु मुक्तोऽस्मि कर्तव्यताबन्धनविषयात्क्रतोः। स च सर्वं तथैव प्रतिपन्नवान्पुत्रोऽनुशिष्टत्वात्।

तत्रेमं पितुरभिप्रायं मन्वानाऽऽचष्टे श्रुति**रेतावदे**तत्परिमाणं **वा इदं सर्वं** यद्गृहिणा कर्तव्यं यदुत वेदा अध्येतव्या, यज्ञा यष्टव्या, लोकाश्च जेतव्या, **एतन्मा सर्वं सन्नयं** सर्वं हीमं भारं मदधीनं मत्तोऽपच्छिद्याऽऽत्मनि निधाये**तोऽ**स्माल्लो**कान्मा** माम**भुनजत्**पालयिष्यतीति लृडर्थे लङ्, छन्दसि कालनियमाभावात्। यस्मादेवं संपन्नः पुत्रः पितरमस्माल्लोकात्कर्तव्यताबन्धनतो मोचयिष्यति। **तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यं** लोकहितं **पितुराहुर्ब्राह्मणाः**। अत एव **ह्येनं** पुत्र**मनुशासति** लोक्योऽयं नः स्यादिति पितरः।

स पिता **यदा** यस्मिन्काले **एवंवित्**पुत्रसमर्पितकर्तव्यक्रतु**रस्माल्लोकात्प्रैति** म्रियते**ऽथ** तदै**भिरेव** प्रकृतैर्वाङ्मनः**प्राणैः पुत्रमाविशति** पुत्रं व्याप्नोति। अध्यात्मपरिच्छेदहेत्वपगतात्पितुर्वाङ्मनःप्राणाः स्वेनाऽऽधिदैविकेन रूपेण पृथिव्यग्न्याद्यात्मना भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत्सर्वमाविशन्ति। तैः प्राणैः सह पिताऽप्याविशति वाङ्मनःप्राणात्मभावित्वात्पितुः। अहमस्म्यनन्ता वाङ्मनःप्राणा अध्यात्मादिभेदविस्तारा इत्येवं भावितो हि पिता। तस्मात्तत्प्राणानुवृत्तित्वं पितुर्भवतीति युक्तमुक्तमेभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशतीति। सर्वेषां ह्यसावात्मा भवति पुत्रस्य च। एतदुक्तं भवति— यस्य पितुरेवमनुशिष्टः पुत्रो भवति। सोऽस्मिन्नेव लोके वर्तते पुत्ररूपेण, नैव मृतो मन्तव्य इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरे— "सोऽस्यायमितर आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते" इति।

अथेदानीं पुत्रनिर्वचनमाह-**स पुत्रो यदि** कदाचि**दनेन** पित्रा**ऽक्ष्णया** कोणाच्छिद्रतोऽन्तराऽ**कृतं भवति** कर्तव्यम्। **तस्मात्**कर्तव्यतारूपात्पित्राऽकृतात्**सर्वस्मा**ल्लोकप्राप्तिप्रतिबन्धरूपात्पुत्रो **मुञ्चति** मोचयति तत्सर्वं स्वयमनुतिष्ठन्पूरयित्वा। **तस्मात्**पूरणेन त्रायते स पितरं यस्मात्तस्मात्**पुत्रो नाम**। इदं

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति॥१८॥

इस संप्रत्ति कर्म करने वाले में पृथिवी और अग्नि से आधिदैविक वाक् का आवेश होता है, क्योंकि पृथिवी और अग्निरूपा दैवी वाक्, समग्र वाक् की उपादान भूता है। अतः वही दैवी वाक् है, जिससे पुरुष जो भी बोलता है; वह अमोघरूप से वैसा ही हो जाता है॥१८॥

तत्पुत्रस्य पुत्रत्वं यत्पितुश्छिद्रं पूरयित्वा त्रायते। स पितैवंविधेन **पुत्रेण** मृतोऽपि सन्नमृतो**ऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठत्ये**वमसौ पिता पुत्रेणेमं मनुष्यलोकं जयति। न तथा विद्याकर्मभ्यां देवलोकपितृलोकौ स्वरूपलाभसत्तामात्रेण। न हि विद्याकर्मणी स्वरूपलाभव्यतिरेकेण पुत्रवद्व्यापारान्तरापेक्षया लोकजयहेतुत्वं प्रतिपद्येते। **अथ** कृतसंप्रत्तिकं पितर**मेनमेते** वागादयः **प्राणा देवा** हैरण्यगर्भा **अमृता** अमरणधर्माण **आविशन्ति**॥१७॥

कथमिति वक्ष्यति **पृथिव्यै चैन**मित्यादि। एवं पुत्रकर्मापरविद्यानां मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाध्यार्थता प्रदर्शिता श्रुत्या स्वयमेव। अत्र केचिद्वावदूकाः श्रुत्युक्तविशेषार्थानभिज्ञाः सन्तः पुत्रादिसाधनानां मोक्षार्थतां वदन्ति। तेषां मुखापिधानं श्रुत्येदं कृतं जाया मे स्यादित्यादि पाङ्क्तं काम्यं कर्मेत्युपक्रमेण पुत्रादीनां च साध्यविशेषविनियोगोपसंहारेण च। तस्माद्वृणश्रुतिरविद्वद्विषया न परमात्मविद्विषयेति सिद्धम्। वक्ष्यति च— "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति।

केचित्तु पितृलोकदेवलोकजयोऽपि पितृलोकदेवलोकाभ्यां व्यावृत्तिरेव। तस्मात्पुत्रकर्मापरविद्याभिः समुच्चित्यानुष्ठिताभिस्त्रिभ्य एतेभ्यो लोकेभ्यो व्यावृत्तः परमात्मविज्ञानेन मोक्षमधिगच्छतीति परम्परया मोक्षार्थान्येव पुत्रादिसाधनानीच्छन्ति।

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति॥१९॥

द्युलोक और आदित्य से इस पुरुष में दैव मन का आवेश होता है। स्वभाव से निर्मल होने के कारण दैव मन वही है, जिस मन से वह सुखी होता है और कभी शोक नहीं करता॥१९॥

तेषामपि मुखापिधानायेयमेव श्रुतिरुत्तरा कृतसंप्रत्तिकस्य पुत्रिणः कर्मिणस्त्र्यन्नात्मविद्याविदः फलप्रदर्शनाय प्रवृत्ता।

न चेदमेव फलं मोक्ष इति शक्यं वक्तुम्। त्र्यन्नसंबन्धान्मेधातपःकार्यत्वाच्चान्नानां पुनः पुनर्जनयत इति दर्शनात्। यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत हेति च क्षयश्रवणाच्छरीरं ज्योतीरूपमिति च कार्यकरणत्वोपपत्तेस्त्रयं वा इदमिति च नामरूपकर्मात्मकत्वेनोपसंहारात्। न चेदमेव साधनत्रयं संहतं सत्कस्यचिन्मोक्षार्थं कस्यचित्त्र्यन्नात्मफलमित्यस्मादेव वाक्यादवगन्तुं शक्यं, पुत्रादिसाधनानां त्र्यन्नात्मफलदर्शनेनैवोपक्षीणत्वाद्वाक्यस्य।

पृथिव्यै पृथिव्याश्चैनमग्नेश्च दैव्यधिदैवात्मिका **वागेनं** कृतसंप्रत्तिकम**आविशति**। सर्वेषां हि वाच उपादानभूता **दैवी वाक्**पृथिव्यग्निलक्षणा। **सा** ह्याध्यात्मिकासङ्गादिदोषैर्निरुद्धा, विदुषस्तद्दोषापगमे आवरणभङ्ग इवोदकं प्रदीपप्रकाशवच्च व्याप्नोति। तदेतदुच्यते — पृथिव्या अग्नेश्चैनं दैवी वागाविशतीति। **सा च दैवी वाग**नृतादिदोषरहिता शुद्धा, **यया** वाचा दैव्या **यद्यदेवा**ऽऽत्मने परस्मै वा **वदति तत्तद्भवत्य**मोघाऽप्रतिबद्धाऽस्य वाग्भवतीत्यर्थः॥१८॥

तथा **दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति**। **तच्च दैवं मनः** स्वभावनिर्मलत्वात्। **येन** मनसाऽसावा**नन्द्येव भवति** सुख्येव भव**त्यथो** अपि **न शोचति** शोकादिनिमित्तासंयोगात्॥१९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति, स वै दैवः प्राणो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति, यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति॥२०॥

जल और चन्द्रमा से इस पुरुष में दैव प्राण आविष्ट होता है। सुख-दुःखादि से मुक्त होने के कारण वही दैव प्राण है। (जो समष्टि और व्यष्टिरूप से प्राणियों में) संचार करता हुआ और संचार न करता हुआ व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। वह इस प्रकार जानने वाला पुरुष समस्त प्राणियों का आत्मा होता है। जैसा यह हिरण्यगर्भ देवता है, वैसा ही वह अपरिच्छिन्न हो जाता है। जैसे समस्त प्राणी इस हिरण्यगर्भ देवता का पालन करते है, वैसे ही इस उपासक का पालन सभी भूत करते हैं। ये प्रजाएँ जो कुछ भी शोक करती हैं; वह शोकजन्यदुःख इन प्रजाओं के साथ ही रहता है। उस विद्वान् को तो पुण्य ही प्राप्त होता है क्योंकि देवताओं के पास पाप नहीं जाता॥२०॥

तथाऽ**द्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति। स वै दैवः प्राणः** किंलक्षणः? इत्युच्यते— **यः संचर**न्प्राणिभेदेष्व**संचर**न्समष्टिव्यष्टिरूपेणाथवा संचरञ्जङ्गमेष्वसंचरन्स्थावरेषु **न व्यथते** न दुःखनिमित्तेन भयेन युज्यते। अथो अपि **न रिष्यति** न विनश्यति न हिंसामापद्यते। **स** यो यथोक्त**मेवं** वेत्ति त्र्यन्नात्मदर्शनं स **सर्वेषां भूतानामात्मा भवति** सर्वेषां भूतानां प्राणो भवति सर्वेषां भूतानां मनो भवति सर्वेषां भूतानां वाग्भवतीत्येवं सर्वभूतात्मतया सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः। सर्वकृच्च। **यथैषा** पूर्वसिद्धा हिरण्यगर्भ**देवतैवमेव** नास्य

अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति

अब यहाँ से व्रत का विचार किया जाता है। प्रजापति ने कर्म के साधनभूत वागादि करणों की सृष्टि की। सृष्टि हो जाने पर वे सभी कर्म परस्पर संघर्ष करने लगे। वाक्

सर्वज्ञत्वे सर्वकृत्त्वे वा क्वचित्प्रतिघातः। **स** इति दार्ष्टान्तिकनिर्देशः। किंच **यथैतां** हिरण्यगर्भ**देवता**मिज्यादिभिः **सर्वाणि भूतान्यवन्ति** पालयन्ति पूजयन्**त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ती**ज्यादिलक्षणां पूजां सततं प्रयुञ्जत इत्यर्थः।

अथेदमाशङ्क्यते-सर्वप्राणिनामात्मा भवतीत्युक्तं, तस्य च सर्वप्राणिकार्यकरणात्मत्वे सर्वप्राणिसुखदुःखैः संबध्येतेति? तन्न। अपरिच्छिन्नबुद्धित्वात्। परिच्छिन्नात्मबुद्धीनां ह्याक्रोशादौ दुःखसंबन्धो दृष्टोऽनेनाहमाक्रुष्ट इति। अस्य तु सर्वात्मनो य आक्रुश्यते यश्चाऽऽक्रोशति तयोरात्मत्वबुद्धिविशेषाभावान्न तन्निमित्तं दुःखमुपपद्यते। मरणदुःखवच्च निमित्ताभावात्। यथा हि कस्मिंश्चिन्मृते कस्यचिद्दुःखमुत्पद्यते ममासौ पुत्रो भ्राता चेति पुत्रादिनिमित्तम्। तन्निमित्ताभावे तन्मरणदर्शिनोऽपि नैव दुःखमुपजायते। तथेश्वरस्याप्यपरिच्छिन्नात्मनो ममतवतादिदुःखनिमित्तमिथ्याज्ञानादिदोषाभावान्नैव दुःखमुपजायते। तदेतदुच्यते— यदु किंच यत्कि**चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैव** सहैव प्रजाभिस्तच्छोकादिनिमित्तं दुःखं संयुक्तं भवत्यासां प्रजानां परिच्छिन्नबुद्धिजनितत्वात्। सर्वात्मनस्तु केन सह किं संयुक्तं भवेद्वियुक्तं वा। अमुं तु प्राजापत्ये पदे वर्तमानं **पुण्यमे**व शुभमेव फलमभिप्रेतं पुण्यमिति। निरितिशयं हि तेन पुण्यं कृतं तेन तत्फलमेव **गच्छति। न ह वै देवान्पापं गच्छति** पापफलस्यावसराभावात्पापफलं दुःखं न गच्छतीत्यर्थः॥२०॥

''ते एते सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ताः'' इत्यविशेषेण वाङ्मनःप्राणानामुपासनमुक्तं नान्यतमगतो विशेष उक्तः। किमेवमेव प्रतिपत्तव्यं किं वा विचार्यमाणे कश्चिद्विशेषो व्रतमुपासनं प्रति प्रतिपत्तुं शक्यते इत्युच्यते—

वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्र-मेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्र-मथेममेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरꣳश्चासंच-रꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेते एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमा-

ने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूँगी। मैं देखता ही रहूँगा, ऐसा नेत्र ने व्रत लिया और मैं सुनता ही रहूँगा, ऐसा श्रोत्र ने व्रत लिया। ऐसे ही अपने-अपने कर्मानुसार अन्य सभी इन्द्रियों ने भी व्रत लिया। तब सबके मारक मृत्यु ने परिश्रम होकर उन्हें पकड़ लिया और उनमें व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होकर मृत्यु ने उनका अवरोध किया अर्थात् अपने-अपने कर्मो से च्युत कर दिया। इसीलिये भाषण में प्रवृत्त हुई यह वाणी श्रान्त हो जाती है। देखने में प्रवृत्त हुआ नेत्र श्रान्त होता ही है और शब्द सुनने में श्रोत्र भी श्रान्त हो जाता है। पर यह जो मध्यम प्राण है, केवल इसी में वह मृत्यु व्याप्त न हो सका। इस अद्भुत घटना से इन्द्रियों ने कभी न थकने वाले उस प्राण को जानने का निश्चय किया। निश्चय हम सब में यही श्रेष्ठ है; जो संचार करता हुआ और न करता हुआ कभी थकता नहीं और न क्षीण ही होता है। अस्तु हम सब भी इस ज्येष्ठ प्राण के रूप हो जायँ।

अथातोऽनन्तरं **व्रतमीमांसो**पासनकर्मविचारणेत्यर्थः। एषां प्राणानां कस्य कर्म व्रतत्वेन धारयितव्यमिति मीमांसा प्रवर्तते। तत्र **प्रजापतिर्ह**, हशब्दः किलार्थे प्रजापतिः किल प्रजाः सृष्ट्वा **कर्माणि** करणानि वागादीनि कर्मार्थानि हि तानीति कर्माणीत्युच्यन्ते, **ससृजे** सृष्टवान्वागादीनि करणानीत्यर्थः। **तानि** पुनः **सृष्टान्यन्योन्येने**तरेतरमस्पर्धन्त स्पर्धां संघर्षं चक्रुः। कथम्? **वदिष्याम्येव**

चक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥२१॥

ऐसा निश्चय कर वे वागादि सभी इन्द्रियाँ इसी मुख्यप्राण के रूप हो गयीं। इसीलिये वे इसी के नाम से "प्राण" ऐसा कही जाती हैं। अतएव जो कोई ऐसा जानता है, वह विद्वान् जिस कुल में उत्पन्न होता है; वह कुल उस विद्वान् के नाम से पुकारा जाता है और जो इस विद्वान् से संघर्ष करता है; वह सूख जाता है और सूखकर अन्त में मर जाता है। यही अध्यात्म प्राणदर्शन है॥२१॥

स्वव्यापाराद्वदनादनुपरतैवा**हं स्यामिति वाग्व्रतं दध्रे** धृतवती। यद्यन्योऽपि मत्समोऽस्ति स्वव्यापारादनुपरन्तुं शक्तः, सोऽपि दर्शयत्वात्मनो वीर्यमिति। तथा **द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि** करणानि **यथाकर्म** यद्यद्यस्य कर्म यथाकर्म तानि करणानि मृत्युर्मारकः **श्रमः** श्रमरूपी **भूत्वोपयेमे** संजग्राह स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः। कथम्? **तानि** करणानि स्वव्यापारे प्रवृत्तान्या**प्नो**च्छ्रमरूपेणाऽऽत्मानं दर्शितवाना**प्त्वा** च **तान्यवारुन्धा**वरोधं कृतवा**न्मृत्युः** स्वकर्मभ्यः प्रच्यावितवानित्यर्थः। **तस्मा**-दद्यत्वेऽपि वदने स्वकर्मणि प्रवृत्ता **वाक्श्राम्यत्येव** श्रमरूपिणा मृत्युना संयुक्ता स्वकर्मतः प्रच्यवते। तथा **श्राम्यति चक्षुः**। श्राम्यति **श्रोत्रम्। अथेममेव** मुख्यं प्राणं **नाऽऽप्नोन्न** प्राप्तवान्मृत्युः श्रमरूपी, **योऽयं मध्यमः प्राण**स्तम्। तेनाद्य-त्वेऽप्यश्रान्त एव स्वकर्मणि प्रवर्तते। **तानीतराणि** करणानि तं **ज्ञातुं दध्रिरे** धृतवन्ति मनः। **अयं वै नोऽ**स्माकं मध्ये **श्रेष्ठः** प्रशस्यतमोऽभ्यधिको यस्माद्**यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति, हन्तेदानीमस्यैव** प्राणस्य **सर्वे** वयं **रूपमसाम** प्राणमात्मत्वेन प्रतिपद्येमहि। एवं विनिश्चित्य **ते**

अधिदैव दर्शन

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यह-
मित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता
यथादैवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमे-

अब आगे देवता विषयक दर्शन कहा जाता है। अग्नि ने व्रत लिया कि मैं जलता ही रहूँगा। सूर्य ने नियम किया कि मैं तपता ही रहूँगा तथा चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित होता ही रहूँगा, ऐसा ही अपने-अपने व्यापारानुसार अन्य देवताओं ने भी व्रत लिया। जैसे इन वागादि-प्राणों में मध्यम प्राण है, वैसे ही इन देवताओं में मध्यम

एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्प्राणरूपमेवाऽऽत्मत्वेन प्रतिपन्नाः प्राणव्रतमेव दध्रिरेऽस्मद्व्रतानि न मृत्योर्वारणाय पर्याप्तानीति।

यस्मात्प्राणरूपेण रूपवन्तीतराणि करणानि चलनात्मना स्वेन च प्रकाशात्मना। न हि प्राणादन्यत्र चलनात्मत्वोपपत्तिः। चलनव्यापारपूर्वकाण्येव हि सर्वदा स्वव्यापारेषु लक्ष्यन्ते। **तस्मादेते** वागादय **एतेन** प्राणाभिधानेनाऽऽ**ख्यायन्ते**ऽभिधीयन्ते **प्राणाः इत्येवम्**। य एवं प्राणात्मतां सर्वकरणानां वेत्ति प्राणशब्दाभिधेयत्वं च, तेन ह वाव तेनैव विदुषा **तत्कुलमाचक्षते** लौकिकाः। **यस्मिन्कुले** स विद्वाञ्जातो **भवति** तत्कुलं विद्वन्नाम्नैव प्रथितं भवत्यमुष्येदं कुलमिति। यथा तापत्य इति। **य एवं** यथोक्तं **वेद** वागादीनां प्राणरूपतां प्राणाख्यत्वं च तस्यै-तत्फलम्। किंच **यः** कश्चिद्**द् हैवंविदा** प्राणात्मदर्शिना **स्पर्धते** तत्प्रतिपक्षी सन्सोऽस्मिन्नेव शरीरेऽ**नुशुष्यति** शोषमुपगच्छति। **अनुशुष्य हैव** शोषं गत्वै-**वान्ततोऽन्ते म्रियते**, न सहसाऽनुपद्रुतो म्रियते। **इत्येवमुक्तमध्यात्मं** प्राणा-त्मदर्शनमित्युक्तोपसंहारोऽधिदैवतप्रदर्शनार्थः ॥२१॥

अथानन्तरमधिदैवतं देवताविषयं दर्शनमुच्यते। कस्य देवताविशेषस्य व्रत-धारणं श्रेय इति मीमांस्यते। अध्यात्मवत्सर्वं, **ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे। तप्स्याम्यहमित्यादित्यः। भास्याम्यहमिति चन्द्रमाः। एवमन्या**

तासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥२२॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मꣳ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं

वायु है, क्योंकि अन्य देवता अस्त हो जाते हैं, परन्तु वायु अस्त नहीं होता। यह जो वायु देवता है, वह कभी भी अस्त न होने वाला देवता है॥२२॥

इसी अर्थ का प्रकाशक यह मन्त्र है। "जिस वायुदेव से सूर्य उदित होता है और जिसमें वह सूर्य अस्त होता है" इत्यादि। यह प्राण से ही उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है। उस धर्म को देवताओं ने धारण किया अर्थात् अध्यात्म और अधिदैव ने क्रमशः प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण किया, वही आज भी चल रहा है और कल भी रहेगा। देवताओं ने उस समय जो व्रत को धारण किया था, वे वही कार्य आज भी कर रहे हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्रत का आचरण करे। प्राणन और अपानन

देवता यथादैवतम्। **सो**ऽध्यात्मं वागादीनामेषां **प्राणानां** मध्ये **मध्यमः प्राणो** मृत्युनाऽनाप्तः स्वकर्मणो न प्रच्यावितः स्वेन प्राणव्रतेनाभग्नव्रतो **यथैवमे-तासा**मग्न्यादीनां **देवतानां वायु**रपि। **म्लोचन्त्य**स्तं यन्ति स्वकर्मभ्य उपरमन्ते यथाऽध्यात्मं वागादयो**ऽन्या देवता** अग्न्याद्या **न वायु**रस्तं याति यथा मध्यमः प्राणोऽतः **सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायु**र्योऽयं वायुः। एवमध्यात्ममधिदैवं च मीमांसित्वा निर्धारितं प्राणवाय्वात्मनोर्व्रतमभग्नमिति॥२२॥

अथैतस्यैवार्थस्य प्रकाशक **एष श्लोको** मन्त्रो **भवति**। **यतश्च** यस्मा-द्वायो**रुदे**त्युद्गच्छति **सूर्यो**ऽध्यात्मं च चक्षुरात्मना प्राणाद**स्तं यत्र** वायौ प्राणे

चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नु- वदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति॥२३॥

इति प्रथमाध्याये सप्तान्ननामपञ्चमं ब्राह्मणम्॥५॥

व्यापार करे। इन्द्रियों की भाँति मुझे भी कहीं पापी मृत्यु दबोच न डाले, इस भय से इस व्रत का आचरण प्रारम्भ करे, तो इसे समाप्त करने की इच्छा रखे। इससे वह व्रत करने वाला उस देवता के साथ सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है॥२३॥

॥इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

च गच्छत्यपरसंध्यासमये स्वापसमये च पुरुषस्य, तं देवास्तं धर्मं देवाश्चक्रिरे, धृतवन्तो वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं च पुरा विचार्य **स एवाद्येदानीं श्वो**ऽपि भविष्यत्यपि कालेऽनुवर्ततेऽनुवर्तिष्यते च देवैरित्यभिप्रायः। तत्रेमं मन्त्रं संक्षेपतो व्याचष्टे ब्राह्मणम्। **प्राणाद्वा एष** सूर्य **उदेति प्राणेऽस्तमेति**।

तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इत्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते। **यद्वा एते** व्रतममुर्ह्यमुष्मिन्काले वागादयोऽग्न्यादयश्च प्राणव्रतं वायुव्रतं चा**ध्रियन्त तदेवाद्यापि** कुर्वन्त्यनुवर्तन्तेऽनुवर्तिष्यन्ते च व्रतं तैरभग्नमेव। यत्तु वागादिव्रतमग्न्यादिव्रतं च तद्भग्नमेव। तेषामस्तमनकाले स्वापकाले च वायौ प्राणे च निम्लुक्तिदर्शनात्।

अथैतदन्यत्रोक्तम्— ''यदा वै पुरुषः स्वपिति, प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं मनः प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्त इत्यध्यात्म- मथाधिदैवतं यदा वा अग्निरनुगच्छति वायुं तर्ह्यनूद्वाति, तस्मादेनमुदवासीदित्याहुर्वायुं ह्यनूद्वाति यदादित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायौ दिशः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते'' इति।

। अथ प्रथमाध्यायस्योक्थनामषष्ठं ब्राह्मणम्।

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागि-
त्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्ति-

नाम, रूप और कर्म यह तीन का समुदाय है और यही त्रय है। उन नामों की "वाक्" यह उक्थ अर्थात् कारण है, क्योंकि सम्पूर्ण नाम इसी वाक् से उत्पन्न होते हैं। यह वाक् ही इन नामों का साम है (क्योंकि देवदत्त यज्ञदत्तादि नामविशेष इसी से विभक्त होते हैं) यही सब नामों में समान है (वाक्रूप सामान्य से ही नामविशेष का

यस्मादेतदेव व्रतं वागादिष्वग्न्यादिषु चानुगतं यदेतद्वायोश्च प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकत्वं सर्वैर्देवैरनुवर्त्यमानं व्रतम्। **तस्मादन्योऽप्येकमेव व्रतं चरेत्।** किं तत्**प्राण्यात्**प्राणनव्यापारं कुर्या**दपान्याद**पाननव्यापारं च। न हि प्राणापानव्यापारस्य प्राणनापाननलक्षणस्योपरमोऽस्ति। तस्मात्तदेवैकं व्रतं चरेद्धित्वेन्द्रियान्तरव्यापारं **नेन्मा मां पाप्मा मृत्युः** श्रमरूप्याप्**नुवदा**प्नुयात्। **नेच्छब्दः** परिभये। यद्यहमस्माद्व्रतात्प्रच्युतः स्यां ग्रस्त एवाहं मृत्युनेत्येवं त्रस्तो धारयेत्प्राणव्रतमित्यभिप्रायः। **यदि कदाचिदु चरेत्**प्रारभेत प्राणव्रतं **समापिपयिषे**त्समापयितुमिच्छेद्यदि ह्यस्माद्व्रतादुपरमेत्प्राणः परिभूतः स्याद्देवाश्च। तस्मात्समापयेदेव।

तेन उ तेनानेन व्रतेन प्राणात्मप्रतिपत्त्या सर्वभूतेषु वागादयोऽग्न्यादयश्च मदात्मका एवाहं प्राण आत्मा सर्वपरिस्पन्दकृदेवं तेनानेन व्रतधारणेनै**तस्या** एव प्राणदेवतायाः **सायुज्यं** सयुग्भावमेकात्मत्वं **सलोकतां** समानलोकतां वैकस्थानत्वं विज्ञानमान्द्यापेक्षमेतज्जयति प्राप्नोतीति॥२३॥

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये पञ्चमं सप्तान्नब्राह्मणम्॥५॥

यदेतदविद्याविषयत्वेन प्रस्तुतं साध्यसाधनलक्षणं व्याकृतं जगत्प्राणात्मप्राप्त्यन्तोत्कर्षवदपि फलम्। या चैतस्य व्याकरणात्प्रागवस्थाऽव्याकृतशब्दवाच्या

ष्ठन्ति। एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सम-
मेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति॥१॥

विभाग लोक में देखा गया है, इसीलिये नाम का उत्पादन कारण वाक् को कहा गया है। यह वाक् ही नामविशेष का 'ब्रह्म' यानी आत्मा है, क्योंकि यही समस्त नामों को धारण पोषण करती है॥१॥

वृक्षबीजवत्सर्वमेतत्त्रयम्। किं तत्त्रयमित्युच्यते। **नाम रूपं कर्म** चेत्यनात्मैव, नाऽऽत्मा, "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"। तस्मादस्माद्विरज्येतेत्येवमर्थस्त्रयं वा इत्याद्यारम्भः। न ह्यस्मादनात्मनोऽव्यावृत्तचित्तस्याऽऽत्मानमेव लोकमहं ब्रह्मास्मीत्युपासितुं बुद्धिः प्रवर्तते। बाह्यप्रत्यगात्मप्रवृत्त्योर्विरोधात्। तथा च काठके—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"॥ इत्यादि

कथं पुनरस्य व्याकृताव्याकृतस्य क्रियाकारकफलात्मनः संसारस्य नामरूप-कर्मात्मकतैव न पुनरात्मत्वमित्येतत्संभावयितुं शक्यत इति? अत्रोच्यते—**तेषां नाम्नां** यथोपन्यस्तानां **वागिति** शब्दसामान्यमुच्यते। यः कश्च शब्दो वागेव सेत्युक्तत्वाद्वागित्येतस्य शब्दस्य योऽर्थः शब्दसामान्यमात्र**मेतदेषां** नामविशेषाणा-**मुक्थं** कारणमुपादानं सैन्धवलवणकणानामिव सैन्धवाचलस्तदाहा**तो** ह्यस्मान्ना-मसामान्या**त्सर्वाणि नामानि** यज्ञदत्तो देवदत्त इत्येवमादिप्रविभागा**न्युत्तिष्ठ-न्त्यु**त्पद्यन्ते प्रविभज्यन्ते लवणाचलादिव लवणकणाः। कार्यं च कारणेना-व्यतिरिक्तम्। तथा विशेषाणां च सामान्येऽन्तर्भावात्।

कथं सामान्यविशेषभाव इति। **एतच्छब्दसामान्यमेषां** नामविशेषाणां **साम**समत्वात्साम सामान्यमित्यर्थः। **एतद्धि** यस्मा**त्सर्वैर्नामभि**रात्मविशेषैः **समम्**। किंचाऽऽत्मलाभाविशेषाच्च नामविशेषाणाम्। यस्य च यस्मादात्मलाभो भवति स तेनाप्रविभक्तो दृष्टो यथा घटादीनां मृदा। कथं नामविशेषाणामात्म-

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳯ सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति॥२॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳯ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः

अब शुक्लनीलादि रूपों का सामान्य चक्षु है। यह उपादान कारण है। इसी चक्षु से समस्त रूप उत्पन्न होते हैं। यह चक्षु ही उन रूपों का साम है क्योंकि यह समस्त रूपों का प्रकाशक होने से उनमें सम है। यह चक्षु ही इन नीलादि रूपों का आत्मा है क्योंकि यही समस्त रूपों को धारण करता है॥२॥

तथा चलन, दर्शन, मननादि सम्पूर्ण कर्मों का सामान्य शरीर है। यही उप क्रियाओं का उपादान कारण है, इस शरीर से ही सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह शरीर इसका साम

लाभो वाच इत्युच्यते। यत **एतदेषां** वाक्शब्दवाच्यं वस्तु **ब्रह्माऽऽत्मा**। ततो ह्यात्मलाभो नाम्नां शब्दव्यतिरिक्तस्वरूपानुपपत्तेः। तत्प्रतिपादयत्येतच्छब्दसामान्यं हि यस्माच्छब्दविशेषान्सर्वाणि नामानि बिभर्ति धारयति स्वरूपप्रदानेन। एवं कार्यकारणत्वोपपत्तेः सामान्यविशेषोपपत्तेरात्मप्रदानोपपत्तेश्च नामविशेषाणां शब्दमात्रता सिद्धा। एवमुत्तरयोरपि सर्वं योज्यं यथोक्तम्॥१॥

अथेदानीं रूपाणां सितासितप्रभृतीनां **चक्षुरिति** चक्षुर्विषयसामान्यं चक्षुःशब्दाभिधेयं रूपसामान्यं प्रकाश्यमात्रमभिधीयते। **अतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति**॥२॥

अथेदानीं सर्वकर्मविशेषाणां मननदर्शनात्मकानां चलनात्मकानां च क्रिया-

मावली वारकरी सम्प्रदाय वाले ज्ञानेश्वर को कहते हैं।
रामकृष्ण परमहंस माँ कहा! वेद ब्रह्म कहा उसी शक्ति को!

सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदे-
तत्त्रयꣳ सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं
तदेतदमृतꣳ सत्त्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे
सत्त्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

इति प्रथमाध्यायस्योक्थनामषष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥
इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥
बृहदारण्यकक्रमेण तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

है क्योंकि यह समस्त कर्मों में समान होने से सम है। यह शरीर उन कर्मों का आत्मा है क्योंकि यही समस्त कर्मों को धारण करता है। वह यह नाम, रूप और कर्म तीन होते हुए भी संघातरूप से एक आत्मा (शरीर) है और यह कार्यकरणसंघातरूप आत्मा एक होते हुए तीन हैं। वह यह अमृत शरीरावस्थित कार्यात्मक नाम, रूप सत्य से अच्छादित है। यहाँ पर प्राण ही अमृत है और नाम रूप सत्य है, इनसे यह अविनाशी प्राण अप्रकाशित है। (यहाँ तक अविद्या के विषय संसार का स्वरूप दिखलाया गया। अब विद्या के विषय आत्मा को कहेंगे)॥३॥

॥इति षष्ठं ब्राह्मणम्॥

सामान्यमात्रेऽन्तर्भाव उच्यते। कथं? सर्वेषां कर्मविशेषाणामात्मा शरीरं सामान्य-मात्माऽऽत्मनः कर्मेत्युच्यते। आत्मना हि शरीरेण कर्म करोतीत्युक्तम्। शरीरे च सर्वं कर्माभिव्यज्यते। अतस्तात्स्थ्यात्तच्छब्दं कर्म कर्मसामान्यमात्रं सर्वेषामुक्थमित्यादि पूर्ववत्।

तदेतद्यथोक्तं नाम रूपं कर्म त्रयमितरेतराश्रयमितरेतराभिव्यक्तिकारण-मितरेतरप्रलयं संहतं त्रिदण्डविष्टम्भवत्सदेकम्। केनाऽऽत्मनैकत्वमित्युच्यते। अय-

मात्माऽयं पिण्डः कार्यकरणात्मसंघातस्तथाऽन्नत्रये व्याख्यात एतन्मयो वा अयमात्मे-त्यादिना। एतावद्धीदं सर्वं व्याकृतमव्याकृतं च यदुत नाम रूपं कर्मेत्यात्मा उ एकोऽयं कार्यकरणसंघातः सन्नध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन व्यवस्थितमेतदेव त्रयं नाम रूपं कर्मेति।

सत् त्येन

तदेतद्वक्ष्यमाणम्। अमृतं सत्त्येन च्छन्नमित्येतस्य वाक्यस्यार्थमाह— **प्राणो वा अमृतं** करणात्मकोऽन्तरुपष्टम्भकः आत्मभूतोऽमृतोऽविनाशी। **नामरूपे सत्त्यं** कार्यात्मके शरीरावस्थे, क्रियात्मकस्तु प्राणस्तयोरुपष्टम्भको बाह्याभ्यां शरीरात्मकाभ्यामुपजनापायधर्मिभ्यां मर्त्याभ्यां **छन्नो**ऽप्रकाशीकृतः। एतदेव संसार-सतत्त्वमविद्याविषयं प्रदर्शितम्। अत ऊर्ध्वं विद्याविषयः आत्माऽधिगन्तव्यः इति चतुर्थः आरभ्यते॥३॥

इति सप्तमाह्निकम्॥७॥

❀❀❀

इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्यायस्योक्थनामषष्ठं ब्राह्मणम्॥६॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमोऽध्यायः॥१॥

उपक्रम उपसंहार = सामान्य (a) ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणि 2-1-1
विशेष (b) व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि 2-2-15
उपसंहार सामान्य (a) य एषो पुरुषो विज्ञानमयः 2-1-16.
उपसंहार विशेष (b) तदेतद् ब्रह्मापूर्वं अनपरं 2-5-19.
अथात आदेशो नेति नेति. 2-3-6.
अभ्यास :- सत्यस्य सत्यं 2-1-20. अयं आत्मा इदं अमृतं इदं ब्रह्म इदं सर्वं 2-5-1 to 15.
विज्ञातारमरे केन विजानीयात् 2-4-14
अपूर्वता : यत्र वा अस्य सर्वं आत्मैवाभूत् तत् केन कं जिघ्रेत् 2-4-14
फल :- ब्रह्म तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनो ब्रह्म वेद. 2-4-6.
अर्थवाद :- स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा
उपपत्ति :- व्युच्चरन्ति. 2-1-20
2-4-9 to 12

ॐ

अथ मधुकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः।

। अजातशत्रुनामप्रथमं ब्राह्मणम्।

आत्मेत्येवोपासीत तदन्वेषणे च सर्वमन्विष्टं स्यात्तदेव चाऽऽत्मतत्त्वं सर्वस्मात्प्रेयस्त्वादन्वेष्टव्यम्। आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीत्यात्मतत्त्वमेकं विद्याविषयः। यस्तु भेददृष्टिविषयः सोऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदेत्यविद्याविषयः।

''एकधैवानुद्रष्टव्यं'' ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' इत्येवमादिभिः प्रविभक्तौ विद्याविद्याविषयौ सर्वोपनिषत्सु। तत्र चाविद्याविषयः सर्व एव साध्यसाधनादिभेदविशेषविनियोगेन व्याख्यात आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः। स च व्याख्यातोऽविद्याविषयः सर्व एव द्विप्रकारः। अन्तःप्राण उपष्टम्भको गृहस्येव स्तम्भादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतः। बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशक उपजनापायधर्मकस्तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येव सत्यशब्दवाच्यो मर्त्यः। तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहतम्।

स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेष्वनेकधा विस्तृतः। प्राण एको देव इत्युच्यते। तस्यैव बाह्य पिण्ड एकः साधारणो विराड्वैश्वानर आत्मा पुरुषविधः प्रजापतिः को हिरण्यगर्भ इत्यादिभिः पिण्डप्रधानैः शब्दैराख्यायते सूर्यादिप्रविभक्तकरणः। एकं चानेकं च ब्रह्मैतावदेव नातः परमस्ति, प्रत्येकं च शरीरभेदेषु परिसमाप्तं चेतनावत्कर्तृ भोक्तृ चेत्यविद्याविषयमेवाऽऽत्मत्वेनोपगतो गार्ग्यो ब्राह्मणो वक्तोपस्थाप्यते। तद्विपरीतात्मदृगजातशत्रुः श्रोता।

एवं हि यतः। पूर्वपक्षसिद्धान्ताख्यायिकारूपेण समर्प्यमाणोऽर्थः श्रोतुश्चित्तस्य वशमेति। विपर्यये हि तर्कशास्त्रवत्केवलार्थानुगमवाक्यैः समर्प्यमाणो दुर्विज्ञेयः स्यादत्यन्तसूक्ष्मत्वाद्वस्तुनः। तथा च काठके— ''श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'' इत्यादिवाक्यैः सुसंस्कृतदेवबुद्धिगम्यत्वं सामान्यमात्रबुद्ध्यगम्यत्वं च सप्रपञ्चं दर्शितम्। ''आचार्यवान्पुरुषो वेद'' ''आचार्याद्धैव विद्या'' इति च च्छान्दोग्ये। ''उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'' इति च गीतासु। इहापि च

ॐ ॥ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचा-जातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥

किसी कालविशेष में गार्ग्यगोत्रीय गर्वीला बालाकि नामक बहुत बोलने वाला था। वह काशीराज अजातशत्रु के पास जाकर बोला, मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ? इस पर अजातशत्रु ने कहा— इस माङ्गलिक वचन के लिए मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ। लोग जनक-जनक ऐसा कह कर उसी के पास दौड़ जाते हैं (लोक में यह प्रसिद्ध है, जनक बड़ा दानी और बड़ा श्रोता है, ये दोनों बातें आपने अपने इस माङ्गलिक वचन से मुझे अत्यन्त सुलभ कर दी हैं। अतएव मैं आपको हजार गौएँ देता हूँ)॥१॥

शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादेनातिगह्वरत्वं महता संरम्भेण ब्रह्मणो वक्ष्यति। तस्माच्छ्लिष्ट एवाऽऽख्यायिकारूपेण पूर्वपक्षसिद्धान्तरूपमापाद्य वस्तुसमर्पणार्थ आरम्भः।

आचारविध्युपदेशार्थश्च। एवमाचारवतोर्वक्तृश्रोत्रोराख्यायिकानुगतोऽर्थोऽवगम्यते। केवलतर्कबुद्धिनिषेधार्था चाऽऽख्यायिका। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" "न तर्कशास्त्रदग्धाय" इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। श्रद्धा च ब्रह्मविज्ञाने परमं साधनमित्याख्यायिकार्थः। तथा हि गार्ग्याजातशत्र्वोरतीव श्रद्धालुता दृश्यत आख्यायिकायाम्। "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" इति च स्मृतिः।

तत्र पूर्वपक्षवाद्यविद्याविषयब्रह्मविद्दृप्तबालाकिर्दृप्तो गर्वितोऽसम्यग्ब्रह्मवित्त्वादेव बलाकाया अपत्यं बालाकिर्दृप्तश्चासौ बालाकिश्चेति **दृप्तबालाकिर्ह**शब्द ऐतिह्यार्थ आख्यायिकाया**मनूचानो**ऽनुवचनसमर्थो वक्ता वाग्मी, **गार्ग्यो** गोत्रत **आस** बभूव क्वचित्कालविशेषे। **स होवाचाजातशत्रु**मजातशत्रुनामानं **काश्यं** काशिराजमभिगम्य **ब्रह्म ते ब्रवाणीति** ब्रह्म ते तुभ्यं ब्रवाणि कथयानि। **स** एवमुक्तोऽ**जातशत्रुरुवाच— सहस्रं** गवां **दद्म एतस्यां वाचि** यां मां

(1) अजात शत्रु (2) शिशुनाप (3) मूर्तामूर्त (4) मैत्रेयी (5) मधु (6) मधु वंशब्राह्मण

(गार्ग्य द्वारा प्रतिपादित आदित्यादि में ब्रह्मरूपता का अजातशत्रु द्वारा खण्डन)

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति॥२॥

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो आदित्य में पुरुष है; मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। इस पर उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं; इस सम्बन्ध में बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो सबका अतिक्रमण करके स्थित है, यह समस्त भूतों का मस्तक है एवं दीप्तिमान् है। इसी प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सभी भूतों का अतिक्रमण करके स्थित हो समस्त प्राणियों का मस्तक और राजा हो जाता है (क्योंकि जैसे गुण वाले की उपासना की जाती है, वैसा ही फल मिलता है)॥२॥

प्रत्यवोचो "ब्रह्म ते ब्रवाणीति" तावन्मात्रमेव गोसहस्रप्रदाने निमित्तमित्यभिप्रायः। साक्षाद्ब्रह्मकथनमेव निमित्तं कस्मान्नापेक्ष्यते सहस्रदाने ब्रह्म ते ब्रवाणीति। इयमेव तु वाङ्निमित्तमपेक्ष्यत इत्युच्यते। यतः श्रुतिरेव राज्ञोऽभिप्रायमाह– **जनको** दाता **जनकः** श्रोतेति चैतस्मिन्वाक्यद्वये पदद्वयमभ्यस्ते जनको जनक **इति**। **वै**शब्दः प्रसिद्धावद्योतनार्थः। जनको दित्सुर्जनकः शुश्रूषुरिति ब्रह्म शुश्रूषवो विवक्षवः प्रतिजिघृक्षवश्च जना **धावन्त्यभि**गच्छन्ति। तस्मात्तत्सर्वं मय्यपि संभावितवान**सीति**॥१॥

एवं राजानं शुश्रूषुमभिमुखीभूतं **स होवाच गार्ग्यः**। **य एवासावादित्ये** चक्षुषि चैकोऽभिमानी चक्षुर्द्वारेणेह हृदि प्रविष्टोऽहं भोक्ता कर्ता चेत्यवस्थितः। **एतमेवाहं ब्रह्म** पश्याम्यस्मिन्कार्यकरणसंघाते **उपासे**। तस्मात्तमहं पुरुषं ब्रह्म तुभ्यं ब्रवीम्युपास्स्वेति। **स** एवमुक्तः **प्रत्युवाचाजातशत्रुर्मा मा**

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥३॥

शुक्लवस्त्र धारी.

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो चन्द्रमा में पुरुष स्थित है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं; इसके सम्बन्ध में बात न करो (इस ब्रह्म को मैं भी जानता हूँ)। यह तो महान् है, शुक्ल वस्त्रधारी सोम राजा है। मैं इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिए प्रतिदिन सोमसुत और प्रसुत रूप होकर उपस्थित होता है अर्थात् प्रकृति-विकृति दोनों प्रकार के यज्ञानुष्ठान में उसे सामर्थ्य प्राप्त होता है तथा उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥३॥

मा मेति हस्तेन विनिवारयन्। **एतस्मिन्ब्रह्मणि** विज्ञेये मा **संवदिष्ठाः**। मा मेत्याबाधनार्थं द्विर्वचनम्। एवं समाने विज्ञानविषय आवयोरस्मानविज्ञानवत इव दर्शयता बाधिताः स्यामाऽतो मा **संवदिष्ठा** मा संवादं कार्षीरस्मिन्ब्रह्मणि। अन्यच्चेज्जानासि तद्ब्रह्म वक्तुमर्हसि न तु यन्मया ज्ञायत एव। अथ चेन्मन्यसे जानीषे त्वं ब्रह्ममात्रं न तु तद्विशेषणोपासनफलानीति१ तन्न मन्तव्यं, यतः सर्वमेतदहं जाने यद्ब्रवीषि। कथम्? **अतिष्ठा** अतीत्य भूतानि तिष्ठतीत्यतिष्ठाः। **सर्वेषां च भूतानां मूर्धा** शिरो, **राजेति वै** राजा दीप्तिगुणोपेतत्वादेतैर्विशेषणैर्विशिष्टमेतद्ब्रह्मास्मिन्कार्यकरणसंघाते कर्तृ भोक्तृ चे**त्यहमेतमुपास इति** फलमप्येवं विशिष्टोपासकस्य। **स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति**। यथागुणोपासनमेव हि फलम्। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ॥२॥

संवादेनाऽऽदित्यब्रह्मणि प्रत्याख्यातेऽजातशत्रुणा चन्द्रमसि ब्रह्मान्तरं प्रतिपेदे

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥४॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो विद्युत में पुरुष है, मैं उसकी ही ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो (इसे मैं जानता हूँ) और इसकी तो मैं तेजस्वीरूप से उपासना करता हूँ। जो भी कोई पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है; वह स्वयं तेजस्वी होता है, उसकी प्रजा भी तेजस्वी होती है (विद्युत् के बाहुल्य से इस उपासक का प्रजाबाहुल्यरूप भी सम्भव है)॥४॥

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो आकाश में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना

गार्ग्यः। **य एवासौ चन्द्रे** मनसि चैकः **पुरुषो** भोक्ता कर्ता चेति पूर्ववद्विशेषणम्। बृहन्महान्पाण्डरं शुक्लं वासो यस्य सोऽयं **पाण्डरवासा** अप्शरीरत्वात्प्राणस्य। **सोमो राजा** चन्द्रः। यश्चान्नभूतोऽभिषूयते लतात्मको यज्ञे तमेकीकृत्यै**तमेवाहं ब्रह्मोपासे** यथोक्तगुणं य **उपास्ते** तस्या**हरहः सुतः** सोमोऽभिषुतो **भवति** यज्ञे प्रसुतश्च विकारेष्व**न्नं चास्य न क्षीयते**ऽन्नात्मकोपासकस्य॥३॥

तथा **विद्युति** त्वचि हृदये चैका देवता तेजस्वीति विशेषणं तस्यास्तत्फलं **तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति**। विद्युतां बहुत्वस्याङ्गीकरणादात्मनि प्रजायां च फलबाहुल्यम्॥४॥

तथा**ऽऽकाशे** हृदाकाशे चैका देवता **पूर्णमप्रवर्ति** चेति विशेषणद्वयं

ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते॥५॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी॥६॥

करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो (मैं जानता हूँ) और इसकी उपासना पूर्ण तथा अप्रवर्ति रूप से करता हूँ। जो कोई इस आकाश की इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण होता है तथा इस लोक में उसकी प्रजासंतति का विच्छेद नहीं होता॥५॥

उन गार्ग्य ने कहा— यह जो वायु में पुरुष है, ब्रह्मरूप से मैं इसी की उपासना करता हूँ। उस आजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो, इसे मैं जानता हूँ। इसकी तो मैं परमेश्वर, वैकुण्ठ और अपराजिता सेनारूप से उपासना करता हूँ (मरुतों का एकरूप होना प्रसिद्ध है)। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है; तो वह जयनशील, दूसरे से कभी न हारने वाला और शत्रुओं का विजेता होता है॥६॥

पूर्णत्वविशेषणफलमिदं **पूर्यते प्रजया पशुभि**रप्रवर्तिविशेषणफलं **नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तत** इति प्रजा संतानाविच्छित्तिः॥५॥

तथा **वायौ**, प्राणे, हृदि, चैका देवता तस्या विशेषण**मिन्द्रः** परमेश्वरो **वैकुण्ठो**ऽप्रसह्यो न परैर्जितपूर्वा**ऽपराजिता सेना** मरुतां गणत्वप्रसिद्धेरुपासन-

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति॥७॥

दूसरों को सहन करने वाला

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो अग्नि में पुरुष है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में चर्चा न करो। (इसे मैं जानता हूँ और) इसकी मैं विषासहि (दूसरों को सहन करने वाले) रूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है; निःसन्देह वह स्वयं विषासहि होता है और उसकी प्रजा भी विषासहि होती है॥७॥

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो जल में पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी

फलमपि। **जिष्णुर्ह** जयनशीलोऽ**पराजिष्णुर्न** च परैर्जितस्वभावो भवति। **अन्यतस्त्यजाय्यन्यतस्त्यानां** सपत्नानां जयनशीलो भवति॥६॥

अग्नौ, वाचि, हृदि, चैका देवता, तस्या विशेषणं **विषासहिर्मर्षयिता** परेषाम्। अग्निबाहुल्यात्फलबाहुल्यं पूर्ववत्॥७॥

अप्सु रेतसि हृदि चैका देवता, तस्या विशेषणं प्रतिरूपोऽनुरूपः श्रुति-

"पूर्व जन्म कृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते" निवारण - यज्ञ, दान, होम, औषधसेवन

एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥९॥

मैं (श्रुति, स्मृति के अनुकूल) प्रतिरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है; उसके पास प्रतिरूप ही आता है, उसके विपरीत नहीं आता और उससे प्रतिरूप संतति उत्पन्न होती है ॥८॥

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो दर्पण में पुरुष है; मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इसकी चर्चा न करो, इसकी तो मैं दीप्तिशालीरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है; निःसन्देह वह दीप्तिस्वभाव वाला हो जाता है और उसकी प्रजा भी दीप्तिशाली होती है। तथा जिनसे उसका समागम होता है; उन सभी से बढ़कर दीप्तिमान् होकर चमकता है ॥९॥

स्मृत्यप्रतिकूल इत्यर्थः। फलं **प्रतिरूपं** श्रुतिस्मृतिशासनानुरूप**मेवैनमुपगच्छति** प्राप्नोति न विपरीतमन्यच्चास्मात्तथाविध एवोपजायते ॥८॥

आदर्शे प्रसादस्वभावे चान्यत्र खड्गादौ हार्दे च सत्त्वशुद्धिस्वाभाव्ये चैका देवता, तस्या विशेषणं **रोचिष्णुः** दीप्तिस्वभावः फलं च तदेव रोचनाधारबाहुल्यात्फलबाहुल्यम् ॥९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येत-
मेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मि-
न्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य प्राण.
एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा
कालात्प्राणो जहाति॥१०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मो-
पास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा

उस गार्ग्य ने कहा— जाते हुए वायु के पीछे जो यह शब्द होता है; इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इसके विषय में बात न करो। इसकी मैं प्राणरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है; वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है और नियत समय से पूर्व इसे प्राण नहीं छोड़ता॥१०॥

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो दिशाओं में पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी तो मैं द्वितीय और अनपगम (पृथक् न होने वाले) रूप से उपासना करता हूँ। जो कोई

यन्तं गच्छन्तं **य एवायं शब्दः पश्चात्**पृष्ठतो**ऽनूदेति**अध्यात्मं च जीवनहेतुः प्राणस्तमेकीकृत्याऽऽह**असुः** प्राणो जीवनहेतुरिति गुणस्तस्य फलं **सर्वमायुरस्मिँल्लोक एतीति**। यथोपात्तं कर्मणाऽऽयुः कर्मफलपरिच्छिन्न-**कालात्पुरा** पूर्वं रोगादिभिः पीड्यमानमप्येनं **प्राणो न जहाति**॥१०॥

दिक्षु कर्णयोर्हृदि चैका देवताऽश्विनौ देवाववियुक्तस्वभावौ गुणस्तस्य

पृथक् न होने वाला अवियुक्तता अन्योन्यं

द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एत-
मेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥११॥

गणाविच्छेदो द्वितीयवत्त्वं

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, बुद्धौ

इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह द्वितीयवान् होता है और उससे गण का विच्छेद नहीं होता ॥११॥

उस गार्ग्य ने कहा— यह जो छाया में पुरुष है, इसकी ही मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, इस सम्बन्ध में बात न करो। इसकी मैं मृत्युरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है और नियत समय से पहले इसके पास मृत्यु नहीं आता ॥१२॥

उस गार्ग्य ने कहा - यह जो बुद्धि में पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रु ने कहा— नहीं-नहीं, उसके विषय में बात न करो। इसकी

द्वितीयवत्त्वमनपगत्वमवियुक्तता चान्योन्यं दिशामश्विनोश्चैवंधर्मित्वात्तदेव च फलमुपासकस्य गणाविच्छेदो द्वितीयवत्त्वं च ॥११॥

छायायां बाह्ये तमस्यध्यात्मे चाऽऽवरणात्मकेऽज्ञाने हृदि चैका देवता तस्या विशेषणं मृत्युः फलं सर्वं पूर्ववन्मृत्योरनागमनेन रोगादिपीडाभावो विशेषः ॥१२॥

आत्मनि, प्रजापतौ, बुद्धौ, हृदि, चैका देवता, तस्या विशेषण**मात्म-**

ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैत-स्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्या-त्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥१३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति॥१४॥

तो मैं आत्मन्वीरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस रूप से उपासना करता है; वह निःसन्देह आत्मवान् होता है और उसकी प्रजा की संतति भी बुद्धिमती होती है। इसके बाद वह गार्ग्य चुप हो गया (क्योंकि ब्रह्म का इससे अधिक ज्ञान उसे था नहीं)। अतः वह नतमस्तक हो गया॥१३॥

उस अजातशत्रु ने कहा— क्या इतना ही तू जानता है? गार्ग्य ने कहा— हाँ, मुझे इतना ही ब्रह्म विदित है। अजातशत्रु ने कहा— इतना जानने से तो ब्रह्म विदित नहीं होता। तब उस गार्ग्य ने कहा— मैं आपकी शरणापन्न हूँ, मुझे आप ब्रह्म का उपदेश करें॥१४॥

न्व्यात्मवानिति विशेषणं फलमात्मन्वी ह भवत्यात्मवान्भवति। आत्मन्विनी हास्य प्रजा भवति बुद्धिबहुलत्वात्प्रजायां संपादनम्। स्वयं परिज्ञातत्वेनैवं क्रमेण प्रत्या-ख्यातेषु ब्रह्मसु **स गार्ग्यः** क्षीणब्रह्मविज्ञानोऽप्रतिभासमानोत्तरस्तूष्णीमवा-क्शिरा **आस**॥१३॥

तं तथाभूतमालक्ष्य गार्ग्यं **स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू** इति। किमेता-वद्ब्रह्म निर्ज्ञातमाहोस्विदधिकमप्यस्तीतीतर आह**ैतावद्धीति**। **नैतावता** विदितेन ब्रह्म **विदितं भवतीत्या**हाजातशत्रुः किमर्थं गर्वितोऽसि ब्रह्म ते ब्रवाणीति।

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम

उस अजातशत्रु ने कहा— यद्यपि यह विपरीत बात है कि क्षत्रिय के प्रति ब्राह्मण इस उद्देश्य से जावे कि यह क्षत्रिय मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, (इस प्रतिलोमविधि का शास्त्रों में निषेध किया गया है) तो भी मैं तुझे उस ब्रह्म का बोध कराऊँगा ही। उसके बाद वह अजातशत्रु उस गार्ग्य ब्राह्मण के हाथों को पकड़कर उठ खड़ा हुआ और वे दोनों एक सोये हुये पुरुष के पास आये। वहाँ पर हे बृहन्! हे पाण्डरवास! हे सोम

किमेतावद्विदितं विदितमेव न भवतीत्युच्यते? न, फलवद्विज्ञानश्रवणात्। न चार्थवादत्वमेव वाक्यानामवगन्तुं शक्यम्। अपूर्वविधानपराणि हि वाक्यानि प्रत्युपासनोपदेशं लक्ष्यन्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानामित्यादीनि। तदनुरूपाणि च फलानि सर्वत्र श्रूयन्ते विभक्तानि। अर्थवादत्व एतदसमञ्जसम्। कथं तर्हि नैतावता विदितं भवतीति। नैष दोषोऽधिकृतापेक्षत्वात्। ब्रह्मोपदेशार्थं हि शुश्रूषवेऽजातशत्रवेऽमुख्यब्रह्मविद्गार्ग्यः प्रवृत्तः स युक्त एव मुख्यब्रह्मविदाऽजातशत्रुणाऽमुख्यब्रह्मविद्गार्ग्यो वक्तुं यन्मुख्यं ब्रह्म वक्तुं प्रवृत्तस्त्वं, तन्न जानीषे इति। यद्यमुख्यब्रह्मविज्ञानमपि प्रत्याख्यायेत, तदैतावतेति न ब्रूयान्न किंचिज्ज्ञातं त्वयेत्येवं ब्रूयात्तस्माद्भवन्त्येतावन्त्यविद्याविषये ब्रह्मणि। एतावद्विज्ञानद्वारत्वाच्च परब्रह्मविज्ञानस्य युक्तमेव वक्तुं नैतावता विदितं भवतीति। अविद्याविषये विज्ञेयत्वं नामरूपकर्मात्मकत्वं चैषां तृतीयेऽध्याये प्रदर्शितम्। तस्मान्नैतावता विदितं भवतीति ब्रुवताऽधिकं ब्रह्म ज्ञातव्यमस्तीति दर्शितं भवति। तच्चानुपसन्नाय न वक्तव्यमित्याचारविधिज्ञो **गार्ग्यः** स्वयमेवाऽऽहोप **त्वा यानीत्युपगच्छानीति** त्वां यथाऽन्यः शिष्यो गुरुम्॥१४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं विपरीतं **चैतत्किं तद्यद्ब्राह्मण** उत्तमवर्ण आचार्यत्वेऽधिकृतः सन्**क्षत्रियम**नाचार्यस्वभाव**मुपेयादु**पगच्छेच्छिष्य-

राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽपेषं, बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥१५॥

राजन्! इन नामों से अजातशत्रु ने उस सुषुप्त पुरुष को पुकारा, किन्तु वह सोया हुआ पुरुष न उठा। तत्पश्चात् हाथ से दबा-दबा कर उस सुषुप्त पुरुष को जगाया; इससे वह उठ बैठा ॥१५॥

वृत्त्या **ब्रह्म मे वक्ष्यतीत्ये**तदाचारविधिशास्त्रेषु निषिद्धम्। तस्मात्तिष्ठ त्वमाचार्य एव सन्। **विज्ञपयिष्याम्येव** त्वामहम्। यस्मिन्विदिते ब्रह्म विदितं भवति यत्तन्मुख्यं ब्रह्म वेद्यम्। **तं** गार्ग्यं सलज्जमालक्ष्य विश्रम्भजननाय **पाणौ** हस्ते **आदाय** गृहीत्वो**त्तस्थावु**त्थितवान्। **तौ ह** गार्ग्याजातशत्रू पुरुषं सुप्तं राजगृहप्रदेशे क्वचिदा**जग्मतु**रागतौ। **तं** च पुरुषं सुप्तं प्राप्य**ैतैर्नामभिर्बृहन्पाण्डरवासः, सोम, राजन्नि**त्येतैरा**मन्त्रयांचक्रे**। एवमामन्त्र्यमाणोऽपि **स** सुप्तो **नोत्तस्थौ। तम**प्रतिबुध्यमानं **पाणिनाऽऽपेषमा**पिष्याऽऽपिष्य **बोधयांचकार** प्रतिबोधितवान्। तेन **स होत्तस्थौ**। तस्माद्यो गार्ग्येणाभिप्रेतो नासावस्मिञ्छरीरे कर्ता भोक्ता ब्रह्मेति।

कथं पुनरिदमवगम्यते? सुप्तपुरुषगमनतत्संबोधनानुत्थानैर्गार्ग्याभिमतस्य ब्रह्मणोऽब्रह्मत्वं ज्ञापितमिति। जागरितकाले यो गार्ग्याभिप्रेतः पुरुषः कर्ता भोक्ता ब्रह्म संनिहितः करणेषु यथा, तथाऽजातशत्र्वभिप्रेतोऽपि तत्स्वामी भृत्येष्विव राजा संनिहित एव। किं तु भृत्यस्वामिनोर्गार्ग्याजातशत्र्वभिप्रेतयोर्यद्विवेकावधारणकारणं तत्संकीर्णत्वादनवधारितविशेषम्। यद्द्रष्टृत्वमेव भोक्तुर्न दृश्यत्वं यच्चाभोक्तुर्दृश्यत्वमेव न तु द्रष्टृत्वं तच्चोभयमिह संकीर्णत्वाद्विविच्य दर्शयितुमशक्यमिति सुप्तपुरुषगमनम्।

ननु सुप्तेऽपि पुरुषे विशिष्टैर्नामभिरामन्त्रितो भोक्तैव प्रतिपत्स्यते नाभोक्तेति नैव निर्णयः स्यादिति। न, निर्धारितविशेषत्वाद्गार्ग्याभिप्रेतस्य। यो हि सत्येन च्छन्नः

प्राण आत्माऽमृतो वागादिष्वनस्तमितो निम्लोचत्सु यस्याऽऽपः शरीरं पाण्डरवासा यश्चासपत्नत्वाद्बृहन्यश्च सोमो राजा षोडशकलः, स स्वव्यापारारूढो यथानिर्ज्ञात एवानस्तमितस्वभाव आस्ते। न चान्यस्य कस्यचिद्व्यापारस्तस्मिन्काले गार्ग्येणाभिप्रेयते तद्विरोधिनः। तस्मात्स्वनामभिरामन्त्रितेन प्रतिबोद्धव्यं, न च प्रत्यबुध्यत। तस्मात्पारिशेष्याद्गार्ग्याभिप्रेतस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मणः।

भोक्तृस्वभावश्चेद्भुञ्जीतैव स्वं विषयं प्राप्तम्। न हि दग्धृस्वभावः प्रकाशयितृस्वभावः सन्वह्निस्तृणोलपादि दाह्यं स्वविषयं प्राप्तं न दहति प्रकाश्यं वा न प्रकाशयति। न चेद्दहति प्रकाशयति वा प्राप्तं स्वं विषयं नासौ वह्निर्दग्धा प्रकाशयिता वेति निश्चीयते। तथाऽसौ प्राप्तशब्दादिविषयोपलब्धृस्वभावश्चेद्गार्ग्याभिप्रेतः प्राणो बृहन्पाण्डरवास इत्येवमादिशब्दं स्वं विषयमुपलभते। यथा प्राप्तं तृणोलपादि वह्निर्दहेत्प्रकाशयेच्चाव्यभिचारेण तद्वत्। तस्मात्प्राप्तानां शब्दादीनामप्रतिबोधादभोक्तृस्वभाव इति निश्चीयते। न हि यस्य यः स्वभावो निश्चितः स तं व्यभिचरति कदाचिदपि। अतः सिद्धं प्राणस्याभोक्तृत्वम्।

संबोधनार्थनामविशेषेण संबन्धाग्रहणादप्रतिबोध इति चेत्। स्यादेतत्। यथा बहुष्वासीनेषु स्वनामविशेषेण संबन्धाग्रहणान्मामयं संबोधयतीति शृण्वन्नपि संबोध्यमानो विशेषतो न प्रतिपद्यते, तथेमानि बृहन्नित्येवमादीनि मम नामानीत्यगृहीतसंबन्धत्वात्प्राणो न गृह्णाति संबोधनार्थं शब्दं न त्वविज्ञातृत्वादेवेति चेत्? न। देवताभ्युपगमेऽग्रहणानुपपत्तेः। यस्य हि चन्द्राद्यभिमानिनी देवताऽध्यात्मं प्राणो भोक्ताऽभ्युपगम्यते, तस्य तथा संव्यवहाराय विशेषनाम्ना संबन्धोऽवश्यं ग्रहीतव्योऽन्यथाऽऽह्वानादिविषये संव्यवहारोऽनुपपन्नः स्यात्।

व्यतिरिक्तपक्षेऽप्यप्रतिपत्तेरयुक्तमिति चेत्। यस्य च प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता तस्यापि बृहन्नित्यादिनामभिः संबोधने बृहत्त्वादिनाम्नां तदा तद्विषयत्वात्प्रतिपत्तिर्युक्ता।

न च कदाचिदपि बृहत्त्वादिशब्दैः संबोधितः प्रतिपद्यमानो दृश्यते। तस्मादकारणमभोक्तृत्वे संबोधनाप्रतिपत्तिरिति चेत्। न। तद्वतस्तावन्मात्राभिमानानुपपत्तेः। यस्य प्राणव्यतिरिक्तो भोक्ता स प्राणादिकरणवान्प्राणी, तस्य न प्राणदेवतामात्रेऽभिमानो यथा हस्ते। तस्मात्प्राणनामसंबोधने कृत्स्नाभिमानिनो युक्तैवाप्रतिपत्तिः। न तु प्राणस्यासाधारणनामसंयोगे देवतात्मत्वानभिमानाच्चाऽऽत्मनः।

स्वनामप्रयोगेऽप्यप्रतिपत्तिदर्शनादयुक्तमिति चेत्। सुषुप्तस्य यल्लौकिकं देवदत्तादि नाम, तेनापि संबोध्यमानः कदाचिन्न प्रतिपद्यते सुषुप्तस्तथा भोक्ताऽपि सन्प्राणो न प्रतिपद्यत इति चेत्। न। आत्मप्राणयोः सुप्तासुप्तत्वविशेषोपपत्तेः। सुषुप्तत्वात्प्राणग्रस्ततयोपरतकरण आत्मा स्वनाम प्रयुज्यमानमपि न प्रतिपद्यते। न तु तदसुप्तस्य प्राणस्य भोक्तृत्वे उपरतकरणत्वं संबोधनाग्रहणं वा युक्तम्।

अप्रसिद्धनामभिः संबोधनमयुक्तमिति चेत्। सन्ति हि प्राणविषयाणि प्रसिद्धानि प्राणादिनामानि। तान्यपोह्याप्रसिद्धैर्बृहत्त्वादिनामभिः संबोधनमयुक्तं, लौकिकन्यायापोहात्। तस्माद्भोक्तुरेव सतः प्राणस्याप्रतिपत्तिरिति चेन्न। देवताप्रत्याख्यानार्थत्वात्। केवलसंबोधनमात्राप्रतिपत्त्यैवासुप्तस्याऽऽध्यात्मिकस्य प्राणस्याभोक्तृत्वे सिद्धे यच्चन्द्रदेवताविषयैर्नामभिः संबोधनं तच्चन्द्रदेवता प्राणोऽस्मिञ्छरीरे भोक्तेति गार्ग्यस्य विशेषप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम्। न हि तल्लौकिकनाम्ना संबोधने शक्यं कर्तुम्। प्राणप्रत्याख्यानेनैव प्राणग्रस्तत्वात्करणान्तराणां प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्भोक्तृत्वाशङ्कानुपपत्तिः। देवतान्तराभावाच्च।

नन्वतिष्ठा इत्याद्यात्मन्वीत्यन्तेन ग्रन्थेन गुणवद्देवताभेदस्य दर्शितत्वादिति चेन्न। तस्य प्राण एवैकत्वाभ्युपगमात्सर्वश्रुतिष्वरनाभिनिदर्शनेन। "सत्येन च्छन्नः" "प्राणो वा अमृतम्" इति च प्राणबाह्यस्यान्यस्यानभ्युपगमाद्भोक्तुः। "एष उ ह्येव सर्वे देवाः" "कतम एको देव" इति "प्राणः" इति च। सर्वदेवानां प्राण एवैकत्वोपपादनाच्च।

तथा करणभेदेष्वनाशङ्का, देहभेदेष्विव स्मृतिज्ञानेच्छादिप्रतिसंधानानुपपत्तेः। न ह्यन्यदृष्टमन्यः स्मरति जानातीच्छति प्रतिसंदधाति वा। तस्मान्न करणभेदविषये भोक्तृत्वाशङ्का विज्ञानमात्रविषया वा कदाचिदप्युपपद्यते।

ननु संघात एवास्तु भोक्ता किं व्यतिरिक्तकल्पनयेति। न, आपेषणे विशेषदर्शनात्। यदि हि प्राणशरीरसंघातमात्रो भोक्ता स्यात्संघातमात्राविशेषात्तदाऽऽपिष्टस्यानापिष्टस्य च प्रतिबोध विशेषो न स्यात्। संघातव्यतिरिक्ते तु पुनर्भोक्तरि संघातसंबन्धविशेषानेकत्वात्पेषणापेषणकृतवेदनायाः सुखदुःखमोहमध्यमाधमोत्तमकर्मफलभेदोपपत्तेश्च विशेषो युक्तो, न तु संघातमात्रे संबन्धकर्मफलभेदानुपपत्तेर्विशेषो युक्तः।

तथा शब्दादिपटुमान्द्यादिकृतश्च। अस्ति चायं विशेषो यस्मात्स्पर्शमात्रेणाप्रतिबुध्यमानं पुरुषं सुप्तं पाणिनाऽऽपेषमापिष्याऽऽपिष्य बोधयांचकाराजातशत्रुः। तस्माद्य आपेषणेन प्रतिबुबुधे ज्वलन्निव स्फुरन्निव कुतश्चिदागत इव पिण्डं च पूर्वविपरीतं बोधचेष्टाकारविशेषादिमत्त्वेनाऽऽपादयन्सोऽन्योऽस्ति गार्ग्यभिमतब्रह्मभ्यो व्यतिरिक्त इति सिद्धम्।

संहतत्वाच्च पारार्थ्योपपत्तिः प्राणस्य। गृहस्य स्तम्भादिवच्छरीरस्यान्तरुपष्टम्भकः प्राणः शरीरादिभिः संहत इत्यवोचाम। अरनेमिवच्च। नाभिस्थानीये एतस्मिन्सर्वमिति च। तस्माद्गृहादिवत्स्वावयवसमुदायजातीयव्यतिरिक्तार्थं संहन्यते इत्येवमवगच्छामः।

स्तम्भकुड्यतृणकाष्ठादिगृहावयवानां स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्यधर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं दृष्ट्वा मन्यामहे तत्संघातस्य च तथा प्राणाद्यवयवानां तत्संघातस्य च स्वात्मजन्मोपचयापचयविनाशनामाकृतिकार्यधर्मनिरपेक्षलब्धसत्तादितद्विषयद्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रर्थत्वं भवितुमर्हतीति।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

(इस प्रकार देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करके गार्ग्य से) उस अजातशत्रु ने कहा— हाथ से दबाकर जगाने से पूर्व जब यह विज्ञानमय पुरुष सोया हुआ था, उस समय वह कहाँ था और यह कहाँ से आया? इस प्रश्न का उत्तर गार्ग्य न जान सका और न ही बतला सका॥१६॥

देवताचेतनावत्त्वे समत्वाद्गुणभावानुपगम इति चेत्। प्राणस्य विशिष्टैर्नामभिरामन्त्रणदर्शनाच्चेतनावत्त्वमभ्युपगतम्। चेतनावत्त्वे च पारार्थ्योपगमः समत्वादनुपपन्न इति चेन्न। निरुपाधिकस्य केवलस्य विजिज्ञापयिषितत्वात्। क्रियाकारकफलात्मकता ह्यात्मनो नामरूपोपाधिजनिताऽविद्याध्यारोपिता। तन्निमित्तो लोकस्य क्रियाकारकफलाभिमानलक्षणः संसारः, स निरुपाधिकात्मस्वरूपविद्यया निवर्तयितव्य इति तत्स्वरूपविजिज्ञापयिषयोपनिषदारम्भः। "ब्रह्म ते ब्रवाणि" "नैतावता विदितं भवति" इति चोपक्रम्य "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति चोपसंहारात्। न चातोऽन्यदन्तराले विवक्षितमुक्तं वाऽस्ति। तस्मादनवसरः समत्वाद्गुणभावानुपगम इति चोद्यस्य।

विशेषवतो हि सोपाधिकस्य संव्यवहारार्थो गुणगुणिभावो न विपरीतस्य। निरुपाख्यो हि विजिज्ञापयिषितः सर्वस्यामुपनिषदि। स एष नेति नेतीत्युपसंहारात्। तस्मादादित्यादिब्रह्मभ्य एतेभ्योऽविज्ञानमयेभ्यो विलक्षणोऽन्योऽस्ति विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम्॥१५॥

स एवमजातशत्रुर्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं प्रतिपाद्य गार्ग्य**मुवाच**। **यत्र** यस्मिन्काले **एष** विज्ञानमयः पुरुष एतत्स्वप्नं **सुप्तोऽभूत्**प्राक्पाणिपेषप्रतिबोधात्। विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते, तन्मयस्तत्प्रायो **विज्ञानमयः**। किं

पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में सुषुप्ति का विवेचन

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान-

उस अजातशत्रु ने कहा— यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय अन्तःकरण उपाधि में अभिव्यक्ति आभासरूप विज्ञान के द्वारा इन वागादिप्राणों

पुनस्तत्प्रायत्वम्? तस्मिन्नुपलभ्यत्वं तेन चोपलभ्यत्वमुपलब्धृत्वं च। कथं पुनर्मयटोऽनेकार्थत्वे प्रायार्थतैवावगम्यते। "स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः" इत्येवमादौ प्रायार्थ एव प्रयोगदर्शनात्परविज्ञानविकारत्वस्याप्रसिद्धत्वाद्य एष विज्ञानमय इति च प्रसिद्धवदनुवादादवयवोपमार्थयोश्चात्रासंभवात्पारिशेष्यात्प्रायार्थतैव। तस्मात्संकल्पविकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मय इत्येतत्। **पुरुषः** पुरि शयनात्।

क्वैष तदाऽभूदिति प्रश्नः स्वभावविजिज्ञापयिषया। प्राक्प्रतिबोधात्क्रियाकारकफलविपरीतस्वभाव आत्मेति कार्याभावेन दिदर्शयिषितम्। न हि प्राक्प्रतिबोधात्कर्मादिकार्यं सुखादि किंचन गृह्यते। तस्मादकर्मप्रयुक्तत्वात्तथास्वाभाव्यमेवाऽऽत्मनोऽवगम्यते यस्मिन्स्वाभाव्येऽभूत्, यतश्च स्वाभाव्यात्प्रच्युतः संसारी स्वभावविलक्षण इत्येतद्विवक्षया पृच्छति गार्ग्यं प्रतिभानरहितं बुद्धिव्युत्पादनाय। **क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादित्येतदुभयं** गार्ग्येणैव प्रष्टव्यमासीत्तथाऽपि गार्ग्येण न पृष्टमिति नोदास्तेऽजातशत्रुर्बोधयितव्यः एवेति प्रवर्तते, ज्ञपयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञातत्वात्। एवमसौ व्युत्पाद्यमानोऽपि गार्ग्यो यत्रैष आत्माऽभूत्प्राक्प्रतिबोधाद्यतश्चैतदागमनमागात्तदुभयं न व्युत्पेदे वक्तुं वा प्रष्टुं वा **गार्ग्यो ह न मेने** न ज्ञातवान्॥१६॥

स होवाचाजातशत्रुर्विवक्षितार्थसमर्पणाय। **यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः** क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति यदपृच्छाम तच्छृणूच्यमानं— यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्तत्तदा तस्मिन्काल **एषां** वागादीनां **प्राणानां**

मादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१७॥

के विषय विज्ञान को ग्रहण कर, यह जो हृदय में आकाश है; उसमें सोता है। जिस समय यह विज्ञानों को ग्रहण कर लेता है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों की अध्यक्षता छोड़ देता है। उस समय यह पुरुष 'स्वपिति' नाम वाला कहा जाता है। उस समय प्राण गृहीत रहता है, वाक् निगृहीत रहती है, चक्षु निगृहीत रहता है, श्रोत्र निगृहीत रहता है और मन भी निगृहीत हो जाता है अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियों के उपसंहार हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है॥१७॥

विज्ञानेन अन्तःकरणगताभिव्यक्तिविशेषविज्ञानेनोपाधिस्वभावजनितेनाऽऽ**दाय विज्ञानं** वागादीनां स्वस्वविषयगतसामर्थ्यं गृहीत्वा **य एषोऽन्तर्मध्ये हृदये** हृदयस्याऽऽ**काशो** य आकाशशब्देन पर एव स्व आत्मोच्यते तस्मिन्स्व आत्मन्याकाशे **शेते** स्वाभाविकेऽसांसारिके, न केवले आकाशे एव, श्रुत्यन्तरसामर्थ्यात् "सता सोम्य सदा संपन्नो भवति" इति। लिङ्गोपाधिसंबन्धकृतं विशेषात्मस्वरूपमुत्सृज्याविशेषे स्वाभाविक आत्मन्येव केवले वर्तत इत्यभिप्रायः।

यदा शरीरेन्द्रियाध्यक्षतामुत्सृजति तदाऽसौ स्वात्मनि वर्तते इति कथमवगम्यते? नामप्रसिद्ध्या। काऽसौ नामप्रसिद्धिरित्याह— **तानि** वागादीनि विज्ञानानि **यदा** यस्मिन्काले **गृह्णात्या**दत्तेऽ**थ** तदा **हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम**। एतन्नामास्य पुरुषस्य तदा प्रसिद्धं भवति, गौणमेवास्य नाम भवति, स्वमेवाऽऽत्मानमपीत्यपिगच्छतीति स्वपितीत्युच्यते। सत्यं स्वपितीतिनामप्रसिद्ध्याऽऽत्मनः संसारधर्मविलक्षणं रूपमवगम्यते न त्वत्र युक्तिरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **तत्त्र** स्वापकाले **गृहीत एव प्राणो भवति**। प्राण इति घ्राणेन्द्रियं, वागादिप्रकरणात्। वागादिसंबन्धे हि सति

स्वप्न वृत्ति का स्वरूप

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते॥१८॥

यह प्रकृत आत्मा जब दर्शनरूपा स्वप्नवृत्ति से व्यवहार करता है; उस समय इसके वे कर्मफल उदित होते हैं। वहाँ भी यह महाराज-सा होता है या महाब्राह्मण होता है या ऊँची-नीची देव-असुरादि गति को प्राप्त होता है। जैसे कोई महाराज अपने प्रजाजनों को स्वाधीन कर स्वेच्छापूर्वक अपने देश में विचरता है; वैसे ही यह स्वप्नपुरुष कल्पित प्राणों को ग्रहण कर अपने देह में यथेच्छा विचरता है॥१८॥

तदुपाधित्वादस्य संसारधर्मित्वं लक्ष्यते। वागादयश्चोपसंहता एव तदा तेन। कथम्? **गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः**। तस्मादुपसंहृतेषु वागादिषु क्रियाकारकफलात्मताभावात्स्वात्मस्थ एवाऽऽत्मा भवतीत्यवगम्यते॥१७॥

ननु दर्शनलक्षणायां स्वप्नावस्थायां कार्यकरणवियोगेऽपि संसारधर्मित्वमस्य दृश्यते। यथा च जागरिते सुखी दुःखी बन्धवियुक्तः शोचति मुह्यते च। तस्माच्छोकमोहधर्मवानेवायं, नास्य शोकमोहादयः सुखदुःखादयश्च कार्यकरण-संयोगजनितभ्रान्त्याऽध्यारोपिता इति। न, मृषात्वात् स्वप्नस्य। **स** प्रकृत आत्मा **यत्र** यस्मिन्काले दर्शनलक्षणया **स्वप्न्यया** स्वप्नवृत्त्या **चरति** वर्तते तदा **ते हास्य लोकाः** कर्मफलानि। के ते? **तत्त्रोतापि महाराज** इव **भवति**। सोऽयं महाराजत्वमिवास्य लोको न महाराजत्वमेव जागरित इव। तथा **महाब्राह्मण इवोताप्युच्चावचमुच्चं** च देवत्वाद्यवचं च तिर्यक्त्वाद्युच्चमिवावचमिव च **निगच्छति**।

मृषैव महाराजत्वादयोऽस्य लोका इवशब्दप्रयोगाद्व्यभिचारदर्शनाच्च। तस्मान्न बन्धुवियोगादिजनितशोकमोहादिभिः स्वप्ने संबध्यते एव। ननु च यथा जागरिते जाग्रत्कालाव्यभिचारिणो लोकाः एवं स्वप्नेऽपि तेऽस्य महाराजत्वादयो लोकाः स्वप्नकालभाविनः स्वप्नकालाव्यभिचारिण आत्मभूता एव, न त्वविद्याध्यारोपिता इति। ननु च जाग्रत्कार्यकरणात्मत्वं देवतात्मत्वं चाविद्याध्यारोपितं न परमार्थत इति व्यतिरिक्तविज्ञानमयात्मप्रदर्शनेन प्रदर्शितम्। तत्कथं दृष्टान्तत्वेन स्वप्नलोकस्य मृत इवोज्जीविष्यन्प्रादुर्भविष्यति। सत्यं विज्ञानमये व्यतिरिक्ते कार्यकरणदेवतात्मदर्शनमविद्याध्यारोपितं शुक्तिकायामिव रजतत्वदर्शनमित्येतत्सिध्यतीति व्यतिरिक्तात्मास्तित्वप्रदर्शनन्यायेनैव न तु तद्विशुद्धिपरतयैव न्याय उक्त इत्यसन्नपि दृष्टान्तो जाग्रत्कार्यकरणदेवतात्मत्वदर्शनलक्षणः पुनरुद्भाव्यते। सर्वो हि न्यायः किंचिद्विशेषमपेक्षमाणोऽपुनरुक्तीभवति।

न तावत्स्वप्नेऽनुभूतमहाराजत्वादयो लोका आत्मभूताः। आत्मनोऽन्यस्य जाग्रत्प्रतिबिम्बभूतस्य लोकस्य दर्शनात्। महाराज एव तावद्व्यस्तसुप्तासु प्रकृतिषु पर्यङ्के शयानः स्वप्नान्पश्यन्नुपसंहृतकरणः पुनरुपगतप्रकृतिं महाराजमिवाऽऽत्मानं जागरित इव पश्यति यात्रागतं भुञ्जानमिव च भोगान्। न च तस्य महाराजस्य पर्यङ्के शयानाद्द्वितीयोऽन्यः प्रकृत्युपेतो विषये पर्यटन्नहनि लोके प्रसिद्धोऽस्ति यमसौः सुप्तः पश्यति। न चोपसंहृतकरणस्य रूपादिमतो दर्शनमुपपद्यते। न च देहे देहान्तरस्य तत्तुल्यस्य संभवोऽस्ति, देहस्थस्यैव हि स्वप्नदर्शनम्।

ननु पर्यङ्के शयानः पथि प्रवृत्तमात्मानं पश्यति, न बहिः स्वप्नान्पश्यतीत्येतदाह —**स महाराजो जानपदाञ्**जनपदे भवान्राजोपकरणभूतान्भृत्यानन्यांश्च **गृहीत्वो**पादाय **स्वे** आत्मीये एव जयादिनोपार्जिते **जनपदे यथाकामं** यो यः कामोऽस्य यथाकाममिच्छातो **यथा परिवर्तेत**त्यर्थः। **एवमेवैष** विज्ञानमय **एतदि**ति क्रियाविशेषणं **प्राणान्गृहीत्वा** जागरितस्थानेभ्य उपसंहृत्य **स्वे**

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

इसके बाद जिस समय वह सो जाता है यानी जब वह किसी विषय में कुछ भी नहीं जानता है; उस समय उस हिता नाम की नाड़ी द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह देह में व्याप्त होकर सोता है। जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर स्थित हैं। जैसे कोई बालक या महाराजा अथवा महाब्राह्मण आनन्द की दुःखविनाशक अवस्था को प्राप्त हो, सो जाता है; ठीक उसी प्रकार यह सो जाता है॥१९॥

शरीरे स्व एव देहे न बहिर्**यथाकामं परिवर्तते।** कामकर्मभ्यामुद्भासिताः पूर्वानुभूतवस्तुसदृशीर्वासना अनुभवतीत्यर्थः। तस्मात्स्वप्ने मृषाऽध्यारोपिता एवाऽऽत्मभूतत्वेन लोका अविद्यमाना एव सन्तः, तथा जागरितेऽपीति प्रत्येतव्यम्। तस्माद्विशुद्धोऽक्रियाकारकफलात्मको विज्ञानमय इत्येतत्सिद्धम्। यस्माद्दृश्यन्ते द्रष्टुर्विषयभूताः क्रियाकारकफलात्मकाः कार्यकरणलक्षणा लोकास्तथा स्वप्नेऽपि। तस्मादन्योऽसौ दृश्येभ्यः स्वप्नजागरितलोकेभ्यो द्रष्टा विज्ञानमयो विशुद्धः॥१८॥

दर्शनवृत्तौ स्वप्ने वासनाराशेर्दृश्यत्वादतद्धर्मतेति विशुद्धताऽवगताऽऽत्मनस्तत्र यथाकामं परिवर्तत इति कामवशात्परिवर्तनमुक्तम्। द्रष्टृदृश्यसंबन्धश्चास्य स्वाभाविक इत्यशुद्धता शङ्क्यतेऽतस्तद्विशुद्ध्यर्थमाह —

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा स्वप्नया चरति तदाऽप्ययं विशुद्ध एव। अथ पुनर्यदा हित्वा दर्शनवृत्तिं स्वप्नं यदा यस्मिन्काले सुषुप्तः सुष्ठु सुप्तः संप्रसादं स्वाभाव्यं गतो भवति सलिलमिवान्यसंबन्धकालुष्यं हित्वा स्वाभाव्येन प्रसीदति। कदा सुषुप्तो भवति। **यदा** यस्मिन्काले **न कस्यचन** न किंचनेत्यर्थो

वेद विजानाति। कस्यचन वा शब्दादेः संबन्धि वस्त्वन्तरं किंचन न वेदेत्यध्याहार्यम्। पूर्वं तु न्याय्यं, सुप्ते तु विशेषविज्ञानाभावस्य विवक्षितत्वात्।

एवं तावद्विशेषविज्ञानाभावे सुषुप्तो भवतीत्युक्तम्। केन पुनः क्रमेण सुषुप्तो भवतीत्युच्यते — **हिता नाम** हिता इत्येवंनाम्यो **नाड्यः** शिरा देहस्यान्नरसविपरिणामभूतास्ताश्च **द्वासप्ततिः सहस्राणि** द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि ता **द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयाद्धृ**दयं नाम मांसपिण्डस्तस्मान्मांसपिण्डात्पुण्डरीकाकारा**त्पुरीततं** हृदयपरिवेष्टनमाचक्षते तदुपलक्षितं शरीरमिह पुरीतच्छब्देनाभिप्रेतं **पुरीततमभिप्रतिष्ठन्त** इति शरीरं कृत्स्नं व्याप्नुवत्योऽश्वत्थपर्णराजय इव बहिर्मुख्यः प्रवृत्ता इत्यर्थः।

तत्र बुद्धेरन्तःकरणस्य हृदयं स्थानं तत्र बुद्धितन्त्राणि चेतराणि बाह्यानि करणानि। तेन बुद्धिः कर्मवशाच्छ्रोत्रादीनि ताभिर्नाडीभिर्मत्स्यजालवत्कर्णशष्कुल्यादिस्थानेभ्यः प्रसारयति, प्रसार्य चाधितिष्ठति जागरितकाले। तां विज्ञानमयोऽभिव्यक्तस्वात्मचैतन्यावभासतया व्याप्नोति। संकोचनकाले च तस्या अनुसंकुचति। सोऽस्य विज्ञानमयस्य स्वापः। जाग्रद्विकासानुभवो भोगः। बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि स चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी। तस्मात्तस्या बुद्धेर्जाग्रद्विषयायास्ताभिर्नाडीभिः प्रत्यवसर्पणमनु **प्रत्यवसृप्य पुरीतति** शरीरे **शेते** तिष्ठति तप्तमिव लोहपिण्डमविशेषेण संव्याप्याग्निवच्छरीरं संव्याप्य वर्तते इत्यर्थः। स्वाभाविक एव स्वात्मनि वर्तमानोऽपि कर्मानुगतबुद्ध्यनुवृत्तित्वात्पुरीतति शेते इत्युच्यते। न हि सुषुप्तिकाले शरीरसंबन्धोऽस्ति। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्येति हि वक्ष्यति।

सर्वसंसारदुःखवियुक्तेयमवस्थेत्यत्र दृष्टान्तः— **स यथा कुमारो वा**ऽत्यन्तबालो वा **महाराजो वा**ऽत्यन्तवश्यप्रकृतिर्यथोक्तकृ**न्महाब्राह्मणो वा**ऽत्यन्तपरिपक्वविद्याविनयसंपन्नो**ऽतिघ्नीम**तिशयेन दुःखं हन्तीत्यतिघ्न्या**नन्दस्या**

वस्था सुखावस्था तां प्राप्य **गत्वा शयीतावतिष्ठेत**। एषां च कुमारादीनां स्वभावावस्थानां सुखं निरतिशयं प्रसिद्धं लोके। विक्रियमाणानां हि तेषां दुःखं न स्वभावतस्तेन तेषां स्वाभाविक्यवस्था दृष्टान्तत्वेनोपादीयते प्रसिद्धत्वात्। न तेषां स्वाप एवाभिप्रेतः। स्वापस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन विवक्षितत्वाद्विशेषाभावाच्च। विशेषे हि सति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदः स्यात्। तस्मान्न तेषां स्वापो दृष्टान्तः। **एवमेव** यथाऽयं दृष्टान्त **एष** विज्ञानमय **एतच्छयनं शेते** इत्येतच्छब्दः क्रियाविशेषणार्थः। एवमयं स्वाभाविके स्वे आत्मनि सर्वसंसारधर्मातीतो वर्तते स्वापकाले इति॥१९॥

इत्यष्टमाह्निकम्॥८॥



क्वैष तदाऽभूदित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनमुक्तम्। अनेन च प्रश्ननिर्णयेन विज्ञानमयस्य स्वभावतो विशुद्धिरसंसारित्वं चोक्तम्। कुत एतदागादित्यस्य प्रश्नस्यापाकरणार्थः आरम्भः। ननु यस्मिन्ग्रामे नगरे वा यो भवति, सोऽन्यत्र गच्छंस्तत एव ग्रामान्नगराद्वा गच्छति नान्यतः। तथा सति क्वैष तदाऽभूदित्येतावानेवास्तु प्रश्नो यत्राभूत्तत एवाऽऽगमनं प्रसिद्धं स्यान्नान्यत इति कुत एतदागादिति प्रश्नो निरर्थक एव। किं श्रुतिरुपालभ्यते भवता। न, किं तर्हि द्वितीयस्य प्रश्नस्यार्थान्तरं श्रोतुमिच्छाम्यत आनर्थक्यं चोदयामि।

एवं तर्हि कुत इत्यपादानार्थता न गृह्यते। अपादानार्थत्वे हि पुनरुक्तता, नान्यार्थत्वे। अस्तु तर्हि निमित्तार्थः प्रश्नः, कुत एतदागात्किंनिमित्तमिहाऽऽगमनमिति? न, निमित्तार्थताऽपि प्रतिवचनवैरूप्यात्। आत्मनश्च सर्वस्य जगतोऽग्निविस्फुलिङ्गादिवदुत्पत्तिः प्रतिवचने श्रूयते। न हि विस्फुलिङ्गानां विद्रवणेऽग्निनिमित्तमपादानमेव तु सः। तथा परमात्मा विज्ञानमयस्याऽऽत्मनोऽपादानत्वेन श्रूयतेऽस्मादात्मन इत्येतस्मिन्वाक्ये। तस्मात्प्रतिवचनवैलोम्यात्कुत इति प्रश्नस्य निमित्तार्थता न शक्यते वर्णयितुम्।

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा

लोक में जैसे मकड़ी तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे एक ही अग्नि से अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं; उसी प्रकार इस आत्मा से सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण

नन्वपादानपक्षेऽपि पुनरुक्ततादोषः स्थित एव। नैष दोषः। प्रश्नाभ्यामात्मनि क्रियाकारकफलात्मतापोहस्य विवक्षितत्वात्। इह हि विद्याविद्याविषयावुपन्यस्तौ। ''आत्मेत्येवोपासीताऽऽत्मानमेवावेदात्मानमेव लोकमुपासीत'' इति विद्याविषयः। तथाऽविद्याविषयश्च पाङ्क्तं कर्म तत्फलं चान्नत्रयं नामरूपकर्मात्मकमिति। तत्राविद्याविषये वक्तव्यं सर्वमुक्तम्। विद्याविषयस्त्वात्मा केवल उपन्यस्तो, न निर्णीतः। तन्निर्णयाय च ब्रह्म ते ब्रवाणीति प्रक्रान्तं, ज्ञपयिष्यामीति च। अतस्तद्ब्रह्मविद्याविषयभूतं ज्ञापयितव्यं याथात्म्यतः। तस्य च याथात्म्यं क्रियाकारकफलभेदशून्यमत्यन्तविशुद्धमद्वैतमित्येतद्विवक्षितम्। अतस्तदनुरूपौ प्रश्नावुत्थाप्येते श्रुत्या ''क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागात्'' इति।

तत्र यत्र भवति तदधिकरणं यद्भवति तदधिकर्तव्यं, तयोश्चाधिकरणाधिकर्तव्ययोर्भेदो दृष्टो लोके। तथा यत आगच्छति तदपादानं य आगच्छति स कर्ता तस्मादन्यो दृष्टः। तथाऽऽत्मा क्वाप्यभूदन्यस्मिन्नन्यः कुतश्चिदागादन्यस्मादन्यः केनचिद्भिन्नेन साधनान्तरेणेत्येवं लोकवत्प्राप्ता बुद्धिः, सा प्रतिवचनेन निवर्तयितव्येति। नायमात्माऽन्योऽन्यत्राभूदन्यो वाऽन्यस्मादागतः साधनान्तरं वाऽऽत्मन्यस्ति। किं तर्हि स्वात्मन्येवाभूत् ''स्वमात्मानमपीतो भवति सता सोम्य तदा संपन्नो भवति प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः परे आत्मनि संप्रतिष्ठते'' इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एव नान्योऽन्यस्मादागच्छति। तच्छ्रुत्यैव प्रदर्श्यते ''अस्मादात्मनः'' इति। आत्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावात्।

नन्वस्ति प्राणाद्यात्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं, न, प्राणादेस्तत एव निष्पत्तेः। तत्कथमिति, उच्यते तत्र दृष्टान्तः— **स यथा लोके ऊर्णनाभिः**। ऊर्णनाभिर्लूताकीट

व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्यायस्य

अजातशत्रुनामप्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

लोक, सभी देवगण, सभी भूत अनेक रूप से उत्पन्न होते हैं। वह सत्य का सत्य है, यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषत् है। प्राण ही सत्य हैं और उन्हीं के यह सत्यमय प्रपञ्च हैं ॥२०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

एक एव प्रसिद्धः सन्स्वात्माप्रविभक्तेन **तन्तुनोच्चरेदुद्गच्छेत्**। न चास्ति तस्योद्गमने स्वतोऽतिरिक्तं कारकान्तरम्। **यथा** चैकरूपादेकस्मा**दग्नेः क्षुद्रा** अल्पा **विस्फुलिङ्गास्त्रुटयो**ऽन्यवयवा **व्युच्चरन्ति** विविधं नाना वोच्चरन्ति। यथेमौ दृष्टान्तौ कारकभेदाभावेऽपि प्रवृत्तिं दर्शयतः, प्राक्प्रवृत्तेश्च स्वभावत एकत्व**मेवमेवास्मादात्मनो** विज्ञानमयस्य प्राक्प्रतिबोधाद्यत्स्वरूपं तस्मादित्यर्थः। **सर्वे प्राणा** वागादयः **सर्वे लोका** भूरादयः सर्वाणि कर्मफलानि **सर्वे देवाः** प्राणलोकाधिष्ठातारोऽग्न्यादयः **सर्वाणि भूतानि** ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि प्राणिजातानि सर्वे एते आत्मान इत्यस्मिन्पाठे उपाधिसंपर्कजनितप्रबुध्यमानविशेषात्मान इत्यर्थो **व्युच्चरन्ति**।

यस्मादात्मना स्थावरजङ्गमं जगदिदमग्निविस्फुलिङ्गवद्व्युच्चरत्यनिशं, यस्मिन्नेव च प्रलीयते जलबुद्बुदवद्यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले, **तस्यास्याऽऽत्मनो** ब्रह्मण **उपनिषदुप** समीपं निगमयतीत्यभिधायकः शब्द उपनिषदित्युच्यते। शास्त्रप्रामाण्यादेतच्छब्दगतो विशेषोऽवसीयते उपनिगमयितृत्वं नाम। काऽसावुपनिषदित्याह—**सत्यस्य सत्यमिति**। सा हि सर्वत्र चोपनिषदलौकिकार्थत्वाद्दुर्विज्ञेयार्थेति

तदर्थमाचष्टे— **प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति**। एतस्यैव वाक्यस्य व्याख्यानायोत्तरं ब्राह्मणद्वयं भविष्यति।

भवतु तावदुपनिषद्व्याख्यानायोत्तरं ब्राह्मणद्वयम्। तस्योपनिषदित्युक्तं तत्र न जानीमः किं प्रकृतस्याऽऽत्मनो विज्ञानमयस्य पाणिपेषणोत्थितस्य संसारिणः शब्दादिभुज इयमुपनिषदाहोस्विदसंसारिणः कस्यचित्। किंचातः। यदि संसारिणस्तदा संसार्येव विज्ञेयः। तद्विज्ञानादेव सर्वप्राप्तिः। स एव ब्रह्मशब्दवाच्यस्तद्विद्यैव ब्रह्मविद्येति। अथासंसारिणस्तदा तद्विषया विद्या ब्रह्मविद्या। तस्माच्च ब्रह्मविज्ञानात्सर्वभावापत्तिः। सर्वमेतच्छास्त्रप्रामाण्याद्भविष्यति।

किंत्वस्मिन्पक्षे "आत्मेत्येवोपासीता" "ऽऽत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति" परब्रह्मैकत्वप्रतिपादिकाः श्रुतयः कुप्येरन्। संसारिणश्चान्यस्याभावे उपदेशानर्थक्यात्। यत एव पण्डितानामप्येतन्महामोहस्थानमनुक्तप्रतिवचनप्रश्नविषयम्। अतो यथाशक्ति ब्रह्मविद्याप्रतिपादकवाक्येषु ब्रह्मविजिज्ञासूनां बुद्धिव्युत्पादनाय विचारयिष्यामः।

न तावदसंसारी परः, पाणिपेषणप्रतिबोधिताच्छब्दादिभुजोऽवस्थान्तरविशिष्टादुत्पत्तिश्रुतेः। न प्रशासिताऽशनायादिवर्जितः परो विद्यते। कस्मात्? यस्माद्ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति प्रतिज्ञाय सुप्तं पुरुषं पाणिपेषं बोधयित्वा तं शब्दादिभोक्तृत्वविशिष्टं दर्शयित्वा तस्यैव स्वप्नद्वारेण सुषुप्त्याख्यमवस्थान्तरमुन्नीय तस्मादेवाऽऽत्मनः सुषुप्त्यवस्थाविशिष्टादग्निविस्फुलिङ्गोर्णनाभिदृष्टान्ताभ्यामुत्पत्तिं दर्शयति श्रुति"रेवमेवास्मादित्यादिना"। न चान्यो जगदुत्पत्तिकारणमन्तराले श्रुतोऽस्ति। विज्ञानमयस्यैव हि प्रकरणम्।

समानप्रकरणे च श्रुत्यन्तरे कौषीतकिनामादित्यादिपुरुषान्प्रस्तुत्य, स होवाच यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति प्रबुद्धस्यैव विज्ञानमयस्य वेदितव्यतां दर्शयति नार्थान्तरस्य। तथा चा"ऽऽत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियंभवती"त्युक्त्वा य एवाऽऽत्मा प्रियः प्रसिद्धस्तस्यैव द्रष्टव्यश्रोतव्यमन्तव्यनिदिध्यासितव्यतां दर्शयति। तथा च विद्योपन्यासकाले "आत्मेत्येवोपासीत" तदेतत्प्रेयः

पुत्रात्प्रेयो वित्तात्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीत्येवमादिवाक्यानामानुलोम्यं स्यात्पराभावे। वक्ष्यति च— "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः" इति।

सर्ववेदान्तेषु च प्रत्यगात्मवेद्यतैव प्रदर्श्यतेऽहमिति न बहिर्वेद्यता शब्दादिवत्प्रदर्श्यतेऽसौ ब्रह्मेति। तथा कौषीतकिनामेव "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" इत्यादिना वागादिकरणैर्व्यापृतस्य कर्तुरेव वेदितव्यतां दर्शयति।

अवस्थान्तरविशिष्टोऽसंसारीति चेत्। अथापि स्याद्यो जागरिते शब्दादिभुग्विज्ञानमयः, स एव सुषुप्ताख्यमवस्थान्तरं गतोऽसंसारी परः प्रशासिताऽन्यः स्यादिति चेत्। न, अदृष्टत्वात्। न ह्येवंधर्मकः पदार्थो दृष्टोऽन्यत्र वैनाशिकसिद्धान्तात्। न हि लोके गौस्तिष्ठन्गच्छन्वा गौर्भवति शयानस्त्वश्वादिजात्यन्तरमिति। न्यायाच्च। यद्धर्मको यः पदार्थः प्रमाणेनावगतो भवति, स देशकालावस्थान्तरेष्वपि तद्धर्मक एव भवति। स चेत्तद्धर्मकत्वं व्यभिचरति, सर्वः प्रमाणव्यवहारो लुप्येत। तथाच न्यायविदः सांख्यमीमांसकादयोऽसंसारिणोऽभावं युक्तिशतैः प्रतिपादयन्ति।

संसारिणोऽपि जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानस्याभावादयुक्तमिति चेद्यन्महता प्रपञ्चेन स्थापितं भवता शब्दादिभुक्संसार्येवावस्थान्तरविशिष्टो जगतः कर्तेति। तदसत्। यतो जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रियाकर्तृत्वविज्ञानशक्तिसाधनाभावः सर्वलोकप्रत्यक्षः संसारिणः। स कथमस्मदादिः संसारी मनसाऽपि चिन्तयितुमशक्यं पृथिव्यादिविन्यासविशिष्टं जगन्निर्मिनुयादतोऽयुक्तमिति चेत्। न, शास्त्रात्। शास्त्रं संसारिण "एवमेवास्मादात्मन" इति जगदुत्पत्त्यादि दर्शयति। तस्मात्सर्वं श्रद्धेयमिति स्यादयमेकः पक्षः।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "योऽशनायापिपासे अत्येति" "असङ्गो न हि सज्जते" "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नन्तर्याम्यमृतः" "स यस्तान्पुरुषान्निरुह्यात्यक्रामत्" "स वा एष महानज आत्मा" "एष सेतुर्विधरणः" "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" "तत्तेजोऽसृजत" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः"

इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। स्मृतेश्च "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इति परोऽस्त्यसंसारी श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यश्च, स च कारणं जगतः।

नन्वेवमेवास्मादात्मन" इति संसारिण एवोत्पत्तिं दर्शयतीत्युक्तम्। न, य एषोऽन्तर्हृदये आकाश इति परस्य प्रकृतत्वादस्मादात्मन इति युक्तः परस्यैव परामर्शः। क्वैष तदाऽभूदित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनत्वेनाऽऽकाशशब्दवाच्यः पर आत्मोक्तो "य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेत" इति। "सता सोम्य तदा संपन्नो भवत्यहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" "प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः" "पर आत्मनि संप्रतिष्ठते" इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशशब्दः पर आत्मेति निश्चीयते। "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इति प्रस्तुत्य तस्मिन्नेवाऽऽत्मशब्दप्रयोगाच्च प्रकृत एव पर आत्मा। तस्माद्युक्तमेवमेवास्मादात्मन इति परमात्मन एव सृष्टिरिति। संसारिणः सृष्टिस्थितिसंहारज्ञानसामर्थ्याभावं चावोचाम।

अत्र चाऽऽत्मेत्येवोपासीताऽऽत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मविद्या प्रस्तुता। ब्रह्मविषयं च ब्रह्मविज्ञानमिति। ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति प्रारब्धम्। तत्रेदानीमसंसारि ब्रह्म जगतः कारणमशनायाद्यतीतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, तद्विपरीतश्च संसारी, तस्मादहं ब्रह्मास्मीति न गृह्णीयात्। परं हि देवमीशानं निकृष्टः संसार्यात्मत्वेन स्मरन्कथं न दोषभाक्स्यात्। तस्मान्नाहं ब्रह्मास्मीति युक्तम्।

तस्मात्पुष्पोदकाञ्जलिस्तुतिनमस्कारबल्युपहारस्वाध्यायाध्ययनध्यानयोगादिभिरारिराधयिषेत्। आराधनेन विदित्वा सर्वेशितृ ब्रह्म भवति। न पुनरसंसारि ब्रह्म संसार्यात्मत्वेन चिन्तयेदग्निमिव शीतत्वेनाऽऽकाशमिव मूर्तिमत्त्वेन। ब्रह्मात्मत्वप्रतिपादकमपि शास्त्रमर्थवादो भविष्यति। सर्वतर्कशास्त्रलोकन्यायैश्चैवमविरोधः स्यात्।

न। मन्त्रब्राह्मणवादेभ्यस्तस्यैव प्रवेशश्रवणात्। "पुरश्चक्रे" इति प्रकृत्य "पुरः पुरुष आविशत्" इति "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इति सर्वशाखासु सहस्रशो मन्त्रवादाः सृष्टिकर्तुरेवासंसारिणः शरीरप्रवेशं दर्शयन्ति। तथा ब्राह्मणवादाः

(*) for the sake of making Him known.

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" "इत्याद्याः। सर्वश्रुतिषु च ब्रह्मण्यात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दस्य च प्रत्यगात्माभिधायकत्वात् "एष सर्वभूतान्तरात्मा" इति च श्रुतेः परमात्मव्यतिरेकेण संसारिणोऽभावात् "एकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्मैवेदम्" "आत्मैवेदम्" इत्यादिश्रुतिभ्यो युक्तमेवाहं ब्रह्मास्मीत्यवधारयितुम्।

यदैवं स्थितः शास्त्रार्थस्तदा परमात्मनः संसारित्वम्। तथा च सति शास्त्रानर्थक्यमसंसारित्वे चोपदेशानर्थक्यं स्पष्टो दोषः प्राप्तः। यदि तावत्परमात्मा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वशरीरसंपर्कजनितदुःखान्यनुभवतीति स्पष्टं परस्य संसारित्वं प्राप्तम्। तथा च परस्यासंसारित्वप्रतिपादिकाः श्रुतयः कुप्येरन्स्मृतयश्च सर्वे च न्यायाः। अथ कथंचित्प्राणिशरीरसंबन्धजैर्दुःखैर्न संबध्यते इति शक्यं प्रतिपादयितुं, परमात्मनः साध्यपरिहार्याभावादुपदेशानर्थक्यदोषो न शक्यते निवारयितुम्।

अत्र केचित्परिहारमाचक्षते। परमात्मा न साक्षाद्भूतेष्वनुप्रविष्टः स्वेन रूपेण। किं तर्हि विकारभावमापन्नो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपेदे। स च विज्ञानात्मा परस्मादन्योऽनन्यश्च। येनान्यस्तेन संसारित्वसंबन्धी, येनानन्यस्तेनाहं ब्रह्मेत्यवधारणार्हः। एवं सर्वमविरुद्धं भविष्यतीति।

तत्र विज्ञानात्मनो विकारपक्षे एता गतयः। पृथिवीद्रव्यवदनेकद्रव्यसमाहारस्य सावयवस्य परमात्मन एकदेशविपरिणामो विज्ञानात्मा घटादिवत्पूर्वसंस्थानावस्थस्य वा परस्यैकदेशो विक्रियते केशोषरादिवत्सर्व एव वा परः परिणमेत्क्षीरादिवत्। तत्र समानजातीयानेकद्रव्यसमूहस्य कश्चिद्द्रव्यविशेषो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपद्यते यदा, तदा च समानजातीयत्वादेकत्वमुपचरितमेव न तु परमार्थतः। तथा च सति सिद्धान्तविरोधः।

अथ नित्यायुतसिद्धावयवानुगतोऽवयवी पर आत्मा, तस्य तदवस्थस्यैकदेशो विज्ञानात्मा संसारी, तदाऽपि सर्वावयवानुगतत्वादवयविन एवावयवगतो दोषो गुणो

वेति विज्ञानात्मनः संसारित्वदोषेण पर एवाऽऽत्मा संबध्यते इतीयमप्यनिष्टा कल्पना। क्षीरवत्सर्वपरिणामपक्षे सर्वश्रुतिस्मृतिकोपः, स चानिष्टः।

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतः" "न जायते म्रियते वा कदाचित्" "अव्यक्तोऽयम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धा एते सर्वे पक्षाः। अचलस्य परमात्मन एकदेशपक्षे विज्ञानात्मनः कर्मफलवद्देशसंसरणानुपपत्तिः। परस्य वा संसारित्वमित्युक्तम्।

परस्यैकदेशोऽग्निविस्फुलिङ्गवत्स्फुटितो विज्ञानात्मा संसरतीति चेत्तथाऽपि परस्यावयवस्फुटनेन क्षतप्राप्तिस्तत्संसरणे च परमात्मप्रदेशान्तरावयवव्यूहे छिद्रताप्राप्तिरव्रणत्ववाक्यविरोधश्च। आत्मावयवभूतस्य विज्ञानात्मनः संसरणे परमात्मशून्यप्रदेशाभावादवयवान्तरनोदनव्यूहनाभ्यां हृदयशूलेनेव परमात्मनो दुःखित्वप्राप्तिः।

अग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तश्रुतेर्न दोष इति चेन्न। श्रुतेर्ज्ञापकत्वात्। न शास्त्रं पदार्थानन्यथा कर्तुं प्रवृत्तम्। किं तर्हि, यथाभूतानामज्ञातानां ज्ञापने। किंचातः। शृण्वतो यद्भवति। यथाभूता मूर्तामूर्तादिपदार्थधर्मा लोके प्रसिद्धास्तद्दृष्टान्तोपादानेन तदविरोध्येव वस्त्वन्तरं ज्ञापयितुं प्रवृत्तं शास्त्रं, न लौकिकवस्तुविरोधज्ञापनाय लौकिकमेव दृष्टान्तमुपादत्ते। उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तोऽनर्थकः स्याद्दार्ष्टान्तिकासंगतेः। न ह्यग्निः शीत आदित्यो न तपतीति वा दृष्टान्तशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्। प्रमाणान्तरेणान्यथाधिगतत्वाद्वस्तुनः।

न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते। प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। न च लौकिकपदपदार्थाश्रयणव्यतिरेकेणाऽऽगमेन शक्यमज्ञातं वस्त्वन्तरमवगमयितुम्। तस्मात्प्रसिद्धन्यायमनुसरता न शक्या परमात्मनः सावयवांशांशित्वकल्पना परमार्थतः प्रतिपादयितुम्।

''क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा'' ''ममैवांशः'' इति च श्रूयते स्मर्यते चेति चेन्न। एकत्वप्रत्ययार्थपरत्वात्। अग्नेर्हि विस्फुलिङ्गोऽग्निरेवेत्येकत्वप्रत्ययार्हो दृष्टो लोके। तथा चांशोंऽशिनैकत्वप्रत्ययार्हः। तत्रैवं सति विज्ञानात्मनः परमात्मविकारांशत्ववाचकाः शब्दाः परमात्मैकत्वप्रत्ययाधित्सवः। उपक्रमोपसंहाराभ्यां च। सर्वासु ह्युपनिषत्सु पूर्वमेकत्वं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च परमात्मनो विकारांशादित्वं जगतः प्रतिपाद्य पुनरेकत्वमुपसंहरति। तद्यथेहैव तावदिदं सर्वं यदयमात्मेति प्रतिज्ञायोत्पत्तिस्थितिलयहेतुदृष्टान्तैर्विकारविकारित्वाद्येकत्वप्रत्ययहेतून्प्रतिपाद्यानन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्मेत्युपसंहरिष्यति। तस्मादुपक्रमोपसंहाराभ्यामयमर्थो निश्चीयते परमात्मैकत्वप्रत्ययद्रढिम्ने उत्पत्तिस्थितिलयप्रतिपादकानि वाक्यानीति। अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च।

सर्वोपनिषत्सु हि विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वप्रत्ययो बिधीयते इत्यविप्रतिपत्तिः सर्वेषामुपनिषद्वादिनाम्। तद्विध्येकवाक्ययोगे च संभवत्युत्पत्त्यादिवाक्यानां वाक्यान्तरत्वकल्पनायां न प्रमाणमस्ति। फलान्तरं च कल्पयितव्यं स्यात्। तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वप्रतिपादनपराः।

अत्र च संप्रदायविद आख्यायिकां संप्रचक्षते— कश्चित्किल राजपुत्रो जातमात्र एव मातापितृभ्यामपविद्धो व्याधगृहे संवर्धितः, सोऽमुष्य वंश्यतामजानन्व्याधजातिप्रत्ययो व्याधजातिकर्माण्येवानुवर्तते, न राजाऽस्मीति राजजातिकर्माण्यनुवर्तते। यदा पुनः कश्चित्परमकारुणिको राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यतां जानन्नमुष्य पुत्रतां बोधयति न त्वं व्याधोऽमुष्य राज्ञः पुत्रः कथंचिद्व्याधगृहमनुप्रविष्ट इति। स एवं बोधितस्त्यक्त्वा व्याधजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपैतामहीमात्मनः पदवीमनुवर्तते राजाऽहमस्मीति। तथा किलायं परस्मादग्निविस्फुलिङ्गादिवत्तज्जातिरेव विभक्त इह देहेन्द्रियादिगहने प्रविष्टोऽसंसारी सन् देहेन्द्रियादिसंसारधर्ममनुवर्तते देहेन्द्रियसंघातोऽस्मि कृशः स्थूलः सुखी दुःखीति परमात्मतामजानन्नात्मनः। न त्वमेतदात्मकः, परमेव ब्रह्मास्यसंसारीति प्रतिबोधित आचार्येण हित्वैषणात्रयानुवृत्तिं च ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपद्यते।

अत्र राजपुत्रस्य राजप्रत्ययवद्ब्रह्मप्रत्ययो दृढीभवति विस्फुलिङ्गवदेव त्वं परस्माद्ब्रह्मणो भ्रष्ट इत्युक्ते, विस्फुलिङ्गस्य प्रागग्नेर्भ्रंशादग्न्येकत्वदर्शनात्। तस्मादेकत्वप्रत्ययदार्ढ्याय सुवर्णमणिलोहाग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्ता, नोत्पत्त्यादिभेदप्रतिपादनपराः। सैन्धवघनवत्प्रज्ञप्त्येकरसनैरन्तर्यावधारणादेकधैवानुद्रष्टव्यमिति च। यदि च ब्रह्मणश्चित्रपटवद्वृक्षसमुद्रादिवच्चोत्पत्त्याद्यनेकधर्मविचित्रता विजिग्राहयिषितैकरसं सैन्धवघनवदनन्तरमबाह्यमिति नोपसमहरिष्यदेकधैवानुद्रष्टव्यमिति च न प्रायोक्ष्यत। य इह नानेव पश्यतीति निन्दावचनं च।

तस्मादेकरूपैकत्वप्रत्ययदार्ढ्यायैव सर्ववेदान्तेषूत्पत्तिस्थितिलयादिकल्पना, न तत्प्रत्ययकरणाय। न च निरवयवस्य परमात्मनोऽसंसारिणः संसार्येकदेशकल्पना न्याय्या, स्वतोऽदेशत्वात्परमात्मनः। अदेशस्य परस्यैकदेशसंसारित्वकल्पनायां पर एव संसारीति कल्पितं भवेत्।

अथ परोपाधिकृत एकदेशः परस्य घटकरकाद्याकाशवत्। न, तदा तत्र विवेकिनां परमात्मैकदेशः पृथक्संव्यवहारभागिति बुद्धिरुत्पद्यते। अविवेकिनां विवेकिनां चोपचरिता बुद्धिर्दृष्टेति चेत्। न, अविवेकिनां मिथ्याबुद्धित्वात्। विवेकिनां च संव्यवहारमात्रालम्बनार्थत्वात्।

यथा कृष्णो रक्तश्चाऽऽकाश इति विवेकिनामपि कदाचित्कृष्णता रक्तता चाऽऽकाशस्य संव्यवहारमात्रालम्बनार्थत्वं प्रतिपद्यते इति न परमार्थतः कृष्णो रक्तो वाऽऽकाशो भवितुमर्हति। अतो न पण्डितैर्ब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्तिविषये ब्रह्मणोंऽशांश्येकदेशैकदेशिविकारविकारित्वकल्पना कार्या। सर्वकल्पनापनयनार्थसारपरत्वात्सर्वोपनिषदाम्। अतो हित्वा सर्वकल्पनामाकाशस्येव निर्विशेषता प्रतिपत्तव्या। "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः।

नाऽऽत्मानं ब्रह्मविलक्षणं कल्पयेदुष्णात्मके इवाग्नौ शीतैकदेशं प्रकाशात्मके

वा सवितरि तमएकदेशं सर्वकल्पनापनयनार्थसारपरत्वात्सर्वोपनिषदाम्। तस्मान्नामरूपोपाधिनिमित्ता एवाऽऽत्मन्यसंसारधर्मिणि सर्वे व्यवहाराः। ''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'' ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते'' इत्येवमादिमन्त्रवर्णेभ्यः। न स्वत आत्मनः संसारित्वमलक्तकाद्युपाधिसंयोगजनितरक्तस्फटिकादिबुद्धिवद्भ्रान्तमेव न परमार्थतः।

''ध्यायतीव लेलायतीव'' ''न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'' ''न कर्मणा लिप्यते पापकेन'' ''समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्'' ''शुनि चैव श्वपाके च'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः परमात्मनोऽसंसारितैव। अत एकदेशो विकारः शक्तिर्वा विज्ञानात्माऽन्यो वेति विकल्पयितुं निरवयवत्वाभ्युपगमे विशेषतो न शक्यते। अंशादिश्रुतिस्मृतिवादाश्चैकत्वार्थाः, न तु भेदप्रतिपादकाः, विवक्षितार्थैकवाक्ययोगादित्यवोचाम।

सर्वोपनिषदां परमात्मैकत्वज्ञापनपरत्वेऽथ किमर्थं तत्प्रतिकूलोऽर्थो विज्ञानात्मभेदः परिकल्प्यते इति। कर्मकाण्डप्रामाण्यविरोधपरिहारायेत्येके। कर्मप्रतिपादकानि हि वाक्यान्यनेकक्रियाकारकफलभोक्तृकर्त्राश्रयाणि। विज्ञानात्मभेदाभावे ह्यसंसारिण एव परमात्मन एकत्वे कथमिष्टफलासु क्रियासु प्रवर्तयेयुरनिष्टफलाभ्यो वा क्रियाभ्यो निवर्तयेयुः।

कस्य वा बद्धस्य मोक्षायोपनिषदारभ्येत। अपि च परमात्मैकत्ववादिपक्षे कस्मौ उपदेशः, कस्य चोपदेशग्रहणफलम्। बद्धस्य हि बन्धनाशायोपदेशस्तदभावे उपनिषच्छास्त्रं निर्विषयमेव।

एवं तर्ह्युपनिषद्वादिपक्षस्य कर्मकाण्डवादिपक्षेण चोद्यपरिहारयोः समानः पन्थाः। येन भेदाभावे कर्मकाण्डं निरालम्बनमात्मानं न लभते प्रामाण्यं प्रति तथोपनिषदपि। एवं तर्हि यस्य प्रामाण्ये स्वार्थविघातो नास्ति, तस्यैव कर्मकाण्डस्यास्तु प्रामाण्यम्। उपनिषदां तु प्रामाण्यकल्पनायां स्वार्थविघातो भवेदिति मा

भूत्प्रामाण्यम्। न हि कर्मकाण्डं प्रमाणं सदप्रमाणं भवितुमर्हति, न हि प्रदीपः प्रकाश्यं प्रकाशयति न प्रकाशयति चेति।

प्रत्यक्षादिप्रमाणविप्रतिषेधाच्च। न केवलमुपनिषदो ब्रह्मैकत्वं प्रतिपादयन्त्यः स्वार्थविघातं, कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातं च कुर्वन्ति, प्रत्यक्षादिनिश्चितभेदप्रतिपत्त्यर्थ-प्रमाणैश्च विरुध्यन्ते। तस्मादप्रामाण्यमेवोपनिषदाम्। अन्यार्थता वाऽस्तु न त्वेव ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थता। न, उक्तोत्तरत्वात्। प्रमाणस्य हि प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं वा प्रमोत्पादनानुत्पादननिमित्तम्। अन्यथा चेत्स्तम्भादीनां प्रामाण्यप्रसङ्गाच्छब्दादौ प्रमेये। किंचातः। यदि तावदुपनिषदो ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिप्रमां कुर्वन्ति कथमप्रमाणं भवेयुः। न कुर्वन्त्येवेति चेद्यथाऽग्निः शीतमिति स भवानेवं वदन्वक्तव्य उपनिषत्प्रामाण्य-प्रतिषेधार्थं भवतो वाक्यमुपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधं किं न करोत्येवाग्निर्वा रूप-प्रकाशम्। अथ करोति। यदि करोति, भवतु तदा प्रतिषेधार्थं प्रमाणं भवद्वाक्य-मग्निश्च रूपप्रकाशको भवेत्। प्रतिषेधवाक्यप्रामाण्ये भवत्येवोपनिषदां प्रामाण्यम्। अत्र भवन्तो ब्रुवन्तु कः परिहार इति।

नन्वत्र प्रत्यक्षा मद्वाक्य उपनिषत्प्रामाण्यप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिरग्नौ च रूप-प्रकाशनप्रतिपत्तिः प्रमा। कस्तर्हि भवतः प्रद्वेषो ब्रह्मैकत्वप्रत्ययप्रमां प्रत्यक्षां कुर्वतीषूपनिषत्सूपलभ्यमानासु। प्रतिषेधानुपपत्तेः। शोकमोहादिनिवृत्तिश्च प्रत्यक्षं फलं ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तिपारम्पर्यजनितमित्यवोचाम। तस्मादुक्तोत्तरत्वादुपनिषदं प्रत्य-प्रामाण्यशङ्का तावन्नास्ति।

यच्चोक्तं स्वार्थविघातकरत्वादप्रामाण्यमिति, तदपि न। तदर्थप्रतिपत्तेर्बाधका-भावात्। न ह्युपनिषद्भ्यो ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं नैव चेति प्रतिपत्तिरस्ति। यथाऽ-ग्निरुष्णः शीतश्चेत्यस्माद्वाक्याद्विरुद्धार्थद्वयप्रतिपत्तिः। अभ्युपगम्य चैतदवोचाम।

न तु वाक्यप्रामाण्यसमय एष न्यायो, यदुतैकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वम्। सति चानेकार्थत्वे स्वार्थश्च स्यात्तद्विघातकृच्च विरुद्धोऽन्योऽर्थः। न त्वेतद्वाक्यप्रमाणकानां विरुद्धमविरुद्धं चैकं वाक्यमनेकमर्थं प्रतिपादयतीत्येष समयः। अर्थैकत्वाद्ध्येकवाक्यता।

न च कानिचिदुपनिषद्वाक्यानि ब्रह्मैकत्वप्रतिषेधं कुर्वन्ति। यत्तु लौकिकं वाक्यमग्निरुष्णः शीतश्चेति न तत्रैकवाक्यता, तदेकदेशस्य प्रमाणान्तरविषयानुवादित्वात्। अग्निः शीत इत्येतदेकं वाक्यमग्निरुष्ण इति तु प्रमाणान्तरानुभवस्मारकं, न तु स्वयमर्थावबोधकम्। अतो नाग्निः शीत इत्यनेनैकवाक्यता प्रमाणान्तरानुभवस्मारणेनैवोपक्षीणत्वात्। यत्तु विरुद्धार्थप्रतिपादकमिदं वाक्यमिति मन्यते, तच्छीतोष्णपदाभ्यामग्निपदसामानाधिकरण्यप्रयोगनिमित्ता भ्रान्तिर्न त्वेकस्य वाक्यस्यानेकार्थत्वं लौकिकस्य वैदिकस्य वा।

यच्चोक्तं कर्मकाण्डप्रामाण्यविघातकृदुपनिषद्वाक्यमिति। तन्न, अन्यार्थत्वात्। ब्रह्मैकत्वप्रतिपादनपरा ह्युपनिषदो, नेष्टार्थप्राप्तौ साधनोपदेशं तस्मिन्वा पुरुषनियोगं वारयन्त्यनेकार्थत्वानुपपत्तेरेव। न च कर्मकाण्डवाक्यानां स्वार्थे प्रमा नोत्पद्यते। असाधारणे चेत्स्वार्थे प्रमामुत्पादयति वाक्यं कुतोऽन्येन विरोधः स्यात्।

ब्रह्मैकत्वे निर्विषयत्वात्प्रमा नोत्पद्यत एवेति चेत्। न, प्रत्यक्षत्वात्प्रमायाः। ''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'' ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्येवमादिवाक्येभ्यः प्रत्यक्षा प्रमा जायमाना, सा नैव भविष्यति यद्युपनिषदो ब्रह्मैक्त्वं बोधयिष्यन्तीत्यनुमानम्। न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रामाण्यं लभते। तस्मादसदेवैतद्गीयते प्रमैव नोत्पद्यत इति।

अपि च यथाप्राप्तस्यैवाविद्याप्रत्युपस्थापितस्य क्रियाकारकफलस्याऽऽश्रयणेनेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायसामान्ये प्रवृत्तस्य तद्विशेषमजानतस्तदाचक्षाणा श्रुतिः

क्रियाकारकफलभेदस्य लोकप्रसिद्धस्य सत्यतामसत्यतां वा नाऽऽचष्टे न च वारयति। इष्टानिष्टफलप्राप्तिपरिहारोपायविधिपरत्वात्।

यथा काम्येषु प्रवृत्ता श्रुतिः कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वे सत्यपि यथाप्राप्तानेव कामानुपादाय तत्साधनान्येव विधत्ते, न तु कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वादनर्थरूपत्वं चेति न विदधाति, तथा नित्याग्निहोत्रादिशास्त्रमपि मिथ्याज्ञानप्रभवं क्रियाकारकभेदं यथाप्राप्तमेवाऽऽदायेष्टविशेषप्राप्तिमनिष्टविशेषपरिहारं वा किमपि प्रयोजनं पश्यदग्निहोत्रादीनि कर्माणि विधत्ते, नाविद्यागोचरासद्वस्तुविषयमिति न प्रवर्तते। यथा काम्येषु। न च पुरुषा न प्रवर्तेरन्नविद्यावन्तो दृष्टत्वाद्यथा कामिनः।

विद्यावतामेव कर्माधिकार इति चेन्न। ब्रह्मैकत्वविद्यायां कर्माधिकारविरोधस्योक्तत्वात्। एतेन ब्रह्मैकत्वे निर्विषयत्वादुपदेशेन तद्ग्रहणफलाभावदोषपरिहार उक्तो वेदितव्यः।

पुरुषेच्छारागादिवैचित्र्याच्च। अनेका हि पुरुषाणामिच्छा, रागादयश्च दोषा विचित्रास्ततश्च बाह्यविषयरागाद्यपहृतचेतसो न शास्त्रं निवर्तयितुं शक्तम्। नापि स्वभावतो बाह्यविषयविरक्तचेतसो विषयेषु प्रवर्तयितुं शक्तम्। किंतु शास्त्रादेतावदेव भवतीदमिष्टसाधनमिदमनिष्टसाधनमिति साध्यसाधनसंबन्धविशेषाभिव्यक्तिः। प्रदीपादिवत्तमसि रूपादिज्ञानम्। न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलान्निवर्तयति नियोजयति वा। दृश्यन्ते हि पुरुषा रागादिगौरवाच्छास्त्रमप्यतिक्रामन्तः।

तस्मात्पुरुषमतिवैचित्र्यमपेक्ष्य साध्यसाधनसंबन्धविशेषाननेकधोपदिशति। तत्र पुरुषाः स्वयमेव यथारुचि साधनविशेषेषु प्रवर्तन्ते, शास्त्रं तु सवितृप्रदीपादिवदुदास्त एव। तथा कस्यचित्परोऽपि पुरुषार्थोऽपुरुषार्थवदवभासते, यस्य यथाऽवभासः, स तथारूपं पुरुषार्थं पश्यति, तदनुरूपाणि साधनान्युपादित्सते। तथाचार्थवादोऽपि—"त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः" इत्यादिः। तस्मान्न ब्रह्मैकत्वं ज्ञापयिष्यन्तो वेदान्ता विधिशास्त्रस्य बाधकाः।

न च विधिशास्त्रमेतावता निर्विषयं स्यात्। नाप्युक्तकारकादिभेदं विधिशास्त्रमुपनिषदां ब्रह्मैकत्वं प्रति प्रामाण्यं निवर्तयति। स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि, श्रोत्रादिवत्।

तत्र पण्डितंमन्याः केचित्स्वचित्तवशात्सर्वं प्रमाणमितरेतरविरुद्धं मन्यन्ते, तथा प्रत्यक्षादिविरोधमपि चोदयन्ति ब्रह्मैकत्वे।

शब्दादयः किल श्रोत्रादिविषया भिन्नाः प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते, ब्रह्मैकत्वं ब्रुवतां प्रत्यक्षविरोधः स्यात्। तथा श्रोत्रादिभिः शब्दाद्युपलब्धारः कर्तारश्च धर्माधर्मयोः प्रतिशरीरं भिन्ना अनुमीयन्ते संसारिणः। तत्र ब्रह्मैकत्वं ब्रुवतामनुमानविरोधश्च। तथा चाऽऽगमविरोधं वदन्ति। "ग्रामकामो यजेत"। "पशुकामो यजेत"। "स्वर्गकामो यजेत"इत्येवमादिवाक्येभ्यो ग्रामपशुस्वर्गादिकामास्तत्साधनाद्यनुष्ठातारश्च भिन्ना अवगम्यन्ते।

अत्रोच्यते — ते तु कुतर्कदूषितान्तःकरणा ब्राह्मणादिवर्णापसदा अनुकम्पनीया आगमार्थविच्छिन्नसंप्रदायबुद्धय इति। कथम्? श्रोत्रादिद्वारैः शब्दादिभिः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानैर्ब्रह्मण एकत्वं विरुध्यत इति वदन्तो वक्तव्याः। किं शब्दादीनां भेदेनाऽऽकाशैकत्वं विरुध्यत इत्यथ न विरुध्यते, न तर्हि, प्रत्यक्षविरोधः।

यच्चोक्तं प्रतिशरीरं शब्दाद्युपलब्धारो धर्माधर्मयोश्च कर्तारो भिन्ना अनुमीयन्ते, तथाच ब्रह्मैकत्वेऽनुमानविरोध इति। भिन्नाः कैरनुमीयन्त इति प्रष्टव्याः।

अथ यदि ब्रूयुः सर्वैरस्माभिरनुमानकुशलैरिति। के यूयमनुमानकुशला इत्येवं पृष्टानां किमुत्तरम्। शरीरेन्द्रियमनआत्मसु च प्रत्येकमनुमानकौशलप्रत्याख्याने शरीरेन्द्रियमनःसाधना आत्मानो वयमनुमानकुशला अनेककारकसाध्यत्वात्क्रियाणामिति चेत्। एवं तर्ह्यनुमानकौशले भवतामनेकत्वप्रसङ्गः। अनेककारकसाध्या हि क्रियेति भवद्भिरेवाभ्युपगतम्। तत्रानुमानं च क्रिया। सा शरीरेन्द्रियमनआत्मसाधनैः कार-

कैरात्मकर्तृका निर्वर्त्यत इत्येतत्प्रतिज्ञातम्। तत्र वयमनुमानकुशला इत्येवं वदद्भिः शरीरेन्द्रियमनःसाधना आत्मानः प्रत्येकं वयमनेक इत्यभ्युपगतं स्यात्। अहो अनुमानकौशलं दर्शितमपुच्छशृङ्गैस्तार्किकबलीवर्दैः। यो ह्यात्मानमेव न जानाति, स कथं मूढस्तद्गतं भेदमभेदं वा जानीयात्?

तत्र किमनुमिनोति? केन वा लिङ्गेन? न ह्यात्मनः स्वतो भेदप्रतिपादकं किंचिल्लिङ्गमस्ति, येन लिङ्गेनाऽऽत्मभेदं साधयेत्। यानि लिङ्गान्यात्मभेदसाधनाय नामरूपवन्त्युपन्यस्यन्ति, तानि नामरूपगतान्युपाधयः एवाऽऽत्मनो घटकरकापवरकभूछिद्राणीवाऽऽकाशस्य। यदाऽऽकाशस्य भेदलिङ्गं पश्यति, तदाऽऽत्मनोऽपि भेदलिङ्गं लभेत सः। न ह्यात्मनः परतो विशेषमभ्युपगच्छद्भिस्तार्किकशतैरपि भेदलिङ्गमात्मनो दर्शयितुं शक्यते। स्वतस्तु दूरादपनीतमेवाविषयत्वादात्मनः।

यद्यत्पर आत्मधर्मत्वेनाभ्युपगच्छति तस्य तस्य नामरूपात्मकत्वाभ्युपगमान्नामरूपाभ्यां चाऽऽत्मनोऽन्यत्वाभ्युपगमात्। "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुतेः। "नामरूपे व्याकरवाणि" इति च। उत्पत्तिप्रलयात्मके हि नामरूपे, तद्विलक्षणं च ब्रह्म। अतोऽनुमानस्यैवाविषयत्त्वात्कुतोऽनुमानविरोधः। एतेनाऽऽगमविरोधः प्रत्युक्तः।

यदुक्तं ब्रह्मैकत्वे यस्मा उपदेशो यस्य चोपदेशग्रहणफलं तदभावादेकत्वोपदेशानर्थक्यमिति। तदपि न, अनेककारकसाध्यत्वात्क्रियाणां कश्चोद्यो भवति। एकस्मिन्ब्रह्मणि निरुपाधिके नोपदेशो नोपदेष्टा न चोपदेशग्रहणफलम्। तस्मादुपनिषदां चाऽऽनर्थक्यमित्येतदभ्युपगतमेव। अथानेककारकविषयानर्थक्यं चोद्यते। न, स्वतोऽभ्युपगमविरोधादात्मवादिनाम्।

तस्मात्तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यमभयं दुर्गमिदमल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैश्च। "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा" "नैषा तर्केण मतिरापनेया" वरप्रसादलभ्यत्वश्रुतिस्मृतिवादेभ्यश्च। "तदेजति

।अथ द्वितीयाध्यायस्य शिशुनामद्वितीयं ब्राह्मणम्।

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं

जो भी कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और बन्धनरज्जु के सहित शिशु को जानता

तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके'' इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च। गीतासु च ''मत्स्थानि सर्वभूतानि'' इत्यादि। तस्मात्परब्रह्मव्यतिरेकेण संसारी नाम नान्यद्वस्त्वन्तरमस्ति। तस्मात्सुष्ठूच्यते ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्'' ''तदात्मानमेवावेत्'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' ''नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ'' इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यं नामोपनिषत्परा॥२०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्याजातशत्रुनामप्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

''ब्रह्म ज्ञपयिष्यामि''इति प्रस्तुतम्। तत्र यतो जगज्जातं यन्मयं यस्मिंश्च लीयते, तदेकं ब्रह्मेति विज्ञापितम्। किमात्मकं पुनस्तज्जगज्जायते लीयते च? पञ्चभूतात्मकम्। भूतानि च नामरूपात्मकानि। नामरूपे सत्यमिति ह्युक्तम्। तस्य सत्यस्य पञ्चभूतात्मकस्य सत्यं ब्रह्म। कथं पुनर्भूतानि सत्यमिति मूर्तामूर्तब्राह्मणम्। मूर्तामूर्तभूतात्मकत्वात्कार्यकरणात्मकानि भूतानि प्राणा अपि सत्यम्। तेषां कार्यकरणात्मकानां भूतानां सतत्त्वनिर्दिधारयिषया ब्राह्मणद्वयमारभ्यते सैवोपनिषद्व्याख्या। कार्यकरणसत्त्वावधारणद्वारेण हि सत्यस्य सत्यं ब्रह्मावधार्यते। अत्रोक्तम् 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इति। तत्र के प्राणाः, कियन्तो वा प्राणविषया उपनिषदः, का इति च ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन करणानां प्राणानां स्वरूपमवधारयति, पथिगतकूपारामाद्यवधारणवत्।

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद

वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम॥१॥

है, वह अपने से द्वेष करने वाले शीर्षस्थ सात शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है। यह जो मध्यमप्राण है-वही शिशु है। यह वर्तमान देह ही उसका आधान है और शिर प्रत्याधान है। प्राण स्थूणा (अन्न-पान-जनित शक्ति) है और अन्न बाँधने की रस्सी के समान है॥१॥

तस्येदं फलम्। किं तत्? **सप्त** सप्तसंख्याकान्ह **द्विषतो** द्वेषकर्तॄन्**भ्रातृव्या**न्भ्रातृव्या हि द्विविधा भवन्ति द्विषन्तोऽद्विषन्तश्च, तत्र द्विषन्तो ये भ्रातृव्यास्तान्द्विषतो भ्रातृव्यान**वरुणद्धि**। सप्त ये शीर्षण्याः प्राणा विषयोपलब्धिद्वाराणि तत्प्रभवा विषयरागाः सहजत्वाद्भ्रातृव्याः। ते ह्यस्य स्वात्मस्थां दृष्टिं विषयविषयां कुर्वन्ति, तेन ते द्वेष्टारो भ्रातृव्याः। प्रत्यगात्मेक्षणप्रतिषेधकरत्वात्। काठके चोक्तम्— ''पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्'' इत्यादि। तत्र यः शिश्वादीन्वेद तेषां याथात्म्यमवधारयति स एतान्भ्रातृव्यानवरुणद्ध्यपावृणोति विनाशयति।

तस्मै फलश्रवणेनाभिमुखीभूतायाऽऽह— अयं वाव शिशुः। कोऽसौ? **योऽयं मध्यमः प्राणः** शरीरमध्ये यः प्राणो लिङ्गात्मा यः पञ्चधा शरीरमाविष्टो बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्नित्युक्तः। यस्मिन्वाङ्मनःप्रभृतीनि करणानि विषक्तानि, पड्वीशशङ्कुनिदर्शनात्। स एष शिशुरिव विषयेष्वितरकरणवदनासक्तत्वात्। शिशुं साधानमित्युक्तम्। किं पुनस्तस्य शिशोर्वत्सस्थानीयस्य करणात्मन आधानम्। **तस्येदमेव** शरीर**माधानं** कार्यात्मकमाधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम्। तस्य हि शिशोः प्राणस्येदं शरीरमधिष्ठानम्। अस्मिन्हि करणान्यधिष्ठितानि लब्धात्मकान्युपलब्धिद्वाराणि भवन्ति, न तु प्राणमात्रे विषक्तानि। तथा हि दर्शितमजातशत्रुणा। उपसंहृतेषु करणेषु विज्ञानमयो नोपलभ्यते। शरीरदेशव्यूढेषु तु करणेषु विज्ञानमय उपलभमान उपलभ्यते। तच्च दर्शितं पाणिपेषप्रतिबोधनेन।

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते, तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनꣳ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो, या कनीनका, तयाऽऽदित्यो, यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या

ये नेत्रस्थ सात अक्षितियाँ उस मध्यमप्राण शिशु का सदा स्तवन करती हैं। उनमें से जो ये आँख में लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा 'रुद्र' इस मध्यमप्राण के अनुगत हैं तथा धूमादि से नेत्र में जो जल अभिव्यक्त होता है, उसके द्वारा 'मेघ' (उस मध्यमप्राण के अनुगत हैं) जो दर्शनशक्ति है, उसके द्वारा 'आदित्य', जो नेत्र में कृष्ण वर्ण है, उसके द्वारा 'अग्नि' और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र, इस मध्यमप्राण के अनुगत हैं,

---

इदं प्रत्याधानं शिरः प्रदेशविशेषेषु प्रति प्रत्याधीयत इति प्रत्याधानम्। **प्राणः स्थूणा**ऽन्नपानजनिता शक्तिः प्राणो बलमिति पर्यायाः। बलावष्टम्भो हि प्राणोऽस्मिञ्शरीरे। "स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव" इति दर्शनात्। यथा वत्सः स्थूणावष्टम्भ एवम्। शरीरपक्षपाती वायुः प्राणः स्थूणेति केचित्। **अन्नं दाम**। अन्नं हि भुक्तं त्रेधा परिणमते। यः स्थूलः परिणामः, स एतद्द्वयं भूत्वेमामप्येति मूत्रं च पुरीषं च। यो मध्यमो रसः स रसलोहितादिक्रमेण स्वकार्यं शरीरं साप्तधातुकमुपचिनोति। स्वयोन्यन्नागमे हि शरीरमुपचीयतेऽन्नमयत्वात्। विपर्ययेऽपक्षीयते पतति। यस्त्वणिष्ठो रसोऽमृतमूर्क्प्रभाव इति च कथ्यते। स नाभेरूर्ध्वं हृदयदेशमागत्य हृदयाद्विप्रसृतेषु द्वासप्ततिनाडीसहस्रेष्वनुप्रविश्य यत्तत्करणसंघातरूपं लिङ्गं शिशुसंज्ञकं तस्य शरीरे स्थितिकारणं भवति बलमुपजनयत्स्थूणाख्यम्। तेनान्नमुभयतःपाशवत्सदामवत्प्राणशरीरयोर्निबन्धनं भवति॥१॥

इदानीं तस्यैव शिशोः प्रत्याधान ऊढस्य चक्षुषि काश्चनोपनिषद उच्यन्ते—

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते। **तं** करणात्मकं प्राणं शरीरेऽन्नबन्धनं चक्षुष्यूढम**ेता** वक्ष्यमाणाः **सप्त** सप्तसंख्याका **अक्षितयो**ऽक्षितिहेतु-

पृथिव्यन्वायत्ता, द्यौरुत्तरया, नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद॥२॥

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्याऽऽसते ऋषयः

एवं नीचे के पलक द्वारा 'पृथिवी' तथा ऊपर के पलक द्वारा 'द्युलोक' इसमें अनुगत है। जो इस प्रकार इस मध्यमप्राण को जानता है, उसका अन्न कभी भी क्षीण नहीं होता॥२॥

इस अर्थ में यह मन्त्र है। नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है, उसमें अनेक रूपों वाला यश स्थित है। उसके तीर पर सप्त ऋषिगण और वेद

त्वादुपतिष्ठन्ते। यद्यपि मन्त्रकरणे तिष्ठतिरुपपूर्व आत्मनेपदी भवति। इहापि सप्तदेवताभिधानानि मन्त्रस्थानीयानि करणानि तिष्ठतेरतोऽत्राप्यात्मनेपदं न विरुद्धम्। कास्ता अक्षितय इत्युच्यन्ते। **तत्तत्र या इमाः** प्रसिद्धा **अक्षन्नक्षणि लोहिन्यो** लोहिता **राजयो** रेखास्ता**भिर्द्वारभूताभिरेनं** मध्यमं प्राणं **रुद्रोऽन्वायत्तोऽ**नुगतः। **अथ या अक्षन्नक्षण्यापो** धूमादिसंयोगेनाभिव्यज्यमाना**स्ताभिर**द्भिर्द्वारभूताभिः **पर्जन्यो** देवतात्माऽन्वायत्तोऽनुगत उपतिष्ठते इत्यर्थः। स चान्नभूतोऽक्षितिः प्राणस्य। ''पर्जन्ये वर्षत्यानन्दिनः प्राणा भवन्ति'' इति श्रुत्यन्तरात्। **या कनीनका** दृक्शक्तिस्**तया** कनीनकया द्वारेणा**ऽऽदित्यो** मध्यमं प्राणमुपतिष्ठते। **यत्कृष्णं** चक्षुषि **तेनैनमग्निरुपतिष्ठते। यच्छुक्लं** चक्षुषि **तेनेन्द्रोऽधरया वर्तन्या** पक्ष्मणै**नं पृथिव्यन्वायत्ता**ऽधरत्वसामान्यात्। **द्यौरुत्तरयो**र्ध्वत्वसामान्यात्। एताः सप्तान्नभूताः प्राणस्य संततमुपतिष्ठन्त इत्येवं यो वेद तस्यैतत्फलं—**नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद**॥२॥

तत्त्रैतस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रो **भवति— अर्वाग्बिलश्चमस** इत्यादिः। तत्र मन्त्रार्थमाचष्टे श्रुतिः— **अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न** इति।

सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥३॥

के द्वारा संवाद करने वाली आठवीं वाणी है। नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस क्या है? वह शिर ही है क्योंकि यह मस्तक ही नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है। उसमें विश्वरूप निहित यश क्या है? अध्यात्मवायु प्राण ही अनेकरूपों वाला यश इसमें निहित है। प्राणों के विषय में ही (सात श्रोत्रादि और उनमें सात भागों में विभक्त होकर फैला हुआ वायु यश है) ऐसा मन्त्र कहता है। उसके तीर पर सात ऋषि रहते हैं, यहाँ पर शीर्षस्थ श्रोत्रादि सप्त प्राण ही ऋषि हैं क्योंकि प्राणों के विषय में ही ऐसा मन्त्र कहता है। वाक् ही आठवीं है क्योंकि वेद के द्वारा संवाद करने वाली यही है। यही वेद के द्वारा संवाद करती है॥३॥

कः पुनरसाव**र्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः**। इदं तच्छिरश्चमसाकारं हि तत्। कथम्? एष ह्यर्वाग्बिलो मुखस्य बिलरूपत्वाच्छिरसो बुध्नाकारत्वादूर्ध्वबुध्नः। **तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूप**मिति यथा सोमश्चमसे, एवं तस्मिञ्छिरसि विश्वरूपं नानारूपं निहितं स्थितं भवति। किं पुनस्तद्यशः, प्रणाः वै विश्वरूपं प्राणाः श्रोत्रादयो वायवश्च मरुतः सप्तधा तेषु प्रसृता यश इत्येतदाह मन्त्रः। शब्दादिज्ञानहेतुत्वात्। **तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर** इति प्राणाः परिस्पन्दात्मकास्त एव च ऋषय प्राणानेतदाह मन्त्रः। **वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाने**ति। ब्रह्मणा संवादं कुर्वत्यष्टमी भवति। तद्धेतुमाह—वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते इति॥३॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्य-दत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्यायस्य शिशुनामद्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

ये दोनों श्रोत्र ही गोतम और भरद्वाज हैं। दक्षिण श्रोत्र ही गोतम है और वह वाम श्रोत्र ही भरद्वाज है। ये दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। इनमें दक्षिण नेत्र ही विश्वामित्र है और वाम नेत्र ही जमदग्नि है। ये दोनों नासिकाछिद्र ही वसिष्ठ तथा कश्यप हैं। इनमें दक्षिणछिद्र ही वसिष्ठ है और वामछिद्र कश्यप है तथा वाक् ही अत्रि है क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही पुरुष अन्न भक्षण करता है। जिसे अत्रि कहते हैं, निःसन्देह वह अत्तिनाम वाला ही है। जो इसे (इस पूर्वोक्त प्राण के यथार्थस्वरूप को) जानता है, वह सबका भक्षण करने वाला हो जाता हैं, इसका सब भोज्य हो जाता है अर्थात् भोज्यवर्ग से निवृत्त हो जाता है॥४॥

॥इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

के पुनस्तस्य चमसस्य तीरे **आसते ऋषय** इति? **इमावेव गोतमभरद्वाजौ** कर्णा**वयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजो** दक्षिणश्चोत्तरश्च विपर्ययेण वा। तथा चक्षुषी उपदिशन्नुवाचे**मावेव विश्वामित्रजमदग्नी** दक्षिणं विश्वामित्र उत्तरं जमदग्निर्विपर्ययेण वा। **इमावेव वसिष्ठकश्यपौ** नासिके उपदिशन्नुवाच। दक्षिणः पुटो भवति **वसिष्ठः**। उत्तरः **कश्यपः**

। अथ द्वितीयाध्यायस्य मूर्त्तामूर्त्तनामतृतीयं ब्राह्मणम्।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च॥१॥

ब्रह्म के दो रूप हैं; मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थावर और जंगम, सत् और त्यत्॥१॥

पूर्ववत्। **वागेवात्रिरदनक्रियायोगात्सप्तमः। वाचा ह्यन्नमद्यते। तस्मादत्तिर्ह वै प्रसिद्धं नामैतदत्तृत्वादत्तिरिति।** अत्तिरेव **सन्यदत्रिरित्युच्यते** परोक्षेण **सर्वस्यैत**स्यान्नजातस्य प्राणस्यात्रिनिर्वचनविज्ञाना**दत्ता भवति।** अत्तैव भवति नामुष्मिन्नन्नेन पुनः प्रतिपद्यत इत्येतदुक्तं भवति, **सर्वमस्यान्नं भवतीति। य एवमेत**द्यथोक्तं प्राणयाथात्म्यं **वेद** स एवं मध्यमः प्राणो भूत्वाऽऽधानप्रत्याधानगतो भोक्तैव भवति, न भोज्यं भोज्याद्व्यावर्तते इत्यर्थः॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

इति नवमाह्निकम्॥९॥

❀❀❀

तत्र प्राणा वै सत्यमित्युक्तम्। याः प्राणानामुपनिषदस्ता ब्रह्मोपनिषत्प्रसङ्गेन व्याख्याता एते ते प्राणा इति च। ते किमात्मकाः कथं वा तेषां सत्यत्वमिति च वक्तव्यमिति पञ्चभूतानां सत्यानां कार्यकरणात्मकानां स्वरूपावधारणार्थमिदं ब्राह्मणमारभ्यते। यदुपाधिविशेषापनयद्वारेण नेति नेतीति ब्रह्मणः सतत्त्वं निर्दिधारयिषितम्। तत्र द्विरूपं ब्रह्म, पञ्चभूतजनितकार्यकरणसंबद्धं मूर्तामूर्ताख्यं मर्त्यामृतस्वभावं तज्जनितवासनारूपं च सर्वज्ञं सर्वशक्ति सोपाख्यं भवति। क्रियाकारकफलात्मकं च सर्वव्यवहारास्पदम्। तदेव ब्रह्म विगतसर्वोपाधिविशेषं सम्यग्दर्शनविषयमजमजरममृतमभयं वाङ्मनसयोरप्यविषयमद्वैतत्वान्नेति नेतीति निर्दिश्यते। तत्र यदपोहद्वारेण नेति नेतीति निर्दिश्यते ब्रह्म, ते एते **द्वे वाव** वावशब्दोऽवधारणार्थः। द्वे एवेत्यर्थः। **ब्रह्मणः** परमात्मनो **रूपे,** रूप्यते याभ्याममरूपं परं ब्रह्माविद्याध्यारोप्यमाणाभ्याम्। के ते द्वे? **मूर्तं चैव** मूर्तमेव च। तथा**ऽमूर्तं**

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सतः एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥२॥

जो यह वायु अन्तरिक्ष इन दो भूतों से भिन्न (पृथ्वी, जल तथा तेज) हैं; वह मूर्त है। यह मर्त्य है। यह स्थावर है और चक्षुरादि से प्रतीत होने के कारण यह सत् उस इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का और इस सत् का, यही रस है। जो यह अन्तरिक्ष में सवितृमण्डल तपता है, यह सद्रूप तीनों भूतों का ही सारतम रस है॥२॥

चामूर्तमेव चेत्यर्थः। अन्तर्णीतस्वात्मविशेषणे मूर्तामूर्ते द्वे एवेत्यवधार्येते। कानि पुनस्तानि विशेषणानि मूर्तामूर्तयोरित्युच्यन्ते—**मर्त्यं च** मर्त्यं मरणधर्म्य**मृतं च** तद्विपरीतं, **स्थितं च** परिच्छिन्नं गतिपूर्वकं यत्स्थास्नु, **यच्च** यातीति यद्व्याप्यपरिच्छिन्नं स्थितविपरीतं **सच्च** सदित्यन्येभ्यो विशेष्यमाणासाधारणधर्मविशेषवत्। **त्यच्च** तद्विपरीतं त्यदित्येव सर्वदा परोक्षाभिधानार्हम्॥१॥

तत्र चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं तथाऽमूर्तं च। तत्र कानि मूर्तविशेषणानि कानि चेतराणीति विभज्यते। **तदेतन्मूर्तं** मूर्छितावयवमितरेतरानुप्रविष्टावयवं घनं संहतमित्यर्थः। किं **तद्यदन्यत्**कस्मादन्य**द्वायोश्चान्तरिक्षाच्च** भूतद्वयात्परिशेषात्पृथिव्यादिभूतत्रय**मेतन्मर्त्यं** यदेतन्मूर्ताख्यं भूतत्रयमिदं मर्त्यं मरणधर्मि। कस्माद्यस्मा**त्स्थितमेतत्**। परिच्छिन्नं ह्यर्थान्तरेण संप्रयुज्यमानं विरुध्यते। यथा घटः स्तम्भकुड्यादिना, तथा मूर्तं स्थितं परिच्छिन्नमर्थान्तरसंबन्धि ततोऽर्थान्तरविरोधान्मर्त्यमेतत्सद्विशेष्यमाणासाधारणधर्मवत्। तस्माद्धि परिच्छिन्नं परिच्छिन्नत्वान्मर्त्यमतो मूर्तं मूर्तत्वाद्वा मर्त्यं मर्त्यत्वात्स्थितं स्थितत्वात्सत्। अतोऽन्योन्याव्यभिचाराच्चतुर्णां धर्माणां यथेष्टं विशेषणविशेष्यभावो हेतुहेतुमद्भावश्च दर्शयितव्यः। सर्वथाऽपि तु

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यै-तस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधि-दैवतम्॥३॥

एवं वायु और अन्तरिक्ष ये दो भूत अमूर्त हैं, ये अमृत हैं। अतएव ये अस्थित हैं (क्योंकि इनका किसी से विरोध नहीं है, यानी अपरिच्छिन्न है) और यही 'त्यत्' है। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस चल का, इस 'त्यत्' का यह सार है, जो कि इस मण्डल में हिरण्यगर्भात्मक पुरुष है। यही इस भूतद्वय 'त्यत्' का सारतम रस है, यही अधिदैवत दर्शन है॥३॥

भूतत्रयं चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं रूपं ब्रह्मणः। तत्र चतुर्णामेकस्मिन्गृहीते विशेषणे इतरद्गृहीतमेव विशेषणमित्याह— **तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्य-स्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सतश्**चतुष्टयविशेषणस्य भूतत्रयस्येत्यर्थः। **एष रसः** सार इत्यर्थः। त्रयाणां हि भूतानां सारिष्ठः सविता। एतत्साराणि त्रीणि भूतानि यत एतत्कृतविभज्यमानरूपविशेषणानि भवन्ति। आधिदैविकस्य कार्यस्यैतद्रूपं यत्सविता यदेतन्मण्डलं **तपति। सतो** भूतत्रयस्य **हि** यस्मा**देष रस** इत्येतद्-गृह्यते। मूर्तो ह्येष सविता तपति, सारिष्ठश्च। यत्त्वाधिदैविकं करणं मण्डलस्याभ्यन्तरं तद्वक्ष्यामः॥२॥

अथामूर्तमथाधुनाऽमूर्तमुच्यते। वायुश्चान्तरिक्षं च यत्परिशेषितं भूतद्वयमेतद-मृतममूर्तत्वादस्थितमतोऽविरुध्यमानं केनचिदमृतममरणधर्म्येतद्यत्स्थितविपरीतं व्याप्य-परिच्छिन्नं यस्मादे**तद**न्येभ्योऽप्रविभज्यमानविशेषमत**स्त्यत्**, त्यदिति परोक्षाभिधा-नार्हमेव पूर्ववत्। **तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यतः एतस्य त्यस्य** चतुष्टयविशेषणस्यामूर्त**स्यैष रसः**। कोऽसौ? **य एष एतस्मिन्-मण्डले पुरुषः** करणात्मको हिरण्यगर्भः प्राण इत्यभिधीयते। यः स एषोऽमूर्तस्य

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्त-

अब अध्याय में मूर्तामूर्त का निरूपण किया जाता है। जो प्राण से भिन्न है तथा देहान्तर्गत आकाश से भिन्न है, यही शरीर में मूर्त है, यही मर्त्य है, यही स्थावर है और

भूतद्वयस्य रसः पूर्ववत्सारिष्ठः। एतत्पुरुषसारं चामूर्तं भूतद्वयं हैरण्यगर्भलिङ्गारम्भाय हि भूतद्वयाभिव्यक्तिरव्याकृतात्तस्मात्तादर्थ्यात्तत्सारं भूतद्वयम्। **त्यस्य ह्येष रसो** यस्माद्यो मण्डलस्थः पुरुषो मण्डलवन्न गृह्यते सारश्च भूतद्वयस्य। तस्मादस्ति मण्डलस्थस्य पुरुषस्य भूतद्वयस्य च साधर्म्यम्। तस्माद्युक्तं प्रसिद्धवद्धेतूपादानं त्यस्य ह्येष रस इति।

रसः कारणं हिरण्यगर्भविज्ञानात्मा चेतन इति केचित्। तत्र च किल हिरण्यगर्भविज्ञानात्मनः कर्म वाय्वन्तरिक्षयोः प्रयोक्तृ, तत्कर्म वाय्वन्तरिक्षाधारं सदन्येषां भूतानां प्रयोक्तृ भवति। तेन स्वकर्मणा वाय्वन्तरिक्षयोः प्रयोक्तेति तयो रसः कारणमुच्यत इति।

तन्न, मूर्तरसेनातुल्यत्वात्। मूर्तस्य तु भूतत्रयस्य रसो मूर्तमेव मण्डलं दृष्टं भूतत्रयसमानजातीयं, न चेतनस्तथाऽमूर्तयोरपि भूतयोस्तत्समानजातीयेनैवामूर्तरसेन युक्तं भवितुम्। वाक्यप्रवृत्तेस्तुल्यत्वात्। यथा हि मूर्तामूर्ते चतुष्टयधर्मवती विभज्येते, तथा रसरसवतोरपि मूर्तामूर्तयोस्तुल्येनैव न्यायेन युक्तो विभागः। न चार्धवैशसम्। मूर्तरसेऽपि मण्डलोपाधिश्चेतनो विवक्ष्यत इति चेत्। अत्यल्पमिदमुच्यते। सर्वत्रैव तु मूर्तामूर्तयोर्ब्रह्मरूपेण विवक्षितत्वात्। पुरुषशब्दोऽचेतनेऽनुपपन्न इति चेत्। न। पक्ष-पुच्छादिविशिष्टस्यैव लिङ्गस्य पुरुषशब्ददर्शनात्। "न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजाः प्रजनयितुमिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुष-मकुर्वन्" इत्यादावन्नरसमयादिषु च श्रुत्यन्तरे पुरुषशब्दप्रयोगात्। इत्यधिदैवत-मित्युक्तोपसंहारोऽध्यात्मविभागोक्त्यर्थः॥३॥

अथाधुनाऽध्यात्मं मूर्तामूर्तयोर्विभागः उच्यते। किं **तन्मूर्तमिदमेव।**

रात्मन्नाकाश, एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य

यही सत् हैं। जो यह नेत्र है; यही इस मूर्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का एवं प्रतीयमान सत् का सारतम रस है, यही सत् का सारतम रस है।।४॥

अब अमूर्त का वर्णन किया जाता है। जो यह प्राण और शरीर के भीतर आकाश है, यह अमूर्त है, यह अमृत है, यह अपरिच्छिन्न है और यह त्यत् है। उस अमूर्त का,

---

किंचेदं **यदन्यत्प्राणाच्च** वायोर्**यश्चायमन्तर**भ्यन्तरे **आत्मन्नात्मन्याकाशः** खं शरीरस्थश्च यः प्राण एतद्द्वयं वर्जयित्वा, यदन्यच्छरीरारम्भकं भूतत्रय**मेतन्मर्त्यमित्यादि** समानमन्यत्पूर्वेण। **एतस्य सतो ह्येष रसो यच्चक्षुरिति**। आध्यात्मिकस्य शरीरारम्भकस्य कार्यस्यैष रसः सारस्तेन हि सारेण सारवदिदं शरीरं समस्तं यथाऽधिदैवतमादित्यमण्डलेन। प्राथम्याच्च। चक्षुषी एव प्रथमे संभवतः संभवत इति। ''तेजो रसो निरवर्ततानिः''इति लिङ्गात्। तैजसं हि चक्षुः। एतत्सारमाध्यात्मिकं भूतत्रयम्। **सतो ह्येष रस** इति मूर्तत्वसारत्वे हेत्वर्थः ॥४॥

अथाधुनाऽमूर्तमुच्यते। यत्परिशेषितं भूतद्वयं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः एतदमूर्तम्। अन्यत्पूर्ववत्। एतस्य त्यस्यैष रसः सारो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषो दक्षिणेऽक्षन्निति विशेषग्रहणं शास्त्रप्रत्यक्षत्वात्। लिङ्गस्य हि दक्षिणेऽक्ष्णि विशेषतोऽ-

this being in the right eye.

त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥५॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति

इस अमृत का, इस यत् का एवं इस त्यत् का यही सारतम रस है। जो इस दक्षिणनेत्र में पुरुष है, यह त्यत् का ही सारतम रस है॥५॥

उस इस लिङ्गशरीररूप पुरुष का वासनामय स्वरूप ऐसा है, जैसा हल्दी में रंगा हुआ वस्त्र, सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा बरसाती लाल रंग का कीड़ा, जैसे अग्निज्वाला, जैसा सफेद कमल और जैसी बिजली की चमक होती है। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री विद्युत्चमक की भाँति एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अब उसके बाद ''नेति नेति'' यह ब्रह्म का आदेश बतलाया जाता है। इस आदेश से बढ़कर दूसरा आदेश है ही नहीं।

धिष्ठातृत्वं शास्त्रस्य प्रत्यक्षं, सर्वश्रुतिषु तथा प्रयोगदर्शनात्। त्यस्य ह्येष रस इति पूर्ववद्विशेषतोऽग्रहणादमूर्तत्वसारत्वे हेत्वर्थः ॥५॥

ब्रह्मण उपाधिभूतयोर्मूर्तामूर्तयोः कार्यकरणविभागेनाध्यात्माधिदैवतयोर्विभागो व्याख्यातः सत्यशब्दवाच्ययोः। तथेदानीं **तस्य हैतस्य पुरुषस्य** करणात्मनो लिङ्गस्य **रूपं** वक्ष्यामो वासनामयं मूर्तामूर्तवासनाविज्ञानमयसंयोगजनितं विचित्रं पटभित्तिचित्रवन्मायेन्द्रजालमृगतृष्णिकोपमं सर्वव्यामोहास्पदम्। एतावन्मात्रमेवाऽऽत्मेति विज्ञानवादिनो वैनाशिका यत्र भ्रान्ताः। एतदेव वासनारूपं पटरूपवदात्मनो द्रव्यस्य गुणः इति नैयायिका वैशेषिकाश्च संप्रतिपन्नाः। इदमात्मार्थं त्रिगुणं स्वतन्त्रं प्रधानाश्रयं पुरुषार्थेन हेतुना प्रवर्तत इति सांख्याः।

नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये मूर्त्तामूर्त्तनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

'सत्य का सत्य' यह उस ब्रह्म का नाम है। प्राण ही सत्य हैं। यह ब्रह्म उनका भी सत्य हैं (क्योंकि इस ब्रह्म का सत्यत्व ही निखिल प्रपंच के साथ तादात्म्य होकर प्रतीत हो रहा है)॥६॥

॥इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

औपनिषदंमन्या अपि केचित्प्रक्रियां रचयन्ति— मूर्तामूर्तराशिरेकः परमात्मराशिरुत्तमस्ताभ्यामन्योऽयं मध्यमः किल तृतीयः कर्त्रा भोक्त्रा विज्ञानमयेनाजातशत्रुप्रतिबोधितेन सह विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञासमुदायः प्रयोक्ता, कर्मराशिः प्रयोज्यः पूर्वोक्तो मूर्तामूर्तभूतराशिः साधनं चेति।

तत्र च तार्किकैः सह संधिं कुर्वन्ति। लिङ्गाश्रयश्चैष कर्मराशिरित्युक्त्वा पुनस्ततस्त्रस्यन्तः सांख्यत्वभयात्कर्मराशिः पुष्पाश्रय इव गन्धः पुष्पवियोगेऽपि पुटतैलाश्रयो भवति तद्वल्लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मैकदेशमाश्रयति। स परमात्मैकदेशः किलान्यत आगतेन गुणेन कर्मणा सगुणो भवति निर्गुणोऽपि स कर्ता भोक्ता बध्यते मुच्यते च विज्ञानात्मेति वैशेषिकचित्तमप्यनुसरन्ति। स च कर्मराशिर्भूतराशेरागन्तुकः स्वतो निर्गुण एव परमात्मैकदेशत्वात्। स्वत उत्थिताऽविद्याऽनागन्तुकाऽप्यूषरवदनात्मधर्म इत्यनया कल्पनया सांख्यचित्तमनुवर्तन्ते।

सर्वमेतत्तार्किकैः सह सामञ्जस्यकल्पनयारमणीयत्वं पश्यन्ति, नोपनिषत्सिद्धान्तं सर्वन्यायविरोधं च पश्यन्ति। कथम्? उक्ता एव तावत्सावयवत्वे परमात्मनः संसारित्वसव्रणत्वकर्मफलदेशसंसरणानुपपत्त्यादयो दोषाः। नित्यभेदे च विज्ञानात्मनः

परेणैकत्वानुपपत्तिः। लिङ्गमेवेति चेत्परमात्मन उपचरितदेशत्वेन कल्पितं घटकरक-भूछिद्राकाशादिवत्। तथा लिङ्गवियोगेऽपि परमात्मदेशाश्रयणं वासनायाः।

अविद्यायाश्च स्वत उत्थानमूषरवदित्यादिकल्पनाऽनुपपन्नैव। न च वास्यदेश-व्यतिरेकेण वासनाया वस्त्वन्तरसंचरणं मनसाऽपि कल्पयितुं शक्यम्। न च श्रुतयो अनुगच्छन्ति ''कामः संकल्पो विचिकित्सा'', ''हृदये ह्येव रूपाणि'', ''ध्यायतीव लेलायतीव'', ''कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'' ''तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान्हृदय-स्य''इत्याद्याः। न चाऽऽसां श्रुतीनां श्रुतादर्थान्तरकल्पना न्याय्या। आत्मनः परब्रह्म-त्वोपपादनार्थपरत्वादासामेतावन्मात्रार्थोपक्षयत्वाच्च सर्वोपनिषदाम्। तस्माच्छ्रुत्यर्थ-कल्पनाऽकुशलाः सर्व एवोपनिषदर्थमन्यथा कुर्वन्ति, तथाऽपि वेदार्थश्चेत्स्यात्कामं भवतु न मे द्वेषः। जीव, ब्रह्म, जगत्.

न च द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे इति राशित्रयपक्षे समञ्जसम्। यदा तु मूर्तामूर्ते तज्जनितवासनाश्च मूर्तामूर्ते एव द्वे रूपे, ब्रह्म च रूपि तृतीयं, न चान्य-च्चतुर्थमन्तराले, तदैतदनुकूलमवधारणं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे इति। अन्यथा ब्रह्मै-कदेशस्य विज्ञानात्मनो रूपे इति कल्प्यं परमात्मनो वा विज्ञानात्मद्वारेणेति। तदा च रूपे एवेति द्विवचनमसमञ्जसम्। रूपाणीति वासनाभिः सह बहुवचनं युक्ततरं स्यात्। द्वे च मूर्तामूर्ते वासनाश्च तृतीयमिति।

अथ मूर्तामूर्ते एव परमात्मनो रूपे, वासनास्तु विज्ञानात्मन इति चेत्। तदाऽपि विज्ञानात्मद्वारेण विक्रियमाणस्य परमात्मन इतीयं वाचोयुक्तिरनर्थिका स्यात्। वासनाया अपि विज्ञानात्मद्वारत्वस्याविशिष्टत्वात्। न च वस्तु वस्त्वन्तरद्वारेण विक्रियत इति मुख्यया वृत्त्या शक्यं कल्पयितुम्। न च विज्ञानात्मा परमात्मनो वस्त्वन्तरम्। तथा कल्पनायां सिद्धान्तहानात्। तस्माद्वेदार्थमूढानां स्वचित्तप्रभवा एवमादिकल्पना अक्षरबाह्याः। न ह्यक्षरबाह्यो वेदार्थो वेदार्थोपकारी वा। निर-पेक्षत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं प्रति। तस्माद्राशित्रयकल्पनाऽसमञ्जसा।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष इति लिङ्गात्मा प्रस्तुतोऽध्यात्मेऽधिदैवे च "य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः" इति तस्येति प्रकृतोपादानात्स एवोपादीयते, योऽसौ त्यस्यामूर्तस्य रसो न तु विज्ञानमयः। ननु विज्ञानमयस्यैवैतानि रूपाणि कस्मान्न भवन्ति, विज्ञानमयस्यापि प्रकृतत्वात्तस्येति च प्रकृतोपादानात्। नैवम्, विज्ञानमयस्यारूपित्वेन विजिज्ञापयिषितत्वात्। यदि हि तस्यैव विज्ञानमयस्यैतानि माहारजनादीनि रूपाणि स्युस्तस्यैव नेति नेतीत्यनाख्येयरूपतयाऽऽदेशो न स्यात्। हल्दी से रंगे कपड़ा।

नन्वन्यस्यैवासावादेशो न तु विज्ञानमयस्येति। न। षष्ठान्ते उपसंहारात् "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति विज्ञानमयं प्रस्तुत्य "स एष नेति नेतीति विज्ञपयिष्यामि" इति च प्रतिज्ञाया अर्थवत्त्वात्। यदि च विज्ञानमयस्यैवासंव्यवहार्यमात्मस्वरूपं ज्ञापयितुमिष्टं स्यात्प्रध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं, ततः इयं प्रतिज्ञाऽर्थवती स्यात्। येनासौ ज्ञापितो जानात्यात्मानमेवाहं ब्रह्मास्मीति शास्त्रनिष्ठां प्राप्नोति न बिभेति कुतश्चनेति। अथ पुनरन्यो विज्ञानमयोऽन्यो नेति नेतीति व्यपदिश्यते, तदाऽन्यददो ब्रह्मान्योऽहमस्मीति विपर्ययो गृहीतः स्यात्। नाऽऽत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तस्य हैतस्येति लिङ्गपुरुषस्यैवैतानि रूपाणि।

सत्यस्य च सत्ये परमात्मस्वरूपे वक्तव्ये निरवशेषं सत्यं वक्तव्यम्। सत्यस्य च विशेषरूपाणि वासनास्तासामिमानि रूपाण्युच्यन्ते। एतस्य पुरुषस्य प्रकृतस्य लिङ्गात्मन एतानि रूपाणि। कानि तानीत्युच्यन्ते— **यथा** लोके महारजनं हरिद्रा, तया रक्तं **माहारजनं** यथा **वासो** लोके। एवं स्त्र्यादिविषयसंयोगे तादृशं वासनारूपं रञ्जनाकारमुत्पद्यते चित्तस्य। येनासौ पुरुषो रक्त इत्युच्यते वस्त्रादिवत्। यथा च लोके **पाण्ड्वाविकम्।** अवेरिदमाविकमूर्णादि। यथा च तत्पाण्डुरं भवति तथाऽन्यद्वासनारूपम्। **यथा** च लोक **इन्द्रगोपो**ऽत्यन्तरक्तो भवत्येवमस्य वासनारूपम्। क्वचिद्विषयविशेषापेक्षया रागस्य तारतम्यं क्वचित्पुरुषचित्तवृत्त्यपेक्षया। **यथा** च लोके**ऽग्न्यर्चि**र्भास्वरं भवति तथा क्वचित्कस्यचिद्वासनारूपं भवति। **यथा पुण्डरीकं** शुक्लं, तद्वदपि च वासनारूपं कस्यचिद्भवति। **यथा सकृ-**

विद्युत्तं यथा लोके सकृद्विद्योतनं सर्वतः प्रकाशकं भवति, तथा ज्ञानप्रकाशविवृद्ध्यपेक्षया कस्यचिद्वासनारूपमुपजायते।

नैषां वासनारूपाणामादिरन्तो मध्यं संख्या वा देशः कालो निमित्तं वाऽवधार्यते, असंख्येयत्वाद्वासनाया, वासनाहेतूनां चाऽऽनन्त्यात्। तथा च वक्ष्यति षष्ठे "इदंमयोऽदोमयः" इत्यादि। तस्मान्न स्वरूपसंख्यावधारणार्था दृष्टान्ता यथा माहारजनं वास इत्यादयः, किं तर्हि? प्रकारप्रदर्शनार्थाः। एवंप्रकाराणि हि वासनारूपाणीति। यत्तु वासनारूपमभिहितमन्ते सकृद्विद्योतनमिवेति तत्किल हिरण्यगर्भस्याव्याकृतात्प्रादुर्भवतस्तडिद्वत्सकृदेव व्यक्तिर्भवतीति, तदीयं वासनारूपं हिरण्यगर्भस्य यो वेद तस्य **सकृद्विद्युत्तेव। ह वा** इत्यवधारणार्थौ। एवमे**वास्य श्रीः** ख्याति**र्भवती**त्यर्थः। यथा हिरण्यगर्भस्यै**वमे**तद्यथोक्तं वासनारूपमन्त्यं **यो वेद**।

एवं निरवशेषं सत्यस्य स्वरूपमभिधाय यत्तत्सत्यस्य सत्यमवोचाम तस्यैव स्वरूपावधारणार्थं ब्रह्मण इदमारभ्यते— **अथा**नन्तरं सत्यस्य स्वरूपनिर्देशानन्तरं यत्सत्यस्य सत्यं तदेवावशिष्यते, यस्मा**दतः**तस्मात्सत्यस्य सत्यं स्वरूपं निर्देक्ष्यामः। **आदेशो** निर्देशो ब्रह्मणः। कः पुनरसौ निर्देश इत्युच्यते— **नेति नेती**त्येष निर्देशः।

ननु कथमाभ्यां नेति नेतीति शब्दाभ्यां सत्यस्य सत्यं निर्दिदिक्षितमिति। उच्यते— सर्वोपाधिविशेषापोहेन। यस्मिन्न कश्चिद्विशेषोऽस्ति नाम वा रूपं वा कर्म वा भेदो वा जातिर्वा गुणो वा। तद्द्वारेण हि शब्दप्रवृत्तिर्भवति। न चैषां कश्चिद्विशेषो ब्रह्मण्यस्ति। अतो न निर्देष्टुं शक्यत इदं तदिति। गौरसौ स्पन्दते शुक्लो विषाणीति यथा लोके निर्दिश्यते। तथा अध्यारोपितनामरूपकर्मद्वारेण ब्रह्म निर्दिश्यते "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानघन एव ब्रह्माऽऽत्मा" इत्येवमादिशब्दैः। यदा पुनः स्वरूपमेव निर्दिदिक्षितं भवति निरस्तसर्वोपाधिविशेषं, तदा न शक्यते केन-

चिदपि प्रकारेण निर्देष्टुम्। तदाऽयमेवाभ्युपायो, तदुत प्राप्तनिर्देशप्रतिषेधद्वारेण नेति नेतीति निर्देशः।

इदं च नकारद्वयं वीप्साव्याप्त्यर्थम्। यद्यत्प्राप्तं तत्तन्निषिध्यते। तथा च सत्यनिर्दिष्टाशङ्का ब्रह्मणः परिहृता भवति। अन्यथा हि नकारद्वयेन प्रकृतद्वय-प्रतिषेधे यदन्यत्प्रकृतात्प्रतिषिद्धद्वयाद्ब्रह्म तन्न निर्दिष्टं, कीदृशं तु खल्वित्याशङ्का न निवर्तिष्यते। तथा चानर्थकश्च स निर्देशः पुरुषस्य, विविदिषाया अनिवर्तकत्वात्। ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति च वाक्यमपरिसमाप्तार्थं स्यात्। यदा तु सर्वदिक्कालादि-विविदिषा निवर्तिता स्यात्सर्वोपाधिनिराकरणद्वारेण, तदा सैन्धवघनवदेकरसं प्रज्ञान-घनमनन्तरमबाह्यं सत्यस्य सत्यमहं ब्रह्मास्मीति सर्वतो निवर्तते विविदिषाऽऽत्मन्ये-वावस्थिता प्रज्ञा भवति। तस्माद्वीप्सार्थं नेति नेतीति नकारद्वयम्।

ननु महता यत्नेन परिकरबन्धं कृत्वा किं युक्तमेव निर्देष्टुं ब्रह्म। बाढम्। कस्मात्? न हि यस्मादिति नेति नेत्येतस्मादितीति व्याप्तव्यप्रकारा नकारद्वयस्य विषया निर्दिश्यन्ते। यथा ग्रामो ग्रामो रमणीय इत्यन्यत्परं निर्देशनं नास्ति। तस्मा-दयमेव निर्देशो ब्रह्मणः। यदुक्तं तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमित्येवंप्रकारेण सत्यस्य सत्यं तत्परं ब्रह्म। अतो युक्तमुक्तं नामधेयं ब्रह्मणो नामैव नामधेयम्। किं तत्सत्यस्य सत्यं? प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति॥६॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
मूर्त्तामूर्त्तनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

।अथ द्वितीयाध्यायस्य मैत्रेयीनाम चतुर्थं ब्राह्मणम्।

आत्मेत्येवोपासीत। तदेवैतस्मिन्पदनीयमात्मतत्त्वं यस्मात्प्रेयः पुत्रादेरित्यु-पन्यस्तस्य वाक्यस्य व्याख्यानविषये संबन्धप्रयोजने अभिहिते ''तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्'' इति। एवं प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्याया विषय इत्येतदु-पन्यस्तम्। अविद्यायाश्च विषयः ''अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद'' इत्यारभ्य

चातुर्वर्ण्यप्रविभागादिनिमित्तपाङ्क्तकर्मसाध्यसाधनलक्षणो बीजाङ्कुरवद्व्याकृताव्याकृतस्वभावो नामरूपकर्मात्मकः संसारः "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" इत्युपसंहृतः शास्त्रीय उत्कर्षलक्षणो ब्रह्मलोकान्तोऽधोभावश्च स्थावरान्तोऽशास्त्रीयः पूर्वमेव प्रदर्शितो "द्वया ह" इत्यादिना।

एतस्मादविद्याविषयाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयब्रह्मविद्यायामधिकारः कथंचिदपि स्यादिति तृतीयेऽध्याये उपसंहृतः समस्तोऽविद्याविषयः। चतुर्थे तु ब्रह्मविद्याविषयं प्रत्यगात्मानं ब्रह्म ते ब्रवाणीति ब्रह्म ज्ञपयिष्यामीति च प्रस्तुत्य तद्ब्रह्मैकमद्वयं सर्वविशेषशून्यं क्रियाकारकफलस्वभावसत्यशब्दवाच्याशेषभूतधर्मप्रतिषेधद्वारेण नेति नेतीति ज्ञापितम्।

अस्या ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वेन संन्यासो विधित्सितः। जायापुत्रवित्तादिलक्षणं पाङ्क्तं कर्माविद्याविषयं यस्मान्नाऽऽत्मप्राप्तिसाधनम्। अन्यसाधनं ह्यन्यस्मै फलसाधनाय प्रयुज्यमानं प्रतिकूलं भवति। न हि बुभुक्षापिपासानिवृत्त्यर्थं धावनं गमनं वा साधनम्। मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाधनत्वेन हि पुत्रादिसाधनानि श्रुतानि, नाऽऽत्मप्राप्तिसाधनत्वेन। विशेषितत्वाच्च। न च ब्रह्मविदो विहितानि काम्यत्वश्रवणादेतावान्वै काम इति। ब्रह्मविदश्चाऽऽप्तकामत्वादाप्तकामस्य कामानुपपत्तेः। "येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति च श्रुतेः।

केचित्तु ब्रह्मविदोऽप्येषणासंबन्धं वर्णयन्ति, तैर्बृहदारण्यकं न श्रुतम्। पुत्राद्येषणानामविद्वद्विषयत्वम्। विद्याविषये च येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इत्यतः किं प्रजया करिष्याम इत्येष विभागस्तैर्न श्रुतः श्रुत्या कृतः। सर्वक्रियाकारकफलोपमर्दस्वरूपायां च विद्यायां सत्यां सह कार्येणाविद्याया अनुपपत्तिलक्षणश्च विरोधस्तैर्न विज्ञातो व्यासवाक्यं च तैर्न श्रुतम्। कर्मविद्यास्वरूपयोर्विद्याऽविद्यात्मकयोः प्रतिकूलवर्तनं विरोधः।

"यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म, त्यजेति च।
कां गतिं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥

संन्यस्य श्रवणं कुर्यान्नाऽऽन्यत् कुर्यादिति: केचित्
शंकरानन्द गीता ४-२१ अन्त

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य, उद्यास्यन्वा

अरी मैत्रेयी! ऐसा याज्ञवल्क्य नामक ऋषि ने अपनी भार्या से कहा— मैं अपने इस गार्हस्थ्य जीवन से ऊपर उठकर संन्यास आश्रम में जाना चाहता हूँ (अतः इस विषय में

एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्भवान्प्रब्रवीतु मे।
एतावन्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः''॥

इत्येवं पृष्टस्य प्रतिवचनेन—

''कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः''॥

इत्येवमादिविरोधः प्रदर्शितः।

तस्मान्न साधनान्तरसहिता ब्रह्मविद्या पुरुषार्थसाधनं, सर्वविरोधात्साधननिरपेक्षैव पुरुषार्थसाधनमिति पारिव्राज्यं सर्वसाधनसंन्यासलक्षणमङ्गत्वेन विधित्स्यते। ''एतावदेवामृतत्वसाधनम्'' इत्यवधारणात्षष्ठसमाप्तौ लिङ्गाच्च कर्मी सन्याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजेति।

मैत्रेय्यै च कर्मसाधनरहितायै साधनत्वेनामृतत्वस्य ब्रह्मविद्योपदेशाद्वित्तनिन्दावचनाच्च। यदि ह्यमृतत्वसाधनं कर्म स्याद्वित्तसाध्यं पाङ्क्तं कर्मेति तन्निन्दावचनमनिष्टं स्यात्। यदि तु परितित्याजयिषितं कर्म, ततो युक्ता तत्साधननिन्दा। कर्माधिकारनिमित्तवर्णाश्रमादिप्रत्ययोपमर्दाच्च ''ब्रह्म तं परादात्क्षत्त्रं तं परादात्'' इत्यादिना। न हि ब्रह्मक्षत्त्राद्यात्मप्रत्ययोपमर्दे ब्राह्मणेनेदं कर्त्तव्यं क्षत्त्रियेणेदं कर्तव्यमिति विषयाभावादात्मानं लभते विधिः। यस्यैव पुरुषस्योपमर्दितः प्रत्ययो ब्रह्मक्षत्त्राद्यात्मविषयस्तस्य तत्प्रत्ययसंन्यासात्तत्कार्याणां कर्मणां कर्मसाधनानां चार्थप्राप्तश्च संन्यासः। तस्मादात्मज्ञानाङ्गत्वेन संन्यासविधित्सयैवाऽऽख्यायिकेयमारभ्यते।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीं स्वभार्यामामन्त्रितवान्याज्ञ-

अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्या-यन्याऽन्तं करवाणीति॥१॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवो-पकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृ-तत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति॥२॥

तेरी अनुमति चाहता हूँ) अपनी इस दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा भी कर देता हूँ (तत्पश्चात् मैं चला जाऊँगा)॥१॥

तब उस मैत्रेयी ने कहा— हे भगवन्! यदि यह धन-धान्य से सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी मुझे प्राप्त हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा— नहीं-नहीं। धन से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती है। उससे तो केवल इतना ही होगा कि जैसे विपुल भोगसामग्री से युक्त पुरुष का जीवन होता है; वैसा ही तेरा भी जीवन होगा॥२॥

वल्क्यो नाम ऋषिः। **उद्यास्यन्नूर्ध्वं** यास्यन्पारिव्राज्याख्यमाश्रमान्तरं **वा अरे** इति संबोधन**महमस्मा**द्गार्हस्थ्या**त्स्थाना**दाश्रमादूर्ध्वं गन्तुमिच्छ**न्नस्मि** भवामि। अतो **हन्ता**नुमतिं प्रार्थयामि **ते** तव। किंचान्यत्ते तवा**नया** द्वितीयया भार्यया **कात्यायन्याऽन्तं** विच्छेदं **करवाणि**। पतिद्वारेण युवयोर्मया संबध्यमानयोर्यः संबन्ध आसीत्तस्य संबन्धस्य विच्छेदं करवाणि द्रव्यविभागं कृत्वा वित्तेन संविभज्य युवां गमिष्यामि॥१॥

सैवमुक्ता होवाच यद्यदि न्विति वितर्के **मे** ममे**यं पृथिवी भगो** भगवन्**सर्वा** सागरपरिक्षिप्ता **वित्तेन** धनेन **पूर्णा स्यात्कथं** न कथंचने-

अमरत्व साधना का प्रश्न

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती

तब उस मैत्रेयी ने कहा— जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। भगवान् जो कुछ अमरत्व का साधन जानते हैं, उसी का उपदेश मुझे भी करें॥३॥

तब यह याज्ञवल्क्य बोले— धन्यवाद, अरी प्रिया! तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी अनुकूल बात ही कह रही है, अतः बहुत ठीक है! आ, यहाँ

त्याक्षेपार्थः, प्रश्नार्थो वा, **तेन** पृथिवीपूर्णवित्तसाध्येन कर्मणाऽग्निहोत्रादिना**ऽमृता** किं **स्यामिति** व्यवहितेन संबन्धः। प्रत्युवाच **याज्ञवल्क्यः**। कथमिति यद्याक्षेपार्थमनुमोदनं **नेति होवाच याज्ञवल्क्यः** इति। प्रश्नश्चेत्प्रतिवचनार्थं नैव स्या अमृता, किं तर्हि **यथैव** लोक **उपकरणवतां** साधनवतां **जीवितं** सुखोपभोगसंपन्नं, **तथैव** तद्वदेव तव **जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशा** मनसाऽप्यस्ति **वित्तेन** वित्तसाध्येन कर्मणे**ति**॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी। एवमुक्ता प्रत्युवाच मैत्रेयी, यद्येवं **येनाहं नामृतां स्यां किमहं तेन** वित्तेन **कुर्यां, यदेव भगवान्**केवलममृतत्वसाधनं **वेद तदेवा**मृतत्वसाधनं **मे** मह्यं **ब्रूहि**॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः। एवं वित्तसाध्येऽमृतत्वसाधने प्रत्याख्याते याज्ञवल्क्यः स्वाभिप्रायसंपत्तौ तुष्टः आह। स होवाच **प्रियेष्टा बते**त्यनुकम्प्याऽऽह। **अरे** मैत्रेयि **नोऽ**स्माकं पूर्वमपि प्रिया **सती** भवन्तीदानीं **प्रियमेव** चित्तानुकूलं **भाषसे**। अत **एह्यास्स्वोपविश व्याख्यास्यामि** यत्ते तवेष्टम-

प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥४॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया चतुर्थी षष्ठी अर्थे. प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया

पर बैठ जा, मैं तुझे अमरत्व के साधन की व्याख्या सुनाऊँगा। तत्पश्चात् व्याख्यान किये हुये वाक्यों के अर्थ का भलीभाँति चिन्तन करना अर्थात् मनन एवं निदिध्यासन करना॥४॥

याज्ञवल्क्य बोले— अरी मैत्रेयी! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री को पति प्रिय होता है। वैसे ही स्त्री के प्रयोजन के लिये पति को स्त्री प्यारी नहीं होती, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्यारी होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये

मृतत्वसाधनमात्मज्ञानं कथयिष्यामि। **व्याचक्षाणस्य तु मे** मम व्याख्यानं कुर्वतो **निदिध्यासस्व** वाक्यान्यर्थतो निश्चयेन ध्यातुमिच्छेति॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्योऽमृतत्वसाधनं वैराग्यमुपदिदिक्षुर्जायापति-पुत्रादिभ्यो विरागमुत्पादयति तत्संन्यासाय। **न वै**। वैशब्दः प्रसिद्धस्मरणार्थः। प्रसिद्धमेवैतल्लोके। **पत्युर्भर्तुः कामाय** प्रयोजनाय जायायाः **पतिः प्रियो** न

भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय

ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं। देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते हैं। भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। किंबहुना सबके प्रयोजन के लिये

भवति किं तर्ह्यात्मनस्तु **कामाय** प्रयोजनायैव भार्यायाः **पतिः प्रियो भवति**। तथा **न वा अरे जायाया** इत्यादि समानमन्यत्। **न वा अरे पुत्राणाम्। न वा अरे वित्तस्य। न वा अरे ब्रह्मणः। न वा अरे क्षत्रस्य। न वा अरे लोकानाम्। न वा अरे देवानाम्। न वा अरे भूतानाम्। न वा अरे सर्वस्य।** पूर्वं पूर्वं यथासन्ने प्रीतिसाधने वचनम्।

* "अग्निहोत्रं जुहोति । यवागूं पचति" यवागू हवन के लिये न कि प्रसाद बाटने के लिये
यहाँ अर्थ क्रम न तु पाठ क्रम:
सत्यवति दृष्टफले अदृष्ट(फल) कल्पना अन्याय्या

भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्॥५॥

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ॥ तात्पर्यावधारणम् श्रवणम्

सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! निःसन्देह यह आत्मा ही दर्शन के योग्य है, इसे (आचार्य तथा शास्त्र द्वारा पहले) श्रवण करना चाहिए, (तत्पश्चात् तर्क द्वारा) मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन करना चाहिये। हे मैत्रेयी! इस आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से ये सभी विज्ञात हो जाते हैं (क्योंकि लोक में अधिष्ठान रज्ज्वादि के ज्ञान से अध्यस्त सर्पादि विज्ञात होते देखे गये हैं)॥५॥

प्रमाणगत असंभावना श्रवण से मिटेगा ॥
प्रमेयगत असंभावना मनन से मिटेगा ॥
विपरीत भावना गत असंभावना निदिध्यासन से मिटेगा ॥

तत्र तत्रेष्टतरत्वाद्वैराग्यस्य। सर्वग्रहणमुक्तानुक्तार्थम्। तस्माल्लोकप्रसिद्धमेतदात्मैव प्रियो नान्यत्। तदेतत्प्रेयः पुत्रादित्युपन्यस्तं तस्यैतद्वृत्तिस्थानीयं प्रपञ्चनम्। तस्मादात्मप्रीतिसाधनत्वाद्गौण्यन्यत्र प्रीतिरात्मन्येव मुख्या। तस्मादात्मा **वा अरे द्रष्टव्यो** दर्शनार्हो दर्शनविषयमापादयितव्यः **श्रोतव्यः** पूर्वमाचार्यत आगमतश्च। पश्चा**न्मन्तव्यस्**तर्कतः ततो **निदिध्यासितव्यो** निश्चयेन ध्यातव्यः। एवं ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः। यदैकत्वमेतान्युपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति, नान्यथा श्रवणमात्रेण। यद्ब्रह्मक्षत्रादि कर्मनिमित्तं वर्णाश्रमादिलक्षणमात्मन्यविद्याध्यारोपितप्रत्ययविषयं क्रियाकारकफलात्मकमविद्याप्रत्ययविषयं रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययस्तदुपमर्दनार्थमाह— आत्मनि खल्वरे मैत्रेयि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं भवति॥५॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्त्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्त्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्त्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा॥६॥

ब्राह्मणजाति उस पुरुष को परास्त कर देती है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मणजाति को समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजाति को आत्मा से भिन्न समझता है। सभी लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। उसे सभी भूत परास्त कर देते हैं, जो आत्मा से भिन्न सभी भूतों को समझता है। किंबहुना— उसे सभी परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। अतः यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवता, ये भूत और ये सब जो कुछ हैं; यह सब एकमात्र आत्मतत्त्व ही है (क्योंकि आदि, मध्य और अन्त में आत्मा को छोड़ कर पृथक् इनकी उपलब्धि नहीं होती है)॥६॥

ननु कथमन्यस्मिन्विदितेऽन्यद्विदितं भवति। नैष दोषः। न ह्यात्मव्यतिरेकेणान्यत्किंचिदस्ति। यद्यस्ति न तद्विदितं स्यान्न त्वन्यदस्त्यात्मैव तु सर्वम्। तस्मात्सर्वमात्मनि विदिते विदितं स्यात्। कथं पुनरात्मैव सर्वमित्येतच्छ्रावयति। **ब्रह्म** ब्राह्मणजातिस्तं पुरुषं **परादात्**परादध्यात्पराकुर्यात्। कम्? योऽन्यत्राऽऽत्मन आत्मस्वरूपव्यतिरेकेणाऽऽत्मैव न भवतीयं ब्राह्मणजातिरिति तां यो वेद तं

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दा-ञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दु-भ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥

लोक में जैसे दण्डादि से ताड़ित किये गए नक्कारे के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता, किन्तु नक्कारे या उसके आघात को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ा जाता है; यही आत्मा की सर्वरूपता में दृष्टान्त है॥७॥

परादध्यात्सा ब्राह्मणजातिरनात्मस्वरूपेण मां पश्यतीति। परमात्मा हि सर्वेषामात्मा। **तथा क्षत्त्रं** क्षत्त्रियजातिस्तथा **लोका देवा भूतानि** सर्वमिदं ब्रह्मेति यान्य-नुक्रान्तानि तानि सर्वाण्यात्मैव **यदयमात्मा** योऽयमात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति प्रकृतः। यस्मादात्मनो जायते आत्मन्येव लीयते आत्ममयं च स्थितिकाल आत्म-व्यतिरेकेणाग्रहणादात्मैव सर्वम् ॥६॥

कथं पुनरिदानीमिदं सर्वमात्मैवेति ग्रहीतुं शक्यते। चिन्मात्रानुगमात्सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यते। तत्र दृष्टान्त उच्यते। यत्स्वरूपव्यतिरेकेणाग्रहणं यस्य तस्य तदात्मत्वमेव लोके दृष्टम्। **स यथा** स इति दृष्टान्तो लोके यथा **दुन्दुभे-**र्भेर्यादे**र्हन्यमानस्य** ताड्यमानस्य दण्डादिना **न बाह्याञ्छब्दान्**बहिर्भूताञ्छब्द-विशेषान्दुन्दुभिशब्दसामान्यान्निष्कृष्टान्दुन्दुभिशब्दविशेषान्न **शक्नुयाद्ग्रहणाय** **ग्रहीतुम्। दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन** दुन्दुभिशब्दसामान्यविशेषत्वेन दुन्दुभिशब्दा एत इति शब्दविशेषा गृहीता भवन्ति। दुन्दुभिशब्दसामान्यव्यतिरेकेणाभावात्तेषाम्। **दुन्दुभ्याघातस्य वा** दुन्दुभेराहननमाघातो दुन्दुभ्याघातविशिष्टस्य शब्दसामान्यस्य ग्रहणेन तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति। न तु ते एव निर्भिद्य ग्रहीतुं शक्यन्ते विशेषरूपेणाभावात्तेषाम्। तथा प्रज्ञानव्यतिरेकेण स्वप्नजागरितयोर्न कश्चिद्वस्तुविशेषो गृह्यते। तस्मात्प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावो युक्तस्तेषाम् ॥७॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

दूसरा दृष्टान्त यह है — जैसे फूँके गये शङ्ख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु शङ्ख को अथवा शङ्ख के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द स्वयं गृहीत हो जाता है॥८॥

इसमें तीसरा दृष्टान्त वह है — जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को पकड़ने में कोई समर्थ नहीं होता है, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर को पकड़ने से वह स्वयं पकड़ा जाता है॥९॥

तथा **स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य** शब्देन संयोज्यमानस्याऽऽपूर्यमाणस्य **न बाह्याञ्छब्दाञ्शक्नुयादि**त्येवमादि पूर्ववत्॥८॥

तथा **वीणायै वाद्यमानायै** वीणाया वाद्यमानायाः। अनेकदृष्टान्तोपादानमिह सामान्यबहुत्वख्यापनार्थम्। अनेके हि विलक्षणाश्चेतनाचेतनरूपाः सामान्यविशेषाः। तेषां पारम्पर्यगत्या यथैकस्मिन्महासामान्येऽन्तर्भावः प्रज्ञानघने, कथं नाम प्रदर्शयितव्य इति, दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दसामान्यविशेषाणां यथा शब्दत्वेऽन्तर्भावः। एवं स्थितिकाले तावत्सामान्यविशेषाव्यतिरेकाद्ब्रह्मैकत्वं शक्यमवगन्तुम्॥९॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि ॥१०॥

इसमें चौथा दृष्टान्त वह है — जैसे गीली लकड़ी के द्वारा आधान किये गये अग्नि से नाना प्रकार का धुंआँ निकलता है; हे मैत्रेयी! ऐसे ही ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद (ये चार प्रकार के मन्त्रसमुदाय) उर्वशी-पुरूरवासंवादादि इतिहास-पुराण, देवजनविद्या, उपनिषत्, श्लोक (ब्राह्मणभाग के मन्त्र) सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं। वे सभी इस महद्भूत परमात्मा के निःश्वास हैं, अर्थात् श्वास-निःश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही उस विज्ञानघन से सभी उत्पन्न हुए हैं ॥१०॥

एवमुत्पत्तिकाले प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवेति शक्यमवगन्तुम्। यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्ग-धूमाङ्गारार्चिषां प्राग्विभागादग्निरेवेति भवत्यग्न्येकत्वमेवं जगन्नामरूपविकृतं प्रागुत्पत्तेः प्रज्ञानघन एवेति युक्तं ग्रहीतुमित्येतदुच्यते। **स यथाऽऽर्द्रैधाग्ने**रार्द्रैरेधोभिरिद्धोऽग्निरार्द्रैधाग्निस्तस्माद**भ्याहितात्पृथग्धूमाः** पृथग्नानाप्रकारं धूमग्रहणं विस्फुलिङ्गादिप्रदर्शनार्थं धूमविस्फुलिङ्गादयो **विनिश्चरन्ति** विनिर्गच्छन्ति। **एवं** यथाऽयं दृष्टान्तः। **अरे** मैत्रेय्य**स्य** परमात्मनः प्रकृतस्य **महतो भूतस्य निःश्वसितमेत**न्निःश्वसितमिव निःश्वसितम्। यथाऽप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासो भवत्येवं वा अरे। किं तन्निःश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते। **यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस**श्चतुर्विधं मन्त्रजातमि**तिहास** इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः- ''उर्वशी हाप्सराः'' इत्यादि ब्राह्मणमेव। **पुराणम्** ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादि। **विद्या** देवजनविद्या वेदः सोऽयमित्याद्या। **उपनिषदः** ''प्रियमित्येदुपासीत'' इत्याद्याः। **श्लोका** ब्राह्मणप्रभवा मन्त्राः ''तदेते श्लोकाः'' इत्यादयः। **सूत्राणि** वस्तु-

स यथा सर्वासामपाᳫं समुद्र एकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं स्पर्शानां त्वगेकायनमेवᳫं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं रसानां जिह्वैकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं रूपाणां चक्षुरेकायनमेवᳫं सर्वेषाᳫं शब्दानाᳫं

आत्मा की सर्वरूपता में दृष्टान्त यह है कि जैसे सम्पूर्ण नदी-सरोवरादि के जलों का समुद्र ही एकमात्र प्राप्तव्यस्थान (अभेदप्राप्ति का स्थल) है, वैसे ही सम्पूर्ण स्पर्शों का

संग्रहवाक्यानि (णि) वेदे यथा ''आत्मेत्येवोपासीत'' इत्यादीनि। **अनुव्याख्यानानि** मन्त्रविवरणानि। **व्याख्यानान्यर्थ**वादाः। अथवा वस्तुसंग्रहवाक्यविवरणान्यनुव्याख्यानानि। यथा चतुर्थाध्याये ''आत्मेत्येवोपासीत'' इत्यस्य यथा वा ''अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवम्'' इत्यस्यायमेवाध्यायशेषः। मन्त्रविवरणाणि व्याख्यानानि। एवमष्टविधं ब्राह्मणम्।

एवं मन्त्रब्राह्मणयोरेव ग्रहणम्। नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्याभिव्यक्तिः पुरुषनिःश्वासवन्न च पुरुषबुद्धिप्रयत्नपूर्वकः। अतः प्रमाणं निरपेक्ष एव स्वार्थे। तस्माद्यत्तेनोक्तं तत्तथैव प्रतिपत्तव्यमात्मनः श्रेयइच्छद्भिर्ज्ञानं वा कर्म वेति। नामप्रकाशवशा हि रूपस्य विक्रियावस्था। नामरूपयोरेव हि परमात्मोपाधिभूतयोर्व्याक्रियमाणयोः सलिलफेनवत्तत्त्वान्यत्वेनानिर्वक्तव्ययोः सर्वावस्थयोः संसारत्वमित्यतो नाम्न एव निःश्वसितत्वमुक्तम्। तद्वचनेनैवेतरस्य निःश्वसितत्वसिद्धेः। अथवा सर्वस्य द्वैतजातस्याविद्याविषयत्वमुक्तं ''ब्रह्म तं परादादिदं सर्वं यदयमात्मा'' इति। तेन वेदस्याप्रामाण्यमाशङ्क्यते। तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदमुक्तं पुरुषनिःश्वासवदप्रयत्नोत्थितत्वात्प्रमाणं वेदो, न यथाऽन्यो ग्रन्थ इति॥१०॥

किंचान्यत्। न केवलं स्थित्युत्पत्तिकालयोरेव प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावाज्जगतो

इतिहास पुराणाभ्याम् वेदार्थं [illegible] उपबृंहयेत्. increase, magnified.

श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायन-मेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुप-स्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥११॥

* "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" (मुण्डक) यहाँ आकाश वायु अमूर्तः एकी विशेषण आत्मा को एवं भूतों को फिर भी भूतों में मिलता नहीं॥

प्रलयस्थान त्वचा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण गन्धों का एकायन दोनों नासिका हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण रसों का एकायन जिह्वा है। ऐसे ही सम्पूर्ण शब्दों का एकायन श्रोत्र है। ऐसे ही सभी संकल्पों का एकायन मन है। ऐसे ही सभी विद्याओं का एकायन हृदय है। ऐसे ही समस्त कर्मों का एकायन हाथ हैं। ऐसे ही समस्त आनन्दों का एकायन उपस्थ है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का एकायन पायु है। ऐसे ही समस्त मार्गों का एकायन पाद है, इसी प्रकार समस्त वेदों का एकायन वाक् है (इस प्रकार विषयों के प्रलय से इन्द्रियों का प्रलय स्वयं ही सिद्ध हो जाता है)॥११॥

जैसा तेरा खोदो फापड़ वैसा मेरी हिंग। जैसा वक्ता वैसा श्रोता.
वक्ता = बच्छाशूरी = डोंगरी जी = मुरारीबापु. वाहन प्रधान.

ब्रह्मत्वं प्रलयकाले च, जलबुद्बुदफेनादीनामिव सलिलव्यतिरेकेणाभावः। एवं प्रज्ञानव्यतिरेकेण तत्कार्याणां नामरूपकर्मणां तस्मिन्नेव लीयमानानामभावः। तस्मादेकमेव ब्रह्म प्रज्ञानघनमेकरसं प्रतिपत्तव्यमित्यत आह **स** इति। प्रलयप्रदर्शनाय दृष्टान्तः। **यथा** येन प्रकारेण **सर्वासां** नदीवापीतडागादिगतानाम**पां समुद्रो**ऽब्धि**रेकायनमेक**गमनमेकप्रलयोऽविभागप्राप्तिरित्यर्थः। यथाऽयं दृष्टान्तः **एवं सर्वेषां स्पर्शानां** मृदुकर्कशकठिनपिच्छिलादीनां वायोरात्मभूतानां **त्वगेकायनं** त्वगिति त्वग्विषयं स्पर्शसामान्यमात्रं तस्मिन्प्रविष्टाः स्पर्शविशेषा आप इव समुद्रं, तद्व्यतिरेकेणाभावभूता भवन्ति। तस्यैव हि ते संस्थानमात्रा आसन्।

तथा तदपि स्पर्शसामान्यमात्रं त्वक्शब्दवाच्यं, मनः संकल्पे मनोविषयसामान्यमात्रे त्वग्विषये इव स्पर्शविशेषाः प्रविष्टं तद्व्यतिरेकेणाभावभूतं भवति। एवं मनोविषयोऽपि बुद्धिविषयसामान्यमात्रे प्रविष्टस्तद्व्यतिरेकेणाभावभूतो भवति। विज्ञानमात्रमेव भूत्वा प्रज्ञानघने परे ब्रह्मण्याप इव समुद्रे प्रलीयते। एवं परम्पराक्रमेण शब्दादौ सह ग्राहकेण करणेन प्रलीने प्रज्ञानघने, उपाध्यभावात्सैन्धवघनवत्प्रज्ञानमेकरसमनन्तमपारं निरन्तरं ब्रह्म व्यवतिष्ठते। तस्मादात्मैवैकमद्वयमिति प्रतिपत्तव्यम्।

तथा **सर्वेषां गन्धानां** पृथिवीविशेषाणां **नासिके** घ्राणविषयसामान्यम्। तथा **सर्वेषां रसानाम**ब्विशेषाणां **जिह्वे**न्द्रियविषयसामान्यम्। तथा **सर्वेषां रूपाणां** तेजोविशेषाणां **चक्षु**श्चक्षुर्विषयसामान्यम्। तथा **शब्दानां** श्रोत्रविषयसामान्यं पूर्ववत्। तथा श्रोत्रादिविषयसामान्यानां मनोविषयसामान्ये संकल्पे। मनोविषयसामान्यस्यापि बुद्धिविषयसामान्ये विज्ञानमात्रे। विज्ञानमात्रं भूत्वा परस्मिन्प्रज्ञानघने प्रलीयते। तथा कर्मेन्द्रियाणां विषया वदनादानगमनविसर्गानन्दविशेषास्तत्तत्क्रियासामान्येष्वेव प्रविष्टा न विभागयोग्या भवन्ति, समुद्र इवाब्विशेषाः। तानि च सामान्यानि प्राणमात्रं, प्राणश्च प्रज्ञानमात्रमेव। ''यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः'' इति कौषीतकिनोऽधीयते।

ननु सर्वत्र विषयस्यैव प्रलयोऽभिहितो न तु करणस्य। तत्र कोऽभिप्राय इति? बाढम्। किंतु विषयसमानजातीयं करणं मन्यते श्रुतिर्न तु जात्यन्तरम्। विषयस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम, यथा रूपविशेषस्यैव संस्थानं प्रदीपः करणं सर्वरूपप्रकाशने, एवं सर्वविषयविशेषाणामेव स्वात्मविशेषप्रकाशकत्वेन संस्थानान्तराणि करणानि, प्रदीपवत्। तस्मान्न करणानां पृथक्प्रलये यत्नः कार्यो, विषयसामान्यात्मकत्वाद्विषयप्रलयेनैव प्रलयः सिद्धो भवति करणानामिति ॥११॥

इति दशमाह्निकम् ॥१०॥

❁❁❁

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

इस विषय में यह दृष्टान्त है, जैसे — जल में डाला हुआ नमक का डला जल में ही विलीन हो जाता है। उसे जल में से पृथक् करने में कोई समर्थ नहीं होता, पर जहाँ-जहाँ से जल ग्रहण किया जाता है; वहाँ-वहाँ वह नमकीन ही प्रतीत होता है। हे मैत्रेयी! वैसे ही यह महद्भूत परमात्मा अनन्त, अपार और विज्ञानघन है। यह इन देहादि उपाधियों के साथ मानो सत्यशब्दवाच्य भूतों से प्रकट होकर उनके नाश के पीछे नष्ट हो जाता है। देह-इन्द्रियभाव से मुक्त होने पर (मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा परिवार है — ऐसी कोई) विशेषसंज्ञा इसकी नहीं रह जाती। हे मैत्रेयी! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिया भार्या मैत्रेयी के प्रति परमार्थदृष्टि का निरूपण किया॥१२॥

तत्रेदं सर्वं यदयमात्मेति प्रतिज्ञातं, तत्र हेतुरभिहित आत्मसामान्यत्वमात्मजत्वमात्मप्रलयत्वं च। तस्मादुत्पत्तिस्थितिप्रलयकालेषु प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात्प्रज्ञानं ब्रह्मैवाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातं, यत्तत्तर्कतः साधितम्। स्वाभाविकोऽयं प्रलय इति पौराणिका वदन्ति। यस्तु बुद्धिपूर्वकः प्रलयो ब्रह्मविदां, ब्रह्मविद्यानिमित्तोऽयमात्यन्तिकः इत्याचक्षते। अविद्यानिरोधद्वारेण यो भवति तदर्थोऽयं विशेषारम्भः —

तत्र दृष्टान्तः उपादीयते **स यथेति। सैन्धवखिल्यः** सिन्धोर्विकारः

सैन्धवः सिन्धुशब्देनोदकमभिधीयते स्यन्दनात्सिन्धुरुदकं तद्विकारस्तत्र भवो वा सैन्धवः, सैन्धवश्चासौ खिल्यश्चेति सैन्धवखिल्यः, खिल एव खिल्यः स्वार्थे यत्प्रत्ययः, **उदके** सिन्धौ स्वयोनौ **प्रास्तः** प्रक्षिप्त **उदकमेव** विलीयमानम**नुविलीयेत।** यत्तद्भौमतेजसः संपर्कात्काठिन्यप्राप्तिः खिल्यस्य स्वयोनिसंपर्कादपगच्छति, तदुदकस्य विलयनं तदनु सैन्धवखिल्यो विलीयते इत्युच्यते। तदेतदाहोदकमेवानुविलीयेतेति। **न ह नैवास्य** खिल्यस्यो**द्ग्रहणायो**द्धृत्य पूर्ववद्ग्रहणाय ग्रहीतुं **नैव** समर्थः कश्चित्**स्यात्**सुनिपुणोऽपि। **इव**शब्दोऽनर्थकः। ग्रहणाय नैव समर्थः, कस्मात्। **यतो यतो** यस्माद्यस्माद्देशात्तदुदक**माददीत** गृहीत्वा स्वादयेल्लवणास्वादमेव तदुदकं न तु खिल्यभावः।

यथाऽयं दृष्टान्त एवं वा अरे मैत्रेयीदं परमात्माख्यं महद्भूतम्। यस्मान्महतो भूतादविद्यया परिच्छिन्ना सती त्वं कार्यकरणोपाधिसंबन्धात्खिल्यभावमापन्नाऽसि, मर्त्या जन्ममरणाशनायापिपासादिसंसारधर्मवत्यसि, नामरूपकार्यात्मिकाऽमुष्यान्वयाऽहमिति स खिल्यभावस्तव कार्यकरणभूतोपाधिसंपर्कभ्रान्तिजनितो महति भूते स्वयोनौ महासमुद्रस्थानीये परमात्मन्यजरेऽमरेऽभये शुद्धे सैन्धवघनवदेकरसे प्रज्ञानघनेऽनन्तेऽपारे निरन्तरेऽविद्याजनितभ्रान्तिभेदवर्जिते प्रवेशितः। तस्मिन्प्रविष्टे स्वयोनिग्रस्ते खिल्यभावेऽविद्याकृते भेदभावे प्रणाशिते इदमेकमद्वैतं महद्भूतं महच्च तद्भूतं च महद्भूतं सर्वमहत्तरत्वादाकाशादिकारणत्वाच्च भूतं त्रिष्वपि कालेषु स्वरूपाव्यभिचारात्सर्वदैव परिनिष्पन्नमिति त्रैकालिको निष्ठाप्रत्ययः।

अथवा भूतशब्दः परमार्थवाची महच्च तत्पारमार्थिकं चेत्यर्थः। लौकिकं तु यद्यपि महद्भवति स्वप्नमायाकृतं हिमवदादिपर्वतोपमं न परमार्थवस्तु। अतो विशिनष्टीदं तु महच्च तद्भूतं चेति। अनन्तं नास्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम्। कदाचिदापेक्षिकं स्यादित्यतो विशिनष्ट्यपारमिति। विज्ञप्तिर्विज्ञानं विज्ञानं च

तद्धनश्चेति विज्ञानघनः। घनशब्दो जात्यन्तरप्रतिषेधार्थः। यथा सुवर्णघनोऽयोघन इति। एवशब्दोऽवधारणार्थः। नान्यज्जात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्यर्थः।

यदीदमेकमद्वैतं परमार्थतः स्वच्छं संसारदुःखासंपृक्तम्। किंनिमित्तोऽयं खिल्यभाव आत्मनो जातो मृतः सुखी दुःख्यहं ममेत्येवमादिलक्षणोऽनेकसंसारधर्मोपद्रुतः इति। उच्यते। **एतेभ्यो भूतेभ्यो** यान्येतानि कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि सलिलफेनबुद्बुदोपमानि स्वच्छस्य परमात्मनः सलिलोपमस्य। येषां विषयपर्यन्तानां प्रज्ञानघने ब्रह्मणि परमार्थविवेकज्ञानेन प्रविलापनमुक्तं नदीसमुद्रवत्। **एतेभ्यो** हेतुभूतेभ्यो **भूतेभ्यः** सत्यशब्दवाच्येभ्यः **समुत्थाय** सैन्धवखिल्यवत्। यथा अद्भ्यः सूर्यचन्द्रादिप्रतिबिम्बो यथा वा स्वच्छस्य स्फटिकस्यालक्तकाद्युपाधिभ्यो रक्तादिभावः, एवं कार्यकरणभूतभूतोपाधिभ्यो विशेषात्मखिल्यभावेन समुत्थाय सम्यगुत्थाय येभ्यो भूतेभ्य उत्थितस्तानि यदा कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि भूतान्यात्मनो विशेषात्मखिल्यहेतुभूतानि शास्त्राचार्योपदेशेन ब्रह्मविद्यया नदीसमुद्रवत्प्रविलापितानि विनश्यन्ति। सलिलफेनबुद्बुदादिवत्तेषु विनश्यत्स्वन्वेवैष विशेषात्मखिल्यभावो विनश्यति। यथोदकालक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो विनश्यति, चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते। तद्वत्प्रज्ञानघनमनन्तमपारं स्वच्छं व्यवतिष्ठते।

न तत्र **प्रेत्य** विशेष**संज्ञाऽस्ति** कार्यकारणसंघातेभ्यो विमुक्तस्येत्येव**मरे** मैत्रेयि! **ब्रवीमि** नास्ति विशेषसंज्ञेत्यहमसावमुष्य पुत्रो ममेदं क्षेत्रं धनं सुखी दुःखीत्येवमादिलक्षणाऽविद्याकृतत्वात्तस्याः, अविद्यायाश्च ब्रह्मविद्यया निरन्वयतो नाशितत्वात्कुतो विशेषसंज्ञासंभवो ब्रह्मविदश्चैतन्यस्वभावावस्थितस्य। शरीरावस्थितस्यापि विशेषसंज्ञा नोपपद्यते, किमुत कार्यकरणविमुक्तस्य सर्वत **इति होवाचो**क्तवान्किल परमार्थदर्शनं मैत्रेय्यै भार्यायै **याज्ञवल्क्यः** ॥१२॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय॥१३॥

उस मैत्रेयी ने कहा कि देहपात के बाद कोई संज्ञा नहीं रहती, ऐसा कहकर आपने मुझे मोह में डाल दिया (संज्ञा के अभाव में भला विज्ञानघन की सत्ता कैसे मानी जा सकती है)। याज्ञवल्क्य ने कहा — हे मैत्रेयी! मैं तुझे मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ, किन्तु अरी प्रिया! यह तो महद्भूत परमात्मा का बोध कराने के लिए पर्याप्त है (अविद्याजन्य उपाधि के कारण उस विज्ञान में खिल्यभाव है, वह खिल्यभाव देहपात के अनन्तर या उपाधियों के अभाव हो जाने पर नहीं रह जाता)॥१३॥

एवं प्रतिबोधिता **सा ह** किलो**वाचो**क्तवती **मैत्रेयी**। **अत्रै**वैतस्मिन्नेवैकस्मिन्वस्तुनि ब्रह्मणि विरुद्धधर्मवत्त्वमाचक्षाणेन भगवता मम मोहः कृतस्तदाह। **अत्रैव मा भगवान्**पूजावान**मूमुहन्**मोहं कृतवान्। कथं तेन विरुद्धधर्मवत्त्वमुक्तमित्युच्यते — पूर्वं विज्ञानघन एवेति प्रतिज्ञाय पुनर्न **प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति**। कथं विज्ञानघन एव, कथं वा न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति। न ह्युष्णः शीतश्चाग्निरेवैको भवति। अतो मूढाऽस्म्यत्र। **स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरे मैत्रेय्यहं मोहं ब्रवीमि** मोहनं वाक्यं न ब्रवीमीत्यर्थः। ननु कथं विरुद्धधर्मत्वमवोचो विज्ञानघनं संज्ञाभावं च। न मयेदमेकस्मिन्धर्मिण्यभिहितम्। त्वयैवेदं विरुद्धधर्मत्वेनैकं वस्तु परिगृहीतं भ्रान्त्या, न तु मयोक्तम्। मया त्विदमुक्तं यस्त्वविद्याप्रत्युपस्थापितः कार्यकरणसंबन्ध्यात्मनः खिल्यभावस्तस्मिन्विद्यया नाशिते, तन्निमित्ता या विशेषसंज्ञा शरीरादिसंबन्धिन्यन्यत्वदर्शनलक्षणा, सा कार्यकरणसंघातोपाधौ प्रविलापिते नश्यति, हेत्वभावादुदकाद्याधारनाशादिव चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्तन्निमित्तश्च प्रकाशादिः। न पुनः परमार्थचन्द्रादित्यस्वरूपानाशवदसंसारिब्रह्मस्वरूपस्य नाशः। तद्विज्ञानघनः इत्युक्तं, स आत्मा सर्वस्य जगतः परमार्थतो भूतनाशान्न विनाशी। विनाशी

* आत्म विद्या अश्विनी देवताओं को. शिर कटवाकर.
दधीचि महादेव = वकारा का शिरः गणेश.

(अविद्यावस्था में द्वैत की प्रतीति)

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्व-मात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्त-त्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं

जिस अविद्या अवस्था में (परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म में) द्वैत सा प्रतीत होता है; वहाँ पर ही अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य को देखता है, अन्य-अन्य को सुनता है, अन्य-अन्य का अभिवादन करता है, अन्य-अन्य का मनन करता है तथा अन्य-अन्य को जानता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सब आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको सूँघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसका अभिवादन करे, किससे किसका

त्वविद्याकृतखिल्यभावो "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति श्रुत्यन्तरात्। अयं तु पारमार्थिकोऽविनाशी वा अरेऽयमात्मा। अतोऽलं पर्याप्तं **वा अर इदं** महद्-भूतमनन्तमपारं यथाव्याख्यातं **विज्ञानाय** विज्ञातुम्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विप-रिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इति हि वक्ष्यति॥१३॥

कथं तर्हि प्रेत्य संज्ञा नास्तीत्युच्यते? शृणु। **यत्र** यस्मिन्नविद्याकल्पिते कार्यकरणसंघातोपाधिजनिते विशेषात्मनि खिल्यभावे हि यस्माद्**द्वैतमिव** परमार्थ-तोऽद्वैते ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिव वस्त्वन्तरमात्मन उपलक्ष्यते। ननु द्वैतेनोपमी-यमानत्वाद्द्वैतस्य पारमार्थिकत्वमिति। न। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति श्रुत्यन्तरात्, "एकमेवाद्वितीयम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" इति च। तत्तत्र यस्माद्द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसौ परमात्मनः खिल्यभूत आत्माऽपरमार्थश्चन्द्रादेरिवोदकचन्द्रादिप्रतिबिम्बः

गोपियों का मन कृष्ण के साथ मथुरा चला गया। अब उद्धव का उपदेश किस मन से सुनें।

विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥ अपूर्णता ③

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये

मैत्रेयीनामचतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

वस्तु तन्त्रः ; प्रमाण तन्त्रः आत्मा इसीलिये द्रष्टव्यः में विधि नहीं किन्तु "अर्हे कृत्यः" सूत्र से अर्हार्थे

मनन करे, किससे किसको जाने? वस्तुतः जिससे इन सभी को जानता है, उसे किससे जाने? हे मैत्रेयी! (भला बतलाओ तो सही) विज्ञाता को किससे जाने॥१४॥

॥इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

इतरो घ्रातेतरेण घ्राणे**नेतरं** घ्रातव्यं **जिघ्रति। इतरःइतर**मिति कारकप्रदर्शनार्थं जिघ्रतीति क्रियाफलयोरभिधानम्। यथा छिनत्तीति यथोद्यम्योद्यम्य निपातनं छेद्यस्य च द्वैधीभाव उभयं छिनत्तीत्येकेनैव शब्देनाभिधीयते क्रियायाः फलत्त्वावसानत्वात्क्रिया-व्यतिरेकेण च तत्फलस्यानुपलम्भात्। इतरो घ्रातेतरेण घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघ्रति तथा। सर्वं पूर्ववत्। इयमविद्यावदवस्था।

यत्र तु ब्रह्मविद्ययाऽविद्या नाशमुपगमिता, तत्राऽऽत्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावः। **यत्र वा अस्य** ब्रह्मविदः **सर्वं** नामरूपाद्यात्मन्येव प्रविलापित**मात्मैव** संवृत्तं यत्रैव**मात्मैवाभूत्तत्त्र केन** करणेन **कं** घ्रातव्यं को **जिघ्रेत्तथा पश्येद्वि**-जानीयात्। सर्वत्र हि कारकसाध्या क्रिया। अतः कारकाभावेऽनुपपत्तिः क्रियायाः। क्रियाभावे च फलाभावः। तस्मादविद्यायामेव सत्यां क्रियाकारकफलव्यवहारो न ब्रह्मविदः। आत्मत्वादेव सर्वस्य नाऽऽत्मव्यतिरेकेण कारकं क्रियाफलं वाऽस्ति। न चानात्मा सन्सर्वमात्मैव भवति कस्यचित्। तस्मादविद्ययैवानात्मत्वं परिकल्पितं, न तु परमार्थत आत्मव्यतिरेकेणास्ति किंचित्। तस्मात्परमार्थात्मैकत्वप्रत्यये क्रिया-कारकफलप्रत्ययानुपपत्तिः। अतो विरोधाद्ब्रह्मविदः क्रियाणां तत्साधनानां चात्य-

न्तमेव निवृत्तिः। केन किमिति क्षेपार्थं वचनं, प्रकारान्तरानुपपत्तिप्रदर्शनार्थम्। केनचिदपि प्रकारेण क्रियाकरणादिकारकानुपपत्तेः। केनचित्कंचित्कश्चित्कथंचिन्न जिघ्रेदेवेत्यर्थः।

यत्राप्यविद्यावस्थायामन्योऽन्यं पश्यति, तत्रापि **येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्** येन विजानाति तस्य करणस्य विज्ञेये विनियुक्तत्वात्। ज्ञातुश्च ज्ञेये एव हि जिज्ञासा नाऽऽत्मनि। न चाग्नेरिवाऽऽत्माऽऽत्मनो विषयो, न चाविषये ज्ञातुर्ज्ञानमुपपद्यते। तस्माद्येनेदं सर्वं विज्ञानाति तं **विज्ञातारं केन** करणेन को वाऽन्यो **विजानीयात्**। यदा तु पुनः परमार्थविवेकिनो ब्रह्मविदो विज्ञातैव केवलोऽद्वयो वर्तते, तं विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयादिति॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य मैत्रेयीनामचतुर्थं ब्राह्मणम्॥४॥

।अथ द्वितीयाध्यायस्य मधुनामपञ्चमं ब्राह्मणम्।

यत्केवलं कर्मनिरपेक्षममृतत्वसाधनं तद्वक्तव्यमिति मैत्रेयीब्राह्मणमारब्धम्। तच्चाऽऽत्मज्ञानं सर्वसंन्यासाङ्गविशिष्टम्। आत्मनि च विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। आत्मा च प्रियः सर्वस्मात्। तस्मादात्मा द्रष्टव्यः स च श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति च दर्शनप्रकारा उक्ताः। तत्र श्रोतव्यः आचार्यागमाभ्याम्। मन्तव्यस्तर्कतः। तत्र च तर्क उक्त आत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्य हेतुवचनमात्मैकसामान्यत्वमात्मैकोद्भवत्वमात्मैकप्रलयत्वं च। तत्रायं हेतुरसिद्ध इत्याशङ्क्यत आत्मैकसामान्योद्भवप्रलयाख्यस्तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमेतद्ब्राह्मणमारभ्यते।

यस्मात्परस्परोपकार्योपकारकभूतं जगत्सर्वं पृथिव्यादि। यच्च लोके परस्परोपकार्योपकारकभूतं, तदेककारणपूर्वकमेकसामान्यात्मकमेकप्रलयं च दृष्टम्। तस्मादिदमपि पृथिव्यादिलक्षणं जगत्परस्परोपकार्योपकारकत्वात्तथाभूतं भवितुमर्हति। एष ह्यर्थोऽस्मिन्ब्राह्मणे प्रकाश्यते। अथवाऽऽत्मैवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञातस्याऽऽत्मोत्पत्ति-

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१॥

यह प्रसिद्ध पृथिवी (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त) समस्त भूतों का मधु है (जैसे अनेक मधुकर मधु के छत्ते को बनाते हैं, ऐसे ही समस्त भूतों ने इसे बनाया है) और ऐसे ही समस्त भूत इस पृथिवी के मधु हैं। इस पृथिवी में जो यह चिन्मात्र प्रकाशमय और अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म शारीर तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया है)। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है (क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होने पर वह तत्त्ववेत्ता सर्वरूप हो जाता है)॥१॥

स्थितिलयत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरागमप्रधानेन मधुब्राह्मणेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य निगमनं क्रियते। तथाहि नैयायिकैरुक्तं हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति। अन्यैर्व्याख्यातम्— आदुन्दुभिदृष्टान्ताच्छ्रोतव्यार्थमागमवचनं प्राङ्मधुब्राह्मणान्मन्तव्यार्थमुपपत्तिप्रदर्शनेन, मधुब्राह्मणेन तु निदिध्यासनविधिरुच्यते इति। सर्वथाऽपि तु यथाऽऽगमेनावधारितं, तर्कतस्तथैव मन्तव्यम्। यथा तर्कतो मतं, तस्य तर्कागमाभ्यां निश्चितस्य तथैव निदिध्यासनं क्रियते इति पृथङ्निदिध्यासनविधिरनर्थक एव। तस्मात्पृथक्प्रकरणविभागोऽनर्थक इत्यस्मदभिप्रायः श्रवणमनननिदिध्यासनानामिति। सर्वथाऽपि त्वध्यायद्वयस्यार्थोऽस्मिन्ब्राह्मणे उपसंह्रियते।

इयं पृथिवी प्रसिद्धा **सर्वेषां भूतानां मधु** सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानां प्राणिनां मधु कार्यं मध्विव मधु। यथैको मध्वपूपोऽनेकैर्मधुकरै

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥२॥

ऐसे ही ये जल समस्त भूतों के मधु हैं और समस्त भूत इन जलों के मधु हैं। इन जलों में जो चिन्मय अमरणधर्मा पुरुष है तथा यह जो अध्यात्म रैतस तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से बतलाया है), यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है॥२॥

निर्वर्तितः, एवमियं पृथिवी सर्वभूतैर्निर्वर्तिता। तथा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यै पृथिव्या अस्या मधु कार्यम्। किं च यश्चायं पुरुषोऽस्यां पृथिव्यां तेजोमयश्चिन्मात्रप्रकाशमयोऽमृतमयोऽमरणधर्मा पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरः शरीरे भवः पूर्ववत्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। स च लिङ्गाभिमानी। स च सर्वेषां भूतानामुपकारकत्वेन मधु। सर्वाणि च भूतान्यस्य मधु। चशब्दसामर्थ्यात्। एवमेतच्चतुष्टयं तावदेकं सर्वभूतकार्यं सर्वाणि च भूतान्यस्य कार्यम्। अतोऽस्यैककारणपूर्वकता। यस्मादेकस्मात्कारणादेतज्जातं तदेवैकं परमार्थतो ब्रह्मेतरत्कार्यं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमित्येष मधुपर्यायाणां सर्वेषामर्थः संक्षेपतः। अयमेव स योऽयं प्रतिज्ञात इदं सर्वं यदयमात्मेति। इदममृतं यन्मैत्रेय्या अमृतत्वसाधनमुक्तमात्मविज्ञानमिदं तदमृतम्। इदं ब्रह्म यद्ब्रह्म ते ब्रवाणि ज्ञपयिष्यामीत्यध्यायादौ प्रकृतं, यद्विषया च विद्या ब्रह्मविद्येत्युच्यत इदं सर्वं यस्माद्ब्रह्मणो विज्ञानात्सर्वं भवति॥१॥

तथाऽऽपः। अध्यात्मं रेतस्यपां विशेषतोऽवस्थानम्॥२॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥४॥

यह अग्नि समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस अग्नि के मधु हैं। इस अग्नि में जो तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय, तेजोमय, अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है॥३॥

इसी प्रकार यह वायु समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस वायु के मधु हैं। इस वायु में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म प्राणरूप तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यही सर्वरूप है॥४॥

तथाऽग्निः। वाच्यग्नेर्विशेषतोऽवस्थानम्॥३॥

तथा वायुः। अध्यात्मं प्राणो भूतानां शरीरारम्भकत्वेनोपकारकान्मधुत्वं

सुतं पततं प्रसवीक्ष्य नारी नोत्थिता: पति सेवात्.
पतिव्रता नारी के जंघे में पति सो रहा है - बालक

* अग्नि में गिरा - किन्तु अग्नि ठंडा हो गया।

अयमादित्यः *सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रोत्रः

परम सति वृन्दा जालन्धर असुराधिप नारी.

यह आदित्य समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस आदित्य के मधु हैं। यह जो इस आदित्य में चिन्मय प्रकाशस्वरूप अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥५॥

तथा ये दिशाएँ समस्त भूतों की मधु हैं और समस्त भूत इन दिशाओं के मधु हैं। यह जो उन दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रौत्र पुरुष प्रातिश्रुत्क (प्रत्येक श्रवण वेला में रहने वाला) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है।

तदन्तर्गतानां तेजोमयादीनां करणत्वेनोपकारान्मधुत्वम्। तथा चोक्तं ''तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः'' इति॥४॥

तथाऽऽदित्यो मधु। चाक्षुषोऽध्यात्मम्॥५॥

तथा दिशो मधु। दिशां यद्यपि श्रोत्रमध्यात्मं रूपं शब्दप्रतिश्रवणवेलायां

प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥७ ॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजस-

जो कि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है ॥६ ॥

यह चन्द्रमा समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस चन्द्रमा के मधु हैं। यह जो इस चन्द्र में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, एवं जो यह अध्यात्म मनसम्बन्धी चिन्मय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से कहा जा चुका है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है ॥७ ॥

यह बिजली समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस बिजली के मधु हैं। यह जो इस बिजली में चिन्मय प्रकाशस्वरूप अविनाशी पुरुष है, एवं जो यह अध्यात्म

तु विशेषतः संनिहितो भवतीत्यध्यात्मं प्रातिश्रुत्कः प्रतिश्रुत्कायां प्रतिश्रवणवेलायां भवः प्रातिश्रुत्कः ॥६ ॥

तथा **चन्द्रः । अध्यात्मं** मानसः ॥७ ॥

स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदम-
मृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥८॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्त-
नयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मि-
न्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाय-
मध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः
पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ
सर्वम्॥९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽका-
शस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे

तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्वरूप है॥८॥

इसी प्रकार यह मेघ समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस मेघ के मधु हैं। यह जो इस मेघ में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, एवं जो यह अध्यात्म शब्द और स्वरसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है॥९॥

इसी प्रकार यह आकाश सभी भूतों का मधु है और इस आकाश के सभी भूत मधु हैं। यह जो इस आकाश में चिन्मात्र प्रकाशमय अमरणधर्मा पुरुष है, एवं जो यह

तथा **विद्युत्** त्वक्तेजसि भवस्तैजसोऽध्यात्मम्॥८॥

तथा **स्तनयित्नुः**। शब्दे भवः **शाब्दोऽ**ध्यात्मं यद्यपि, तथाऽपि स्वरे विशेषतो भवतीति **सौवरोऽ**ध्यात्मम्॥९॥

तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१०॥

पन्थ निरपेक्ष.

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥११॥

अध्यात्म हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस प्रतिज्ञा वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है॥१०॥

यह धर्म समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस धर्म के मधु हैं (परोक्ष होते हुए भी ''अयं धर्मः'' इस प्रकार धर्म को इसलिये कहा गया है क्योंकि उसका कार्य सुखादि प्रत्यक्ष है) इस धर्म में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है। जो कि ''यह आत्मा है'' (इस वाक्य से बतलाया गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥११॥

तथाऽऽकाशः। अध्यात्मं हृद्याकाशः ॥१०॥

आकाशान्ताः पृथिव्यादयो भूतगणा देवतागणाश्च कार्यकरणसंघातात्मान उपकुर्वन्तो मधु भवन्ति प्रति शरीरिणमित्युक्तम्। येन ते प्रयुक्ताः शरीरिभिः संबध्यमाना मधुत्वेनोपकुर्वन्ति तद्वक्तव्यमितीदमारभ्यते—

अयं धर्मोऽयमित्यप्रत्यक्षोऽपि धर्मः कार्येण तत्प्रयुक्तेन प्रत्यक्षेण व्यप-

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥१२॥

यह (अनुष्ठीयमान धर्म सत्यपद वाच्य) सत्य समस्त भूतों का मंधु है और सम्पूर्ण भूत इस सत्य के मधु हैं। (धर्म के समान सत्य आचार भी दो प्रकार का है, वह सामान्यरूप से पृथिव्यादि से सम्बद्ध है और विशेषरूप से देहादि संघात से सम्बन्ध रखता है) यह जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, जो यह अध्यात्म सत्यसम्बन्धी तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस वाक्य से कहा गया है) यह अमर है, यह ब्रह्म है ओर यही सत्य है॥१२॥

दिश्यतेऽयं धर्म इति प्रत्यक्षवत्। धर्मश्च व्याख्यातः श्रुतिस्मृतिलक्षणः क्षत्त्रादीनामपि नियन्ता जगतो वैचित्र्यकृत्पृथिव्यादीनां परिणामहेतुत्वात्प्राणिभिरनुष्ठीयमानरूपश्च। तेन चायं धर्म इति प्रत्यक्षेण व्यपदेशः। सत्यधर्मयोश्चाभेदेन निर्देशः कृतः शास्त्राचारलक्षणयोरिह तु भेदेन व्यपदेश एकत्वे सत्यपि। दृष्टादृष्टभेदरूपेण कार्यारम्भकत्वात्। यस्त्वदृष्टोऽपूर्वाख्यो धर्मः स सामान्यविशेषात्मनाऽदृष्टेन रूपेण कार्यमारभते। सामान्यरूपेण पृथिव्यादीनां प्रयोक्ता भवति, विशेषरूपेण चाध्यात्मं कार्यकरणसंघातस्य। तत्र पृथिव्यादीनां प्रयोक्तरि यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयस्तथाऽध्यात्मं कार्यकरणसंघातकर्तरि, धर्मे भवो धार्मः॥११॥

तथा दृष्टेनानुष्ठीयमानेनाऽऽचाररूपेण सत्याख्यो भवति स एव धर्मः। सोऽपि द्विप्रकार एव सामान्यविशेषात्मरूपेण। सामान्यरूपः पृथिव्यादिसमवेतो विशेषरूपः कार्यकरणसंघातसमवेतः। तत्र पृथिव्यादिसमवेते वर्तमानक्रियारूपे सत्ये तथाऽध्यात्मं कार्यकरणसंघातसमवेते सत्ये भवः **सात्यः**। "सत्येन वायुरावाति" इति श्रुत्यन्तरात्॥१२॥

पृथक् करके बतलाने वाला धर्म.

जाति. इदं मानुषथ्ठं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदथ्ठं सर्वम्॥१३॥

देह. अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजो-

यह मनुष्यादि जाति सभी भूतों का मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यादि जाति के मधु हैं। यह जो मनुष्य जाति में तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है और यह अध्यात्म मनुष्यादि सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस श्रुतिवाक्य से कहा गया है) यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥१३॥

यह देह समस्त भूतों का कार्य होने से मधु है और समस्त भूत इस देह के मधु हैं। यह जो इस देह में तेजोमय अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय

धर्मसत्याभ्यां प्रयुक्तोऽयं कार्यकरणसंघातविशेषः। स येन जातिविशेषेण संयुक्तो भवति, स जातिविशेषो मानुषादिः। तत्र मानुषादिजातिविशिष्टा एव सर्वे प्राणिनिकायाः परस्परोपकार्योपकारकभावेन वर्तमाना दृश्यन्ते। अतो मानुषादिजातिरपि **सर्वेषां भूतानां मधु**। तत्र मानुषादिजातिरपि बाह्याऽऽध्यात्मिकी चेत्युभयथा निर्देशभाग्भवति॥१३॥

यस्तु कार्यकरणसंघातो मानुषादिजातिविशिष्टः, सोऽयमात्मा **सर्वेषां भूतानां मधु**। नन्वयं शारीरशब्देन निर्दिष्टः पृथिवीपर्याय एव। न। पार्थिवांशस्यैव

मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेद-
ममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥१४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः
सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च
रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्ना-
त्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः
सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः॥१५॥

पुरुष है; यही वह है। जो कि "यह आत्मा है" (इस प्रतिज्ञावाक्य से कहा गया है) यह अविनाशी है, यह ब्रह्म है और यही सर्वरूप है॥१४॥

वह यह विज्ञानमय आत्मा सम्पूर्ण भूतों का अधिपति एवं सम्पूर्ण भूतों का राजा है। इसमें दृष्टान्त यह है— जैसे रथ की नाभि और रथ की नेमि में सभी अरे लगे रहते हैं, ऐसे ही इस सर्वात्मा में सभी भूत, सभी देव, सभी लोक, सभी प्राण और ये अविद्याकल्पित सभी जीवात्मा समर्पित हैं॥१५॥

तत्र ग्रहणात्। इह तु सर्वात्मा प्रत्यस्तमिताध्यात्माधिभूतादिसर्वविशेषः सर्वभूतदेवतागणविशिष्टः कार्यकरणसंघातः सोऽयमात्मेत्युच्यते। तस्मिन्नस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽमूर्तरसः सर्वात्मको निर्दिश्यते। एकदेशेन तु पृथिव्यादिषु निर्दिष्टोऽत्राध्यात्मविशेषाभावात्स न निर्दिश्यते। यस्तु परिशिष्टो विज्ञानमयो यदर्थोऽयं देहलिङ्गसंघात आत्मा, स **यश्चायमात्मे**त्युच्यते॥१४॥

यस्मिन्नात्मनि परिशिष्टो विज्ञानमयोऽन्त्ये पर्याये प्रवेशितः, सोऽयमात्मा। तस्मिन्नविद्याकृतकार्यकरणसंघातोपाधिविशिष्टे ब्रह्मविद्यया परमार्थात्मनि प्रवेशिते स एवमुक्तोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनभूतः **स वै स एवायमात्मा**ऽव्यवहितपूर्वपर्याये तेजोमय इत्यादिना निर्दिष्टो विज्ञानात्मा विद्वान् सर्वेषां भूतानामयमात्मा

सर्वैरुपास्यः **सर्वेषां भूतानामधिपतिः** सर्वभूतानां स्वतन्त्रो न कुमारामात्यवत्किं तर्हि **सर्वेषां भूतानां राजा**। राजत्वविशेषणमधिपतिरिति, भवति कश्चिद्राजोचितवृत्तिमाश्रित्य राजा न त्वधिपतिरतो विशिनष्ट्यधिपतिरिति। एवं सर्वभूतात्मा विद्वान्ब्रह्मविन्मुक्तो भवति। यदुक्तं "ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवत्" इतीदं तद्व्याख्यातम्। एवमात्मानमेव सर्वात्मत्वेनाऽऽचार्यागमाभ्यां श्रुत्वा, मत्वा तर्कतो, विज्ञाय साक्षादेवं, यथा मधुब्राह्मणे दर्शितं, तथा। तस्माद्ब्रह्मविज्ञानादेवंलक्षणात्पूर्वमपि ब्रह्मैव सदविद्ययाऽब्रह्माऽऽसीत्सर्वमेव च सदसर्वमासीत्तां त्वविद्यामस्माद्विज्ञानात्तिरस्कृत्य ब्रह्मविद्ब्रह्मैव सन्ब्रह्माभवत्सर्वः सन् सर्वमभवत्।

परिसमाप्तः शास्त्रार्थो यदर्थः प्रस्तुतः। तस्मिन्नेतस्मिन्सर्वात्मभूते ब्रह्मविदि सर्वात्मनि सर्वं जगत्समर्पितमित्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते— **तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता** इति प्रसिद्धोऽर्थः। **एवमेवास्मिन्नात्मनि** परमात्मभूते ब्रह्मविदि **सर्वाणि भूतानि** ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि **सर्वे देवा** अग्न्यादयः **सर्वे लोका** भूरादयः **सर्वे प्राणा** वागादयः **सर्वे एत आत्मानो** जलचन्द्रवत्प्रतिशरीरानुप्रवेशिनोऽविद्याकल्पिताः। सर्वं जगदस्मिन्समर्पितम्। यदुक्तं ब्रह्मविद्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। स एष सर्वात्मभावो व्याख्यातः। स एष विद्वान्ब्रह्मवित्सर्वोपाधिः सर्वात्मा सर्वो भवति। निरुपाधिर्निरुपाख्योऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयोऽचलो नेति नेत्यस्थूलोऽनणुरित्येवंविशेषणो भवति।

तमेतमर्थमजानन्तस्तार्किकाः केचित्पण्डितंमन्याश्चाऽऽगमविदः शास्त्रार्थं विरुद्धं मन्यमाना विकल्पयन्तो मोहमगाधमुपयान्ति। तमेतमर्थमेतौ मन्त्रावनुवदतः— "अनेजदेकं मनसो जवीयः" "तदेजति तन्नैजति" इति। तथा च तैत्तिरीयके— "यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्"। "एतत्साम गायन्नास्ते"। "अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्" इत्यादि। तथा च च्छान्दोग्ये "जक्षत्क्रीडन्रममाणः"। "स यदि पितृलोक-

कामः"। "सर्वगन्धः सर्वरसः" "सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि। आथर्वणे च "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च"। कठवल्लीष्वपि "अणोरणीयान्महतो महीयान्" "कस्तं मदामदं देवम्" "तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्" इति च। तथा गीतासु "अहं क्रतुरहं यज्ञः" "पिताऽहमस्य जगतः" "नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्" "समं सर्वेषु भूतेषु" "अविभक्तं विभक्तेषु" "ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च" इत्येवमाद्यागमार्थं विरुद्धमिव प्रतिभान्तं मन्यमानाः स्वचित्तसामर्थ्यादर्थनिर्णयाय विकल्पयन्तोऽस्त्यात्मा नास्त्यात्मा कर्ताऽकर्ता मुक्तो बद्धः क्षणिको विज्ञानमात्रं शून्यं चेत्येवं विकल्पयन्तो न पारमधिगच्छन्त्यविद्याया, विरुद्धधर्मदर्शित्वात्सर्वत्र। तस्मात्तत्र य एव श्रुत्याचार्य-दर्शितमार्गानुसारिणस्ते एवाविद्यायाः पारमधिगच्छन्ति। त एव चास्मान्मोह-समुद्रादगाधादुत्तरिष्यन्ति, नेतरे स्वबुद्धिकौशलानुसारिणः ॥१५॥

परिसमाप्ता ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनभूता। यां मैत्रेयी पृष्टवती भर्तारं "यदेव भगवानमृतत्वसाधनं वेद तदेव मे ब्रूहि" इति। एतस्या ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थेयमाख्या-यिकाऽऽनीता। तस्या आख्यायिकायाः संक्षेपतोऽर्थप्रकाशनार्थावेतौ मन्त्रौ भवतः। एवं हि मन्त्रब्राह्मणाभ्यां स्तुतत्वादमृतत्वसर्वप्राप्तिसाधनत्वं ब्रह्मविद्यायाः प्रकटीकृतं राजमार्गमुपनीतं भवति। यथाऽऽदित्य उद्यञ्शार्वरं तमोऽपनयतीति तद्वत्। अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या येन्द्रराजरक्षिता, सा दुष्प्रापा देवैरपि। यस्मादश्विभ्यामपि देव-भिषग्भ्यामिन्द्ररक्षिता विद्या महताऽऽयासेन प्राप्ता। ब्राह्मणस्य शिरश्छित्त्वाऽश्व्यं शिरः प्रतिसंधाय तस्मिन्निन्द्रेण च्छिन्ने पुनः स्वशिर एव प्रतिसंधाय तेन ब्राह्मणस्य स्वशिरसैवोक्ताऽशेषा ब्रह्मविद्या श्रुता। तस्मात्ततः परतरं किंचित्पुरुषार्थसाधनं न भूतं न भावि वा, कुत एव वर्तमानमिति नातः परा स्तुतिरस्ति।

अपि चैवं स्तूयते ब्रह्मविद्या। सर्वपुरुषार्थानां कर्म हि साधनमिति लोके प्रसिद्धम्। तच्च कर्म वित्तसाध्यं तेनाऽऽशाऽपि नास्त्यमृतत्वस्य। तदिदममृतत्वं केवलयाऽऽत्मविद्यया कर्मनिरपेक्षया प्राप्यते। यस्मात्कर्मप्रकरणे वक्तुं प्राप्ताऽपि

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। तद्वां नरा सनये दंसः उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति॥१६॥

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनीकुमारों को बतलाया था। इसी मधु को देखते हुए मन्त्र ने कहा था— मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, नराकृति अश्विनीकुमारो! वैसे ही ब्रह्मविद्या की प्राप्तिरूप लाभ के लिये किये हुए तुम दोनों का यह उग्रदंस कर्म मैं प्रकट कर देता हूँ। जिस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने तुम अश्विनीकुमारों के प्रति घोड़े के शिर से प्रतिपादन किया था (मेघगर्जन के समान मन्त्र ने अश्विनीकुमारों के इस दुर्धर्ष कर्म की घोषणा कर दी है, जो वैदिक इतिहास में प्रसिद्ध है)॥१६॥

सती प्रवर्ग्यप्रकरणे कर्मप्रकरणादुत्तीर्य कर्मणा विरुद्धत्वात्केवलसंन्याससहिताऽभिहिताऽमृतत्वसाधनाय। तस्मान्नातः परं पुरुषार्थसाधनमस्ति। अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या। सर्वो हि लोको द्वन्द्वारामः। "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते" इति श्रुतेः। याज्ञवल्क्यो लोकसाधारणोऽपि सन्नात्मज्ञानबलाद्भार्यापुत्रवित्तादिसंसाररतिं परित्यज्य प्रज्ञानतृप्त आत्मरतिर्बभूव। अपि चैवं स्तुता ब्रह्मविद्या। यस्माद्याज्ञवल्क्येन संसारमार्गाद्व्युत्तिष्ठताऽपि प्रियायै भार्यायै प्रीत्यर्थमेवाभिहिता। "प्रियं भाषस एह्यास्स्व" इति लिङ्गात्।

तत्रेयं स्तुत्यर्थाऽऽख्यायिकेत्यवोचाम। का पुनः साऽऽख्यायिकेति। उच्यते— **इदमि**त्यनन्तरनिर्दिष्टं व्यपदिशति, बुद्धौ संनिहितत्वात्। **वै**शब्दः स्मारणार्थः। **तदि**त्याख्यायिकानिर्वृत्तं प्रकरणान्तराभिहितं परोक्षं वैशब्देन स्मारयन्निह व्यपदिशति। यत्तत्प्रवर्ग्यप्रकरणे सूचितं नाऽऽविष्कृतं मधु तदिदं मध्विहानन्तरं निर्दिष्टमियं

पृथिवीत्यादिना। कथं तत्र प्रकरणान्तरे सूचितं **दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु** नाम ब्राह्मणमुवाच।

तदेनयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति। स होवाचेन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येतच्चेदन्यस्या अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति। तस्माद्वै बिभेमि यद्वै मे स शिरो न च्छिन्द्यात्तद्वामुपनेष्य इति। तौ होचतुरावां त्वा तस्मात्त्रास्यावहे इति। कथं मा त्रास्येथे इति। यदा नावुपनेष्यसे। अथ ते शिरश्छित्त्वाऽन्यत्राऽऽहृत्योपनिधास्यावः। अथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावः। तेन नावनुवक्ष्यसि। स यदा नावनुवक्ष्यसि। अथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यति। अथ ते स्वं शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति। तथेति तौ होपनिन्ये। तौ यदोपनिन्ये। अथास्य शिरश्छित्त्वाऽन्यत्रोपनिदधतुः। अथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः। तेन हाऽऽभ्यामनूवाच। स यदाऽऽभ्यामनूवाचाथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेद। अथास्य स्वं शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुरिति। यावत्तु प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं मधु तावदेव तत्राभिहितं, न तु कक्ष्यमात्मज्ञानाख्यम्। तत्र याऽऽख्यायिकाऽभिहिता सेह स्तुत्यर्था प्रदर्शिता। इदं **वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽ**नेन प्रपञ्चेना**श्विभ्यामुवाच**।

तदेतदृषिस्तदेतत्कर्म ऋषिर्मन्त्रस्तद्द्रष्टा वा **पश्यन्नु**पलभमानोऽवोचदुक्तवान्। कथम्? **तद्दंस** इति व्यवहितेन संबन्धः। **दंस** इति कर्मणो नामधेयम्। तच्च **दंसः** किंविशिष्टम्? **उग्रं** क्रूरम्। वां युवयोः। हे **नरा** नराकारावश्विनौ। तच्च कर्म किंनिमित्तम्? **सनये** लाभाय। लाभलुब्धो हि लोकेऽपि क्रूरं कर्माऽऽचरति, तथैवैतावुपलभ्येते यथा लोके। तदाविः प्रकाशं कृणोमि करोमि यद्रहसि भवद्भ्यां कृतम्। किमिवेत्युच्यते। **तन्यतुः** पर्जन्यो नेव। नकारस्तूपरिष्टादुपचार उपमार्थीयो वेदे, न प्रतिषेधार्थः। यथाऽश्वं न। अश्वमिवेति यद्वत्। **तन्यतुरिव वृष्टिं** यथा पर्जन्यो वृष्टिं प्रकाशयति स्तनयित्न्वादिशब्दैस्तद्वदहं युवयोः क्रूरं कर्माऽऽविष्कृणोमीति संबन्धः। नन्वश्विनोः स्तुत्यर्थौ कथमिमौ मन्त्रौ स्यातां, निन्दावचनौ हीमौ। नैष दोषः। स्तुतिरेवैषा न निन्दावचनौ। यस्मादीदृशमप्यतिक्रूरं कर्म

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति॥१७॥

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनीकुमारों से कहा था। इसे देखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा— हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों ने दध्यङ्ङाथर्वण के लिए अश्व का शिर लाया और उस ऋषि ने सत्य का पालन करते हुए तुम्हें सूर्यसंबन्धी मधु का विज्ञान कराया एवं हे शत्रु-हिंसक! जो आत्मज्ञानसंबन्धी गोपनीय मधुविज्ञान था (वह भी तुम्हें ऋषि ने बतला दिया था)॥१७॥

कुर्वतोर्युवयोर्न लोम च हीयते इति। न चान्यत्किंचिद्धीयते एवेति स्तुतावेतौ भवतः। निन्दां प्रशंसां हि लौकिकाः स्मरन्ति। तथा प्रशंसारूपा च निन्दा लोके प्रसिद्धा। **दध्यङ्**नामाऽऽथर्वणः। **ह**ेत्यनर्थको निपातः। **यन्मधु** कक्ष्यमात्मज्ञानलक्षण**माथर्वणो वां** युवाभ्या**मश्वस्य शीर्ष्णा** शिरसा **प्र यदीमुवाच** यत्प्रोवाच मधु। **ईं**मित्यनर्थको निपातः॥१६॥

इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववन्मन्त्रान्तरप्रदर्शनार्थम्। तथाऽन्यो मन्त्रस्तामेवाऽऽख्यायिकामनुसरति स्म। **आथर्वणो** दध्यङ्नामाऽऽ**थर्वणो**ऽन्यो विद्यत इत्यतो विशिनष्टि दध्यङ्नामाऽऽथर्वणस्तस्मै **दधीच आथर्वणाय** हेऽ**श्विनावि**ति मन्त्रदृशो वचनम्। अश्वमश्वस्य स्वभूतं शिरो ब्राह्मणस्य शिरसि च्छिन्नेऽश्वस्य शिरश्छित्त्वेदृशमतिक्रूरं कर्म कृत्वाऽ**श्व्यं शिरो** ब्राह्मणं **प्रत्यैरयतं** गमितवन्तौ युवाम्। **स** चाऽऽथर्वणो **वां** युवाभ्यां **तन्मधु प्रवोच**द्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं वक्ष्यामीति। स किमर्थमेवं जीवितसंदेहमारुह्य प्रोवोचदित्युच्यते। **ऋतायन्**यत्पूर्वं प्रति-

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्॥१८॥

उस इस मधुविज्ञान को दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारों से कहा था। इसे देखते हुए ऋषि से कहा है— परमात्मा ने दो पैरों वाले और चार पैरों वाले शरीर बनाये। पहले वह पुरुष पक्षी (लिङ्गशरीर) होकर स्थूल शरीरों में प्रविष्ट हो गया। इसलिये वह यह परमेश्वर सभी शरीरों में निवास करने के कारण पुरुष कहलाता है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उस पुरुष से आच्छादित न हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है जिसमें परमेश्वर का प्रवेश न हुआ हो, इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता स्पष्ट हो जाती है॥१८॥

ज्ञातं सत्यं तत्परिपालयितुमिच्छन्। जीवितादपि हि सत्यधर्मपरिपालना गुरुतरेत्येतस्य लिङ्गमेतत्। किं तन्मधु प्रावोचदित्युच्यते। **त्वाष्ट्रं** त्वष्टाऽऽदित्यस्तस्य संबन्धि-यज्ञस्य शिरश्छिन्नं त्वष्टाऽभवत्तत्प्रतिसंधानार्थं प्रवर्ग्यं कर्म। तत्र प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूतं यद्विज्ञानं तत्त्वाष्ट्रं मधु, यज्ञस्य शिरश्छेदनप्रतिसंधानादिविषयं दर्शनं तत्त्वाष्ट्रं यन्मधु। हे **दस्रौ** दस्राविति परबलानामुपक्षपयितारौ शत्रूणां वा हिंसितारौ। **अपि** च न केवलं त्वाष्ट्रमेव मधु कर्मसंबन्धि युवाभ्यामवोचदपि च **कक्ष्यं** गोप्यं रहस्यं परमात्मसंबन्धि यद्विज्ञानं मधु मधुब्राह्मणेनोक्तमध्यायद्वयप्रकाशितं तच्च **वां** युवाभ्यां **प्रवोचदित्य**नुवर्तते॥१७॥

इदं वै तन्मध्विति पूर्ववत्। उक्तौ द्वौ मन्त्रौ प्रवर्ग्यसंबन्ध्याख्यायिकोपसंहर्तारौ। द्वयोः प्रवर्ग्यकर्मार्थयोरध्याययोरर्थ आख्यायिकाभूताभ्यां मन्त्राभ्यां

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। रूपꣳ रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश

उस इस मधु को दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारों से कहा। यह देखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा— वह परमात्मा रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया। अपना वह रूप अभिव्यक्त करने के लिए वही परमेश्वर माया से अनेक रूप वाला दीखता है। शरीररूप रथ में इसके

प्रकाशितः। ब्रह्मविद्यार्थयोस्त्वध्याययोरर्थ उत्तराभ्यामृग्भ्यां प्रकाशयितव्य इत्यतः प्रवर्तते। यत्कक्ष्यं च मधूक्तवानाथर्वणो युवाभ्यामित्युक्तम्। किं पुनस्तन्मध्वित्युच्यते। **पुरश्चक्रे** पुरः पुराणि शरीराणि यत इयमव्याकृतव्याकरणप्रक्रिया, स परमेश्वरो नामरूपे अव्याकृते व्याकुर्वाणः प्रथमं भूरादींल्लोकान्सृष्ट्वा **चक्रे** कृतवान्**द्विपदो** द्विपादुपलक्षितानि मनुष्यशरीराणि पक्षिशरीराणि। तथा **पुरः** शरीराणि **चक्रे** **चतुष्पदश्च**तुष्पादुपलक्षितानि पशुशरीराणि। **पुरः** पुरस्तात्स ईश्वरः **पक्षी** लिङ्गशरीरं **भूत्वा पुरः** शरीराणि **पुरुषे आविशदि**त्यस्यार्थमाचष्टे श्रुतिः। **स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु** सर्वशरीरेषु **पुरिशयः** पुरि शेते इति पुरिशयः सन्पुरुष इत्युच्यते। **नैनेना**नेन **किंचन** किंचिदप्य**नावृत**मनाच्छादितम्। तथा **नैनेन किञ्चनासंवृत**मन्तरननुप्रवेशितं बाह्यभूतेनान्तर्भूतेन च नानावृतम्। एवं स एव नामरूपात्मनाऽन्तर्बहिर्भावेन कार्यकरणरूपेण व्यवस्थितः। पुरश्चक्रे इत्यादिमन्त्रः संक्षेपत आत्मैकत्वमाचष्टे इत्यर्थः॥१८॥

इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववत्। **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**। रूपं रूपं प्रति **प्रतिरूपो** रूपान्तरं **बभूवे**त्यर्थः। प्रतिरूपोऽनुरूपो वा

च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मा-पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये मधुनामपञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५॥

इन्द्रियरूप घोड़े सौ और दश हैं। यह परमात्मा ही इन्द्रियरूप अश्व भी यही दश सहस्र, अनेक एवं अनन्त हैं। वह यह ब्रह्म कारणरहित, कार्यरहित, विजातीय द्रव्य संसर्गशून्य और अबाह्य हैं। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला परमात्मा है। बस यही सम्पूर्ण वेदान्तों का उपदेश है ॥१९॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यादृक्संस्थानौ मातापितरौ तत्संस्थानस्तदनुरूप एव पुत्रो जायते। न हि चतुष्पदो द्विपाज्जायते द्विपदो वा चतुष्पात्। स एव हि परमेश्वरो नामरूपे व्याकुर्वाणो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। किमर्थं पुनः प्रतिरूपमागमनं तस्येत्युच्यते। **तदस्याऽऽत्मनो रूपं प्रतिचक्षणाय** प्रतिख्यापनाय। यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदाऽस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत। यदा पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतस्तदाऽस्य रूपं प्रतिख्यायते। **इन्द्रः** परमेश्वरो **मायाभिः** प्रज्ञाभिर्नामरूपकृतमिथ्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः **पुरुरूपो** बहुरूप **ईयते** गम्यते एकरूप एव प्रज्ञानघनः सन्नविद्याप्रज्ञाभिः। कस्मात्पुनः कारणात्? **युक्ता** रथ इव वाजिनः स्वविषयप्रकाशनाय, **हि** यस्मादस्य **हरयो** हरणादिन्द्रियाणि **शता** शतानि **दश** च प्राणिभेदबाहुल्याच्छतानि दश च भवन्ति। तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्यात्तत्प्रकाशनायैव च युक्तानि तानि नाऽऽत्मप्रकाशनाय। "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः" इति हि काठके। तस्मात्तैरेव विषयस्वरूपैरीयते न प्रज्ञानघनैकरसेन स्वरूपेण।

(मधु वंश की सम्प्रदाय परंपरा)

।अथ द्वितीयाध्यायस्य मधुवंशनामषष्ठं ब्राह्मणम्।

अथ वꣳशः।पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥१॥

(४) अध्ययन अध्यापन.
वंश वर्णन से ५ लाभ : (१) विद्यास्तुति (२) ब्रह्मविद्या उत्पत्ति (३) प्रतिदिन पाठ से जाप से अपूर्व.

अब (ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये मधुकाण्ड का) वंश बतलाया जाता है। (यह मन्त्र स्वाध्याय और जप के लिए है) पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से, गौतम ने॥१॥

एवं तर्ह्ययमन्यः परमेश्वरोऽन्ये हरय इत्येवं प्राप्ते उच्यते— **अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च**। प्राणिभेदस्याऽऽनन्त्यात्। किं बहुना तदेतद्ब्रह्म य आत्माऽपूर्वं नास्य कारणं पूर्वं विद्यत इत्यपूर्वम्। नास्यापरं कार्यं विद्यत इत्य**नपरम्**। नास्य जात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्य**नन्तरम्**। तथा बहिरस्य न विद्यते इत्य**बाह्यम्**। किं पुनस्तन्निरन्तरं **ब्रह्मायमात्मा**। कोऽसौ? यः प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता **सर्वानुभूः** सर्वात्मना सर्वमनुभवतीति सर्वानुभूरि**त्येतदनुशासनं** सर्ववेदान्तोपदेशः। एष सर्ववेदान्तानामुपसंहृतोऽर्थः। एतदमृतमभयम्। परिसमाप्तश्च शास्त्रार्थः॥१९॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य मधुनामपञ्चमं ब्राह्मणम्॥५॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यार्थस्य मधुकाण्डस्य **वंशः** स्तुत्यर्थो ब्रह्मविद्यायाः। मन्त्रश्चायं स्वाध्यायार्थो जपार्थश्च। तत्र वंश इव वंशो यथा वेणुर्वंशः पर्वणः पर्वणो

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥२॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाजशाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिगौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽ-

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने गौतम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से, सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने बैजवापायन से, बैजवापायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने॥२॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से त्रैवणि ने औपजंधनि से, औपजंधनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य

हि भिद्यते, तद्वदग्रात्प्रभृत्या मूलप्राप्तेरयं वंशः। अध्यायचतुष्टयस्याऽऽचार्यपरम्पराक्रमो

थर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वश्ंसनान्मृत्युः प्राध्वश्ंसनः प्रध्वश्ंसनात्प्रध्वश्ंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः नातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयाध्याये मधुवंशनामषष्ठं ब्राह्मणम् ॥६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ॥२ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण चतुर्थोऽध्यायः ॥४ ॥

ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्था सौभर से, पन्था सौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्वरूपत्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारो ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्युप्राध्वंसन से, मृत्युप्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनक से, सनक ने विराट् से और विराट ने हिरण्यगर्भ से इस विद्या को प्राप्त किया। ब्रह्मा स्वयंभु है, उस ब्रह्मा को नमस्कार है ॥३॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य रचित बृहदारण्यकोपनिषद्-मधुकाण्ड की ''विद्यानन्दी मिताक्षरा'' टीका पूर्ण हुई।

वंश इत्युच्यते। तत्र प्रथमान्तः शिष्यः पञ्चम्यन्त आचार्यः। **परमेष्ठी** विराट्। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्। ततः परमाचार्यपरम्परा नास्ति। यत्पुनर्ब्रह्म तन्नित्यं स्वयंभु। **तस्मै ब्रह्मणे स्वयंभुवे नमः**॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
मधुवंशनामषष्ठं ब्राह्मणम् ॥६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः ॥२ ॥
मधुकाण्डं समाप्तम्।
इत्येकादशाह्निकम् ॥११ ॥

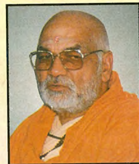
गुरुजन-शताब्दी-त्रिवेणी-सङ्गम-प्रसङ्गे प्रकाशितम्

ऋषिकेशस्थ श्री कैलास आश्रम की दिव्य विभूतियाँ

जगद्गुरु भगवान आद्य शंकराचार्य जी

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



आप का जन्म 29 नवम्बर, सन् 1921 को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। 20 वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

21 जुलाई सन् 1969 को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपनेग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आपने कैलास आश्रम की शताब्दी (1980-81), आचार्यद्वय जन्म शताब्दी (1985-86), आद्यश्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी (1987-88), भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर प्रतिष्ठा शताब्दी (1992-97) आदि महत्वपूर्ण महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाकर गुरुजनों के यश को चार चाँद लगाये। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक हैं। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

आपने शाङ्करी परम्परा को पुष्ट करने का स्तुत्य सफल प्रयास किया है। शाङ्करभाष्य नित्य पारायण के आप प्रणेता हैं और तदनुरूप ग्रन्थों के पारायण संस्करणों को आप प्रकाशित करवा रहे हैं। आपकी इन सभी प्रवृत्तियों को देखकर सन्तों एवं भक्तों ने आपको **शाङ्करी -परम्परा-संपोषकाचार्य** उपाधि से समलंकृत किया है। गुरुजनों के प्रति आपके मन में अगाध श्रद्धा एवं भक्ति है। **गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** महोत्सव के आप ही परिकल्पक एवं संयोजक हैं।